प्रथम संस्करण :

मूल्य : पच्चीस रुपये । 25/-

प्रकाशक :

अनुपम प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर-३

मुद्रक :

पेज नं० १९० तक एज्यूकेशनल प्रेस, बीकानेर

और

पेज नं० १९१ से २९२ तक मधुसूदन प्रिन्टर्स, जयपुर

पूज्य पिता
पंडित हीरानंद केवलिया
की
पावन स्मृति
में

समर्पित

# अपनी ओर से

'पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र' का पठन-पाठन एम. ए. की कक्षाओं में कई वर्षो से हो रहा है, किंतु स्तर के अनुरूप कोई ग्रंथ उपलब्ध न होने के कारण कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। जो ग्रंथ उपलब्ध हैं, वे या तो पाश्चात्य समीक्षकों के काव्य-शास्त्रों के अनुवाद मात्र हैं या फिर अपूर्ण हैं। 'वादों' पर कोई भी स्तरीय पुस्तक ढूँढ पाना कठिन अवश्य है। प्रस्तुत ग्रंथ इस अभाव की पूर्ति का विनम्र प्रयास है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में शास्त्रीयवाद (आभिजात्यवाद), नव्यशास्त्रवाद, स्वच्छंदतावाद, प्रतीकवाद, आदर्शवाद, अभिव्यंजनावाद, यथार्थवाद और अस्तित्ववाद के मूलभूत सिद्धांतों को समझने का प्रयास किया गया है और जहां आवश्यकता प्रतीत हुई है, वहां भारतीय काव्य-सिद्धांतों के साथ तुलनात्मक दृष्टि से भी उन्हें परखा गया है। प्लेटो और अरस्तू के मुख्य सिद्धांतों की चर्चा भी यहाँ कर दी गई है। अन्य पाश्चात्य समीक्षकों के साहित्य-सिद्धांत अन्यत्र रखे जायेंगे।

इस ग्रन्थ को इस रूप में लाने में अनेक बाधाएँ उपस्थित हुईं, किंतु अंत में यह कार्य पूरा हो ही गया। डॉ. नरेन्द्र भानावत व श्री सुरेन्द्र प्रकाश गुप्ता का इसमें पूरा सहयोग मिला। संदर्भ-ग्रन्थ एकत्र करने में डूंगर कॉलेज के हिन्दी विभाग के डॉ० कन्हैयालाल शर्मा, डॉ० बृजमोहन शर्मा डॉ० व्रजनारायण पुरोहित, डॉ० देवीप्रसाद गुप्त व आंग्ल विभाग के प्रो० हरिवल्लभ शर्मा, प्रो० रामदेव आचार्य, प्रो० हरीश मेहता व दर्शन के प्रो० शिवनारायण जोशी प्रभृति सहयोगियों ने सहायता की है। अंग्रेजी साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान प्रो० सत्यविहारी लाल रावत ने समय समय पर अमूल्य सुझाव देकर इस ग्रंथ को सम्पूर्ण बनाया है। प्रथम ग्रन्थ को प्रकाश में लाने के लिए श्री मोहन लाल जैन भी धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रेस कॉपी तैयार करने में मेरे प्रिय शिष्यों अमरसिंह राठोड़ और नखपत सिंह सोढ़ा ने बड़ा परिश्रम किया है। इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

पाश्चात्य साहित्यिक वादों और सिद्धान्तों को समझने में प्रस्तुत पुस्तक ने तनिक भी योगदान दिया तो लेखक अपना श्रम सफल और सार्थक समझेगा।

मदन केवलिया

हिन्दी विभाग,
डूंगर महाविद्यालय,
बीकानेर, (राज०)

# विषयानुक्रमणी

# १ | शास्त्रीयवाद

"......प्राचीन और उत्कृष्ट प्रतिभाओं में से किसी न किसी के साथ हमें प्रतिपल साक्षात्कार करते रहना चाहिए......उनमें से किसी से हम शांति और रम्यता की संवेदना की......आकांक्षा करेंगे जो हमें अपने आप से और समस्त मानवता से समंजन की ओर ले जाती है।"

—सँत ब्यव

"शास्त्रीयवादी कला, वह कला है जिसमें परिष्कृत रुचि, जीवन की व्यापक दृष्टि तथा विवेक और भावना का एवं विषय व रूप-विधान का संतुलन सर्वप्रमुख हो।" —ग्रियर्सन

"शास्त्रीयवादी नेतृत्व का सिद्धांत यह है कि प्रतिष्ठा, पद अथवा परम्परा की हो, न कि मनुष्य की।" —इलियट

* * *

शास्त्रीयवाद को 'परम्परावाद', 'उदात्तवाद' व 'आभिजात्यवाद' के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

'क्लासिक' शब्द का अपना इतिहास है। इस शब्द के मूल में 'काल' (Call) शब्द है, जिसका अर्थ था 'यजमान' (Host)। राजा तुलिलस के समय उसके नागरिक पाँच स्तरों में विभाजित थे। जो सब से धनी थे और जिन्हें बड़े अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित घुड़सवार मिलते थे, उन्हें 'क्लासिकी' कहा जाता था, और सबसे निम्न स्तर के नागरिकों को 'क्लासैम'।

द्वितीय शताब्दी के लैटिन लेखक आउलुस जेलिउस ने अपने ग्रंथ "नोक्तेस एत्तिकी" में तत्कालीन साहित्यकारों के दो वर्ग किये थे—एक तो आभिजात्यवादी लेखक (स्क्रिप्तार क्लासीकुस) और दूसरा लोक या जनवादी लेखक (स्क्रिप्तार प्रोलीतेरिउस)। आभिजात्यवादी लेखक वह माना जाता था, जो 'कुछ गिने चुने सुखी लोगों' तथा सुसंस्कृत व अभिजात समाज के लिए लिखता हो और जनवादी लेखक वह, जो असंस्कृत जन-सामान्य के

लिए लिखता हो।

श्री ल्यूकस[1] का कथन है कि पुनरुत्थान के बाद ग्रीक व रोम के स्तरीय लेखकों की रचनाएं 'क्लास' में पढ़ाई जाती थीं, इसलिए वे 'क्लासिकल' कहलाईं, चाहे वे किसी स्तर की क्यों न हों। मानववादियों ने इस बात को प्रतिष्ठित करते हुए कहा कि केवल यूनान और रोम के प्राचीनतम ग्रंथ ही विशेष रूप से अध्ययन के योग्य हैं, अन्य नहीं। सन् १५९९ की आक्सफोर्ड डिक्शनरी में 'क्लासिकल' का अर्थ 'उच्चस्तरीय' ( Standard ) दिया हुआ है और १६०७ में क्लासिकल लेखक ग्रीक और रोमन लेखकों को ही कहा जाता था। १७वीं शती से 'क्लासिकल' शब्द किसी भी वस्तु के लिए प्रयुक्त होने लगा, जिसका स्तर प्राचीन ग्रीक, लैटिन की शास्त्रीय-परम्परा के अन्तर्गत आता हो।

कालांतर में इस शब्द में और अर्थ-गर्भत्व आया। प्राचीन यूनानी साहित्य में अनेक देवी-देवताओं व उनका मनुष्य के साथ संबंधादि वर्णित हुआ है। साथ ही सौन्दर्यपूर्ण आस्था व विवेकशील आदर्शों ने इस मत को और भी सुदृढ़ बनाया है। अतः क्लासिक रचना वही मानी जाने लगी, जिसमें सौन्दर्य के भावात्मक व उदात्त आदर्शों तथा अनुपात और पूर्णता के शाश्वत आदर्शों की प्रत्यक्ष अनुभूति हो। जर्मन स्वच्छन्दता-वादियों ने इसी बात को स्वीकारते हुए कहा कि यूनानी साहित्य ही मानव-भावनाओं का राष्ट्रीय व *मौलिक अभिव्यंजन है*, पर *लैटिन और वर्तमान शास्त्रीय-काव्य, यूनानी* सांचों का प्रतिकरण मात्र है। वे मानते थे कि पूर्ण मौलिकता के साथ लिखने वाले तो यूनानी लेखक ही थे। इस आधार पर 'क्लासिक' शब्द का अर्थ यह भी हुआ—प्राचीन कवियों के प्रति आदर-भाव व उनकी रचनाओं के अनुकरण पर लिखने की प्रवृत्ति।

वर्तमान की विभीषिका से तंग आकर मनुष्य अतीत की ओर देखता है और उसके गौरव पर गर्व करता है। वर्तमान जीवन की कटुता के मुकाबले में उसे अतीत सुन्दर व सुखद प्रतीत होता है। क्लासिकल रचनाओं के प्रति विशेष मोह व आग्रह के पीछे यही मनोवैज्ञानिक भूमि है। प्राचीन यूनान में जब साहित्य-कला का पतन होने लगा और अच्छे

---

1 The Decline and Fall of the Romantic Ideal—
F. L. Lucas, p. 19

साहित्यकारों का अभाव खलने लगा तो लोगों का ध्यान विगत युग के ग्रंथों की ओर गया। अतः कतिपय मान्यताएं निर्धारित की गईं:—

"साहित्य के सभी रूप उनसे पूर्वकालीन युगों में ही अपना आदर्श रूप प्राप्त कर चुके थे।"

"वर्तमान साहित्यकार को उन्हीं आदर्श कृतियों का अनुकरण करना चाहिए।"

"यह अनुकरण तभी सफल हो सकता है जब इन कृतियों में पालित नियमों तथा शिल्पानुशासन का पालन किया जाय।"[1]

इस प्रकार प्राचीन साहित्य को उच्च, महान व अनुकरणीय मानते हुए शास्त्रीय रचनाओं का महत्त्व प्रतिपादित किया गया। 'क्लासिकल' का अर्थ हुआ अद्वितीय, गंभीरतम व अप्रतिम। जो साहित्य अपनी इन विशेषताओं के कारण अन्य साहित्यों को पछाड़ कर अपनी पृथक श्रेणी—क्लास—बना लेता है, वह क्लासिकल है।[2] इसका प्रयोग कला और साहित्य की कतिपय विशेषताओं जैसे सरलता, नियंत्रण व क्रमबद्धता को अभिव्यक्त करने के लिये होता है। इस प्रकार रोमांटिसिज्म के उत्साह व स्वतंत्रता के विरुद्ध, नियंत्रण व क्रम-बद्धता को प्रश्रय देने वाली रचना को शास्त्रीय-रचना कहते हैं।

इस दृष्टि से शास्त्रीय-रचना में व्यक्तित्व का प्रतिफलन नहीं हो पाता। शास्त्रीय लेखक भाव व माध्यम के सामंजस्य में ही मस्त रहता है, वह रचना में सरलता, सहजता, पूर्णता व गरिमा लाने के लिये ही प्रयास करता है। औचित्य, संयम व अनुशासन की डोर से बंधा हुआ लेखक केवल परम्परागत नियमों के कक्ष में सांस लेता रहता है।

पाश्चात्य व भारतीय विद्वानों ने इस पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है।

गेटे—इनका कला-सिद्धांत वहिर्मुखी है। आत्मपरकता का खण्डन करते हुए गेटे ने वस्तु-परकता का प्रतिपादन किया—जो शास्त्रीयवाद की प्रमुख कसौटी है। आत्मपरकता या वैयक्तिकता को गेटे ने 'युग की

१ मानविकी पारिभाषिक कोश—सं० डा० नगेन्द्र, पृ० ४१
२ रोमांटिक साहित्यशास्त्र—डा० देवराज उपाध्याय, पृ० ८

सामान्य बीमारी' बताया है।

प्राचीनों के प्रति आस्था प्रकट करते हुए गेटे ने कहा—"प्राचीनों की ये अभिजात रचनाएं, प्रकृति की उत्तमतम रचनाएं भी हैं, जो सच्ची और प्राकृतिक विधियों के अनुरूप, मनुष्यों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं।" इन रचनाओं में प्रकृति व कला का सुन्दर सामंजस्य दृष्टिगत होता है। ये दिव्य हैं, ईश्वरीय हैं।

कला, गेटे की दृष्टि में, स्वतः महान् है—वह प्रकृति की भांति, उसका अंग बनकर, प्रस्तुत की जाती है।

शिलर—इन्होंने 'नाईव एंड सैंटिमेंटल पोएट्री' की विशद चर्चा इसी शीर्षक वाले निबंध में की है। दोनों में भारी अंतर है— नाईव (Naive) कविता, प्राकृतिक, वस्तुपरक, प्रकृति का अनुकरण करने वाली, यथार्थवादी, निर्वैयक्तिक होती है, जबकि सैंटिमेंटल कविता भावात्मक, आत्मसजग, व्यक्तिगत व संगीतात्मक होती है। इसका कवि यथार्थ व आदर्श के बीच सेतु का काम करता है।

नाईव कविता होमर जैसे प्राचीनों से संबद्ध होती है, सैंटिमेन्टल आधुनिक होती है और कवि की आत्म-चेतना को उजागर करती है।

शिलर ने शास्त्रीयवाद का पक्ष लेते हुए कहा कि हमें प्रकृति का अनुसरण करना चाहिये, विवेक और स्वतंत्रता के माध्यम से हमारी सभ्यता हमें प्रकृति की ओर लौटा ले चले। प्रकृति जोड़ती है, कला विभाजित करती है और आदर्श के माध्यम से व्यक्ति एकता को प्राप्त होता है। यहां प्रकृति 'नाईव' (शास्त्रीय कविता), कला 'सैंटिमेंटल' (स्वच्छंद कविता) व आदर्श (समन्वयात्मक कविता) का रूप प्रस्तुत करती है।[1] नाईव कविता ही स्वतः पूर्ण होती है—वैसी पूर्णता स्वच्छंद-कविता में नहीं आ सकती। कविता का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन ही 'मानवता को पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करना है।' कवि का काम कष्टों के बीच अपना दुखड़ा रोने का नहीं है—उसे स्वयं से अजनबी हो जाना चाहिये और वैयक्तिकता के तेज से अपनी विषय-वस्तु को निकाल लेना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि निर्वैयक्तिकता, वस्तुपरकता और सामान्य मानव ही शिलर के आदर्श हैं— जो प्रत्येक शास्त्रीयवादी के भी हैं।

---

1 A History of Modern Criticism Vol. I, Rene Wellek p. 23

सैंत व्यव ने 'व्हाट इज ए क्लासिक' ( What is a Classic ) शीर्षक निवंध में शास्त्रीय-साहित्य और उसके स्रष्टा की चर्चा की है।

सैंत व्यव ने शास्त्रीय-साहित्यकार की परिभाषा करते हुए कहा कि "वह प्राचीन लेखक है जो प्रशंसा का पात्र होने के कारण सामान्य श्रेणी में प्रतिष्ठित हो चुका हो और जिसे अपनी विशिष्ट शैली में प्रमाण-स्वरूप स्वीकार किया जाता हो।" पहले क्लासिक (Classic) शव्द का प्रयोग विशिष्ट वर्ग के लोगों के लिये किया जाता था, जिनकी निश्चित आय होती थी। लैटिन वैयाकरण औलुस जेलिउस ने इस शव्द का प्रयोग आलंकारिक अर्थों में उस उत्कृष्ट लेखक के लिये किया; "जिसमें यथार्थ गुण हों, जो यथेष्ट सम्पत्ति का स्वामी हो और जो जन-साधारण के मध्य अपनी विशिष्टता खो न वैठे।"

आधुनिक दृष्टि से शास्त्रीय साहित्यकार प्राचीन लेखक ही थे। रोमन लोगों के लिये यूनानी साहित्यकार शास्त्रीय थे और लैतिनी लोगों के लिये रोमन साहित्यकार शास्त्रीय थे। व्यव का कथन है कि "वर्तमान शताव्दी के आरम्भ में···अभिजात कृति की धारणा ने विचित्र ढंग से सीमित और संकुचित रूप धारण किया।" फ्रैंच अकादमी के पहले शव्द-कोष ( १६९४ ) में 'क्लासिक-लेखक' की परिभाषा दी गई— "एक वहु-प्रशसित प्राचीन लेखक, जो अपने वर्ण्य-विषय पर प्रमाण-स्वरूप हो।" वाद में अर्थ और भी संकुचित कर दिया गया— 'जो किसी भी भाषा में आदर्श वन गए हों।'

सैंत व्यव ने अपने ढंग से शास्त्रीय साहित्यकार की परिभाषा करते हुए कहा— "वह एक ऐसा कृतिकार है जिसने मानव-मन को समृद्ध किया हो···जिसने किसी संदिग्ध, सत्य का नहीं नैतिक सत्य का अन्वेषण किया हो अथवा उस हृदय में··· किसी शाश्वत भावना का दिग्दर्शन कराया हो···यह अभिव्यक्ति किसी भी रूप में हुई हो, पर वह अपने आप में उदार और महान्, परिष्कृत और युक्तियुक्त स्वस्थ और सुन्दर होनी चाहिए जिसने अपनी विशिष्ट शैली में सब को सम्बोधित किया हो"[१] आगे वे यह भी मानते हैं कि अभिजात कृति कुछ समय के लिये 'क्रांतिकारी' भी हो सकती है, पर यह आवश्यक नहीं, किंतु उसमें

---

१ पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा ( डा० सिन्हा ), पृ० १८५

एकरूपता, मनीषा, संयम और विवेक का होना आवश्यक है।

सैंत व्यव की मान्यता है कि क्लासिक गुणों की विशिष्टताएं उसकी अभिव्यक्ति के सामंजस्य और सूक्ष्म भेदोपभेद, सुष्ठु और संयमित शैली पर निर्भर करती है। सैंत व्यव ने अपने निबंध में क्लासिक साहित्यकार बनने के 'नुस्खे' का भारी विरोध किया है—कोई भी व्यक्ति विशुद्धता, संयम, प्रांजलता आदि गुणों का अनुकरण करके 'क्लासिक' नहीं बन सकता— यह कोई बपौती नहीं है। विशुद्ध क्लासिक-कृति का वास्तविक आनंद तब उठाया जा सकता है, जब जीवन के अनेक अनुभवों से परिपूर्ण व्यक्ति उन कृतियों की परख करता है।

प्राचीनों के प्रति आदर-भाव प्रदर्शित करते हुए उन्होंने लिखा— "प्राचीन और उत्कृष्ट प्रतिभाओं में से किसी न किसी के साथ हमें प्रतिपल साक्षात्कार करते रहना चाहिये...उनमें से किसी से हम ऐसी शांति एवं रम्यता की संवेदना की...आकांक्षा करेंगे जो हमें अपने आप से और समस्त मानवता से समंजन की ओर ले जाती है।"

इस प्रकार सैंत व्यव ने प्राचीन साहित्य व साहित्यकारों की प्रशस्ति के साथ क्लासिक साहित्य में 'नैतिक सत्य', 'शाश्वत भावना' व 'विशिष्ट शैली' की आवश्यकता पर बल दिया है।

मैथ्यू आर्नल्ड—इन्होंने भी लगभग यही बातें कही हैं। 'काव्य में विषय चयन' संबंधी बातों पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा—"अब प्राचीन काल के आभिजात्यवादी लेखकों के अध्ययन की बात आती है। कहा गया है कि हमें उन जैसा बनने का प्रयत्न करना चाहिये, उनके अनुकरण का नहीं। मैं इस बात पर कोई आपत्ति नहीं करता, मैं तो बस यही कहता हूं कि हम उनका अध्ययन करें।"

आर्नल्ड के लिये प्राचीनों का बराबर महत्त्व है। इसका कारण भी स्पष्ट है। प्राचीन और नवीन साहित्य में 'संतुलन' का भारी अन्तर है। वे कहते हैं—"संतुलन ही प्राचीन साहित्य का बहुत बड़ा गुण है और अपनी समस्त विविधता एवं शक्ति के बावजूद इसका अभाव ही आधुनिक साहित्य का बहुत बड़ा दोष है। अपनी थोड़ी बहुत सनक और बहक खोये बिना महान् प्राचीनों को सावधानी से पढ़ा ही नहीं जा सकता और उनके जैसा बनने के लिये कम से कम उन्हें पढ़ना अवश्य

पड़ेगा।"होरेस के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं:—

"Be Homer's works your study and delight
Read them by day and meditate by night."

ग्रियर्सन के अनुसार शास्त्रीय-साहित्य एक युग-विशेष की रचना होती है जिसकी कुछ स्पष्ट मनोवृत्तियां और रुचि-विशेष होती है, जिसके आश्रय शास्त्रीय-साहित्य फलता-फूलता है। अनेक बार यह आरोप लगाया जाता है कि शास्त्रीय साहित्य अभिव्यक्ति-पक्ष को ही अधिक महत्त्व देता है, अनुभूतिपक्ष को नहीं। ग्रियर्सन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—"जहां तक हम अनुभव करते हैं, शास्त्रीय साहित्य और कला की यह अनिवार्य विशेषता है कि उसमें सामग्री और रूप में एक संतुलन रहता है, दोनों में ही एक उच्च स्तर की योग्यता या पूर्णता स्थापित की जाती है।" ग्रियर्सन की यह दलील नव शास्त्रवादी साहित्य पर पूर्णरूपेण लागू नहीं होती। वहां रूप-पक्ष ( Form ) पर अधिक ध्यान दिया जाता है— यह बात हम आगे स्पष्ट करेंगे।

ग्रियर्सन का कथन है कि शास्त्रीय साहित्य में तर्क और भावना का संतुलन होता है और स्वच्छंदतावादी साहित्य में तर्क का विरोध होता है— मात्र आकार के प्रति आस्था रखने से कविता शास्त्रीय-वादी नहीं बनती। उन के अनुसार शास्त्रीय-युग, बुद्धि व विवेक ( Good sense ) का युग होता है। इसमें सामाजिक-चेतना द्वारा व्यक्ति का नियंत्रण किया जाता है— उसके प्रत्येक गुणों का संतुलन किया जाता है। जैसा कि ब्रूनेटियर कहते हैं कि एक शास्त्रीयवादी व्यक्ति तभी शास्त्रीय बनता है जब कि उसकी रचनाओं में सभी संकाय अपना अपना कार्य करते हैं—कल्पना, बुद्धि, तर्क, वर्ण्य-विषय, रूप-विधान सभी अपने निश्चित आयामों में काम करते हैं।[1]

ग्रियर्सन लिखते हैं— 'उपलब्धि ही मेरे मतानुसार, जीवित,

---

1 "A classic is a classic, because in his work all the faculties find their legitimate function—without imagination over-stepping reason, without logic impending the flight of imagination…and without the form ever usurping an interest which should belong only to the matter".—The Background of English Literature, H. T. C. Grierson, p. 267

स्वस्थ शास्त्रीय साहित्य व कला की परख है।'[1] वह, आत्म-विश्वासी समाज की भावना को प्रतिबिम्बित करता है, जो कला और साहित्य में अपने आदर्शों और विश्वासों की अभिव्यक्ति के लिये प्रयत्नशील है और कला में रूप-विधान व औचित्य (correctness) की उतनी ही अपेक्षा रखता है, जितनी जीवन के आचार-विचार व अन्य गतिविधियों (gestures) में।

वे आगे लिखते हैं—"वीर काव्य के 'वीर' शब्द की भांति क्लासिकल शब्द का पूरा पूरा अर्थ ऐतिहासिक ही है। शास्त्रीय-साहित्य उस समाज का साहित्य है...एक ऐसी पीढ़ी का, जिसे अपनी उपलब्धि, प्रगति, जीवन के उचित और व्यापक दृष्टिकोण की सिद्धि का बोध हो और भाषा तथा कला-रूपों में अपने मानस की अभिव्यक्ति के समुचित माध्यम को पा लेने की सजगता हो।"

सच्चे शास्त्रीयवादी (सोफोक्लीज, वर्जिल आदि) में विशेषता यह होती है कि वह अपने युग में पांव रोप कर अटल खड़ा रहता है, वह ज्ञान और बुद्धि के अपने युग का जागरूक और गर्वपूर्ण प्रवक्ता होता है। रासीन के नाटक गेटे या आर्नल्ड के नाटकों से अधिक शास्त्रीय इस दृष्टि से हैं क्योंकि वे अपने युग की भावना को पूरी तरह से अभिव्यक्त करते हैं। उनका रूप-विधान भी पुराने का अनुकरण-मात्र न होकर युग के जीवंत कार्य-व्यापारों से उद्भूत होता है। अतः "शास्त्रीयवादी-कला वह कला है जिसमें परिष्कृत-रुचि, जीवन की व्यापक दृष्टि तथा विवेक और भावना का एवं वस्तु और रूप-विधान संतुलन सर्वप्रमुख हो।"

ग्रियर्सन का कथन है कि गेटे व आर्नल्ड के काव्य को शास्त्रीय-वादी इसलिये नहीं कहना चाहिये—कि उनमें ग्रीक रूप-आकार का प्रतिफल न हुआ है अपितु इसलिये कि वे अपने वस्तु तत्त्व के मूल्य तथा रूप-आकार के सौन्दर्य के कारण स्थायित्व का विश्वास पैदा करते हैं।

एबरक्राम्बी, गेटे के स्वर में स्वर मिलाते हुए कहते हैं कि शास्त्रीयवाद कोई तत्त्व नहीं है, अपितु बहुत से तत्त्व हैं जो सामंजस्यपूर्ण

---

1 "Achievement, then, I suggest, is a note of a living, healthy classical literature and art,—*Ibid*, p. 270

अनुपात में मिलते हैं, यही सामंजस्य, यही स्वास्थ्य शास्त्रीयवाद है।'[1] उनके अनुसार शास्त्रीयवाद, तत्त्वों के संघटन की विधि है। निश्चय ही वह कोई पदार्थ या उपकरण नहीं है, अपितु अनेक पदार्थों या उपकरणों को समाहित करने की पद्धति है। मूल पदार्थों के चारु संयोग से ही शास्त्रीय स्वस्थ-शैली का निर्माण होता है।

एवरक्राम्बी कहते हैं कि शास्त्रीयवाद को कला का स्वास्थ्य कहने का आशय यह नहीं कि स्वच्छंदतावाद और यथार्थवाद कला की रुग्णताएं हैं, अपितु इसके विपरीत ये दोनों कला के लिए आवश्यक तत्त्व हैं, जो शास्त्रीयवाद में उपस्थित रहते हैं।

टी० एस० इलियट ने भी 'व्हाट इज ए क्लासिक' निबंध में शास्त्रीय-साहित्य संबंधी अपनी धारणाओं का उल्लेख किया है।

क्लासिक कृति से इलियट का अभिप्राय प्रौढ़ता ( Maturity ) से है। "जब कोई सभ्यता प्रौढ़ हो, जब भाषा और साहित्य प्रौढ़ हो, तभी उसमें अभिजात कृति की रचना हो सकती है और वह प्रौढ़ मस्तिष्क का ही कृतित्त्व हो सकता है।"

'उनका कहना है कि प्रौढ़ साहित्य के पीछे एक इतिहास होता है और यह इतिहास मात्र इतिवृत्त नहीं होता वरन् अपनी परिसीमाओं में अपनी क्षमताओं की सिद्धि के निमित्त एक भाषा की व्यवस्थित, यद्यपि अचेतन प्रगति होती है। व्यक्ति की भांति साहित्य प्रौढ़ता प्राप्त करले—यह आवश्यक नहीं।

इलियट ने तीन प्रकार की प्रौढ़ता स्वीकार की है—मस्तिष्क की प्रौढ़ता ( Maturity of mind ), शील की प्रौढ़ता ( Maturity of manners ) तथा भाषा की प्रौढ़ता ( Maturity of language )। पहली प्रौढ़ता के लिये वे इतिहास और ऐतिहासिक-चेतना को जरूरी समझते हैं। अन्य जातियों व सभ्यताओं का इतिहास भी, अपनी जाति व देश के इतिहास के साथ पढ़ना चाहिये। लैटिन पर यूनानी-सभ्यता के पड़े प्रभाव को हृदयंगम कर ही वर्जिल क्लासिक कवि बन पाया था। शील की प्रौढ़ता से

---

1 'Classicism is not an element at all. but a mode of combining the elements'. 'Classicism is the health of art'
—Abercrombie ( Romanticism )

अभिप्राय है, नये प्रकार के पात्रों का निर्माण—भाषा की प्रौढ़ता तो क्लासिक कवि द्वारा ही संभव है। इलियट के अनुसार वाक्य-रचना की अधिकाधिक जटिलता की ओर प्रगति शास्त्रीय-शैली की ओर पहुंचने के लक्षण हैं।

महान और क्लासिक कवि में अंतर मानते हुए इलियट ने कहा कि महान् व्यक्ति एक विधा को चरम सीमा तक पहुंचा कर उसकी संभावना को समाप्त कर देता है, जब कि एक क्लासिक कवि, विधा को ही नहीं भाषा की संभावना भी समाप्त कर देता है। इसी बात को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि जब भाषा की संभावनाएं निःशेषप्रायः हो जाती हैं, तभी वह शास्त्रीय कवि का आविर्भाव करती हैं।

इलियट का विचार है कि अंग्रेजी में कोई क्लासिक रचना नहीं, क्योंकि उसमें गौरवमयी रचनाओं का अभाव है और अंग्रेजी-साहित्य का अभिजात-युग जाति की समग्र प्रतिभा का प्रतिनिधित्व नहीं करता।

इलियट के अनुसार, पूर्ण शास्त्रीय कृति वह होगी, जिसमें किसी जाति की समग्र प्रतिभा अन्तर्हित अवश्य होगी और वह ऐसी भाषा में ही प्रकट होगी कि उसकी समग्र प्रतिभा एक साथ पुंजीभूत हो। अतः क्लासिक कृति की विशेषताओं में एक और जोड़नी होगी—और वह है व्यापकता। इसके अतिरिक्त इसकी अन्य विशेषताएँ इस प्रकार होंगीः—

(१) उसमें जातीय चरित्र का उत्कृष्ट निदर्शन होगा और उसकी प्रभाव-शक्ति बहुत व्यापक होगी। जिस जाति की वह कृति होगी उसमें तो प्रत्येक वर्ग एवं परिस्थिति के व्यक्ति के मर्म का स्पर्श करने की शक्ति होगी।

(२) उसमें सार्वभौमिकता होगी।

(३) क्लासिक मानदंड के आधार पर प्रत्येक कृति सदोष पायी जा सकती है, इसलिये उस मानदंड का निरंतर उपयोग न करते रहने पर हम प्रान्तीय स्तर की ओर उन्मुख होने लगते हैं। प्रांतीयता से अर्थ है, मूल्यों को विकृत रूप देने से।

(४) योरपीय साहित्य का रक्त-प्रवाह लैटिन और ग्रीक है—कोई भी आधुनिक भाषा लैटिन जैसी सार्वजनीनता पाने की आशा नहीं कर सकती।

हिन्दी आचार्यों ने भी शास्त्रीयवाद को अपने अपने ढंग से पारिभाषित करने का प्रयास किया है। इनमें डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डा० देवराज उपाध्याय प्रभृति विद्वान प्रमुख हैं, किंतु इन सबकी परिभाषाएँ अधिकांशत: ऐसी हैं, जिन्हें थोड़े से हेर-फेर के साथ उपर्युक्त पाश्चात्य विद्वानों के कथनों में देखा जा सकता है।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी[१] स्वीकार करते हैं कि शास्त्रीय साहित्य, युग-विशेष की देन है। "इतिहास की दृष्टि से जब कि समाज नियमों से शासित था, धर्म से नियंत्रित था और राजसत्ता द्वारा जकड़ा हुआ था, नियमों का अनुवर्तन करने वाली क्लासिक शैली का प्राधान्य था।" इससे इस साहित्य की रूढ़िवादिता व अंध-परम्परा की बात स्पष्ट होती है। वाजपेयी जी के अनुसार क्लासिसिज्म वह साहित्यिक-परम्परा है जिसका आरम्भ प्राचीन ग्रीस के कवियों और नाटककारों द्वारा हुआ था। उनके सुन्दर स्वरूप का अनुकरण दो प्रकार से हुआ—उसके वाह्य व आन्तरिक या मूल प्रेरणा का अनुकरण। कुछ समीक्षकों ने ग्रीक कला के वाह्य-स्वरूप को और उसके ऊपरी विवरणों को इतनी प्रधानता दे दी कि उनका अनुकरण अत्यंत कृत्रिम और निर्जीव हो गया। आत्मा की अवहेलना हुई, केवल शरीर की अनुकृति की जाती रही।

डा० देवराज उपाध्याय के शब्दों में "जब हम क्लासिकल शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा मतलब एक ऐसे काव्य से होता है जो अपनी महत्ता, ऊंचाई और गौरव में संसार के अन्य काव्यों को पीछे छोड़ जाता है, जिसकी छाया छू भर सकना भी अन्य काव्य के लिए कठिन हो।"[२]

इस प्रकार वाजपेयीजी व उपाध्यायजी शास्त्रीय साहित्य को महान् गौरवपूर्ण व अप्रतिम समझते हैं।

निष्कर्ष रूप में क्लासिकल की परिभाषा 'ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी' के अनुसार इस प्रकार है:—

(१) प्रथम श्रेणी या अधिकारी की, आदर्श व स्तर के अनुसार रचना,
(२) ग्रीक व लैटिन के महान लेखक,
(३) पुराने ग्रीक व लैटिन साहित्य के अधिकारी विद्वान या उस साहित्य की

---

१ आधुनिक साहित्य, पृ० ४१४–१६
२ रोमांटिक साहित्य-शास्त्र, पृ० ८

शैली के अनुरूप रचनाएं।

इस प्रकार क्लासिसिज्म का अर्थ हुआ—क्लासिकल साहित्य व कला के अनुरूप सिद्धांत व शैली, क्लासिकल ( लैटिन, ग्रीक ) मुहावरे व रूप तथा क्लासिकल स्कॉलरशिप।[1]

इस क्लासिक विचारधारा को स्पष्ट करने में प्लेटो विशेषकर अरस्तू का सर्वप्रमुख हाथ रहा है। अरस्तू ने "यह निष्कर्ष निकाला कि समस्त कलाकृतियों में एकत्व होने का कारण उनका उद्देश्य है···इसी दृष्टिकोण से रचना में वाह्य रूप-सौष्ठव प्रधान हो उठता है और आलोचक उसकी खोजबीन करता है। इसी विचारधारा को क्लासिकल विचारधारा कहते हैं।"[२]

× ×

यह बात आज स्वीकार की जाती है कि अतीत की श्रेष्ठ रचना या यों कहिये कम से कम सौ वर्ष बाद भी जो रचना पढ़ी जाय वह क्लासिकल बन जाती है। इसीलिये बैबिट ने कहा था कि किसी भी श्रेणी का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रत्येक वस्तु ही क्लासिकल है। बैबिट ने क्लास शब्द को दार्शनिक शब्दावली में 'पारमार्थिक' या 'पारलौकिक' से जोड़ते हुए कहा कि संसार भर की घटनाओं को संचालित और शासित करने वाली दैवी-शक्ति का ही नाम क्लास है।[3]

शास्त्रीय काव्य में शैली की समस्या प्रमुख है। अभिव्यंजना का महत्त्व निर्विवाद है, और उसी के आधार पर काव्य की परख होने पर काव्य-विवाद भी समाप्त हो सकते हैं। फलाबर्ट ने कहा भी था कि कामना की छवि या मन के चित्र के साथ यदि किसी अद्वितीय शब्द, वाक्यांश, वाक्य, अनुच्छेदादि का ठीक सामंजस्य बैठ जाय तो सारे झगड़े ही मिट जायें। भारतीय रीतिकार वामन ने इसलिए गुण और अलंकार दोनों को सौन्दर्य का अभिन्न अंग माना था—'सौंदर्यालंकारः'। पर शास्त्रीय दृष्टि से ही शैली का खरा उतरना शास्त्रीयवादियों को मान्य है। वस्तुतः शास्त्रीयवादी लेखक, रचना के रूपाकार, उद्देश्य व सिद्धांत-स्थैर्य पर विशेष बल

---

1. The Oxford English Dictionary Vol. II p. 468

२ हिन्दी साहित्य कोष, पृ० २४६

३ समीक्षाशास्त्र—सीताराम चतुर्वेदी पृ० १२२३

देते हैं। कविता व कला के क्षेत्र में वे प्रत्यय-सौंदर्य को अपनी पूर्णता पर देखना चाहते हैं। अतः वे निश्चित व सीमित सिद्धान्तों की उपलब्धि के लिये संघर्ष करते रहे हैं। वे समझते हैं कि विचारों की पूर्णता के लिये ही निश्चित प्रतिमान व रूप-विधान की आवश्यकता होती है। भाषा भावों के अनुरूप हो और ठीक अनुपात में हो। अतः क्लासिकल रचना में अतिवादी तत्वों के लिए कोई अवकाश नहीं होता। कल्पना की रंगीन उड़ानें, अवांतर घटनाएं व अतिवादी पात्र, इस प्रकार की रचना की परिधि में नहीं आते। कलाकार को औचित्य, संतुलन व समन्वय का बोध बराबर रखना पड़ता है।

बुद्धितत्त्व, क्लासिकल रचना का प्राण है। बौद्धिक सजगता ही, अनुभूति की सामग्री का चुनाव, अनुरूपता व समन्वय का कार्य करती है। इसलिये शास्त्रीयवादी लेखक के लिये कला आंगिक विकास नहीं अपितु व्यवस्थित ढांचा है।[1] सामान्य रूप से क्लासिक शब्द उत्तम का पर्यायवाची समझा गया है। युवकों को जिस साहित्य का अनुगामी बनने को कहा जाय वही क्लासिक है।[2]

अतः शास्त्रीय रचना वह है, जो अपने निश्चित व जीवंत सिद्धांतों के आधार पर, समाज की नैतिक मान्यताओं-को, विशिष्ट शैली में सानुपात प्रस्तुत करे।

## शास्त्रीय-सिद्धांत

उपर्युक्त विवेचन से शास्त्रीयवाद के अनेक तत्त्वों का स्पष्टीकरण हो जाता है। वस्तुतः प्राचीन आचार्यों ने जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया, वे ही कालांतर में शास्त्रीयवाद के प्रमुख सिद्धांत मान लिये गये। इन आचार्यों के सिद्धांतों का विश्लेषण हम आगे कर रहे हैं।

'मीमेसिस'—या अनुकरण-सिद्धांत, शास्त्रीयवाद का प्रमुख सिद्धांत है। इसे ही प्रमुखतया काव्यात्मा के रूप में स्वीकार किया गया है। इस सिद्धांत की चर्चा विस्तृत रूप से अन्यत्र की जा रही है, पर सूत्र रूप में, इस के अर्थ-परिवर्तन को यों समझा जा सकता है:—

---

1. 'To the Classicist, art is not an organic growth, but an organized structure'
   —Principles of Literary Criticism—D. N. Ghosh, p. 292
2. A History of English Romanticism—Henry. A. Beers p. 7

(क) काव्य में जीवन के बाह्य अथवा आन्तरिक या दोनों—किसी रूप का अनुकरण अवश्य होता है।

(ख) कतिपय आचार्य इस अनुकरण को प्रत्यक्ष-अंकन और कतिपय पुनः-सृजन के रूप में स्वीकारते हैं।

(ग) अनुकरण एक प्रकार का शिल्प है, जो काव्य-रचना में सहायक होता है।

(घ) पुराने आचार्यों व उनके आदर्शों का अनुकरण करने से काव्य-सिद्धि प्राप्त होती है। उनकी आत्माएं प्रेरणा-स्रोतों के रूप में सहृदयों को अलौकिक शक्तियां प्रदान करती हैं।

(ङ) अनुकरण ही यथार्थवादी-काव्य को जन्म देता है। नवशास्त्र-वादियों ने इसे इस रूप में ही अपनाया।

'आकृति का सौंदर्य आत्मा का सौंदर्य है', ऐसा प्राचीन ग्रीकों का मत था इसीलिये उन्होंने आत्मिक पवित्रता व सुन्दरता को कलाकृतियों के रूप में ढाला। चरित्रों का संयत रूप, छंदों का क्रम-विधान, आनुपातिकता इत्यादि विशेषताएं इसी कारण से आ पाती हैं। आचार्य वाजपेयी के शब्दों में—'ग्रीक जाति वास्तव में साकार देवताओं की उपासिका थी। ग्रीक अपने देवताओं की उपासना सुन्दरतम मूर्तियों के रूप में करते थे, इसलिये उनकी मूर्तियों का सौंदर्य उपास्य के प्रति उनके हृदय का ही सौंदर्य था। इसीलिए ग्रीक आचार्यों ने आकृति के सौंदर्य को इतनी प्रधानता दी थी।'[1] रूप-आकार के सौंदर्य के बिना काव्य निष्प्रभ ही रहता है। स्कॉट जेम्स शब्दों में—'रूप आकार...ही शास्त्रीयवाद का प्रथम महत्त्वपूर्ण तत्त्व है; साथ ही यह बाह्य प्रतिछाया के सौंदर्य की भित्ति पर स्थिर है, जो कि संतुलन, व्यवस्था, तर्क आदि तत्त्वों से युक्त है।'[2] शास्त्रीय लोगों के लिये कला और साहित्य में प्राचीन, चिरंतन एवं चिर-परिचित रूपों का आकर्षण सर्वोपरि होता है, और पेटर के अनुसार, वे ऐसी किसी सामग्री को स्वीकार नहीं करते, जिसे वे सहज ही आत्मसात न कर सकें।

संतुलन, शास्त्रीयवाद का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। वह एक तत्त्व नहीं

---

१ आधुनिक साहित्य—आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, पृ० ४१६
2. The Making of Literature—Scott James, p. 167

है, अपितु तत्त्वों के संघटन की विधि है। स्टोडर्ड ने इस सम्बन्ध में अपने महत्त्वपूर्ण विचार रखे हैं—"विशुद्ध शास्त्रीय रचना रूप ( अंग संगठन ), आशय ( लक्ष्य परता ) या सम्बन्ध के नियमों का अनुवर्तन करती है··· शास्त्रीय रचना की पृष्ठभूमि में एक स्थिर आदर्श, स्वीकृत अंग-संगठित लक्ष्य, सुचारुता, योग्यता और तारतम्य रहा करता है। इस प्रकार के आदर्श की स्वीकृति, शास्त्रीय एकता या वस्तु संतुलन की सूचना देती है।" एवरक्राम्बी के शब्दों में—"इस चारु संयोग को ही, इस स्वस्थ शैली ( विभिन्न तत्त्वों का आनुपातिक समन्वय ) को ही शास्त्रीयवाद कहते हैं।" ग्रियर्सन ने इस ओर संकेत करते हुए कहा था कि यह संतुलन वस्तु और रूप-आकार का, भावना और विवेक का, आन्तरिक और वाह्य अनुभूति का, भिन्नता और एकता का, दृश्यमान परिवर्तनशील और अदृश्य अपरिवर्तनशील पदार्थों का होता है, जिसकी प्राप्ति प्रत्येक साहित्यकार की शक्ति की बात नहीं है, कोई विरला साधक-कवि ही इस सीमा में प्रवेश पा सकता है।

जिस प्रकार विभिन्न तत्त्वों—न्यूक्लियस व इलेक्ट्रोन के द्वारा एटम की रचना होती है, उसी प्रकार शास्त्रीय-रचना का संगठन भी विभिन्न तत्त्वों में एकता लाने से होता है। आन्द्र मोरे ने मादाम द ला फायत के उपन्यास 'द प्रिसेज ऑफ क्लीव्ह' की आलोचना करते हुए लिखा—"महान् शास्त्रीय-रचना उस झंझावात के समान है, जहां भावनाओं की अराजकता व्यवस्थित की जाती है।'[1]

अतः शास्त्रीयवाद अनेकता में एकता का हामी है। जैसे मनुष्यों की शक्लें अलग अलग होते हुए भी उनमें प्राणतत्त्व एक ही होता है, वैसे ही काव्य-कृतियां अलग अलग होते हुए भी उनमें प्रयोजन की एकता विद्यमान रहती है। शास्त्रीय कवि मानते हैं कि रचना के विविध अग उद्देश्य की पूर्ति हेतु परस्पर सम्बद्ध होने चाहियें। "इस प्रयोजन-प्रवणता के कारण रचना में एक ओर तो सार्थकता और सोद्देश्यता आती है, दूसरी ओर उसके अंगों की निजी विविधताएं समन्वित होकर रचना का शरीर-सौष्ठव, संघटन और अनुरूपता उत्पन्न कर देती है।"[2] अरस्तू स्वयं स्वीकार करते

---

1 'A great classical work is a hurricane, a chaos of sentiments, reduced to order—Andre Maurois.

२ घनानंद और स्वच्छंद काव्य-धारा—डा० मनोहरलाल गौड़, पृ० २१५

थे कि उद्देश्य की एकता ही कलाकृतियों में एकत्व स्थापित करती है। नाटक में संकलनत्रय की स्थिति, इसी दृष्टि से अनिवार्य मानी जाती है। समय, स्थान और कार्य की एकता ही नाटक में अनुपात लाती है।

त्रासदी-सम्बंधी नियम भी इसी अन्विति के लिये ही निर्धारित हुए थे। त्रासदी को किसी गम्भीर, स्वतःपूर्ण व निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति माना गया, जिसमें करुणा व त्रास के उद्रेक द्वारा मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है। आस्वाद की समस्या का समाधान 'विरेचन' में ढूंढा गया। त्रासदी के तत्त्वों में वस्तु, नायक, पद-रचना, विचार-तत्त्व, दृश्य-विधान व गीतों को इसी परम्परा में स्वीकारा गया।

शास्त्रीयवाद, कवि के व्यक्तित्व व उसकी अनुभूति को अधिक महत्त्व नहीं देता। वह उसकी परीक्षा सामाजिक-संदर्भों में ही करता है। सैंत ब्यव ने ऐसे साहित्यकार की परिभाषा ऊपर दी ही है — 'ऐसा कृतिकार जिसने मानव-मन को समृद्ध किया हो, उसके ज्ञान-भंडार में अभिवृद्धि की हो और उसे एक पग अग्रसर किया हो, जिसने कभी संदिग्ध सत्य का नहीं, नैतिक-सत्य का अन्वेषण किया हो।" शास्त्रीय साहित्यकार अपनी रचना का प्रत्येक प्रत्यय स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है, इसका प्रदर्शन, सिडनी कालिवन के शब्दों में 'श्वेत प्रकाश' में होता है। लेखक वस्तुओं के सम्बंध में निश्चित व दृढ़ धारणाएं रखता है। वह विश्व को उस रूप में ग्रहण करता हैं, जिस रूप में पाता है। मैक्नील डिक्सन ने इसीलिये कहा था— "शास्त्रीयवाद, आत्मा की निराशावादी समस्याओं व भावना पर, विवेक की विजय और बौद्धिक कार्यों की प्रस्तुति में आनन्द लेता है।"[1]

शास्त्रीयवादी व्यक्ति इस विश्व के परिचित सौंदर्य व प्रतिष्ठित मानवता को अभिव्यक्ति देता है, वह विचित्र व अनजान स्थानों में न भटक कर निश्चितता के साथ साहित्य की शालीनता को वाणी देता है। अनुशासन में उसका विश्वास है। वह ससीम व्यक्ति में आस्था रखता है, असीम इच्छाओं वाले व्यक्ति की कल्पना नहीं करता। अतः नैतिक सत्य, शाश्वत-भावना व गम्भीरता शास्त्रीय कृतियों के चिरंतन गुण हैं। सार्वभौमिकता उसका प्राण है।

---

1. An Apology for the Arts—W. M. Dixon, p. 105

# शास्त्रीयवाद : सीमाएँ

शास्त्रीयवाद की प्रकृति का वास्तविक ज्ञान उस समय होता है, जबकि इसके सिद्धान्तों पर प्रहार होने लगता है। ऐसा दो बार हो चुका है। १७वीं शती में फ्रांस में नवीन-पुरातन का झगड़ा शुरू हुआ और फिर १९वीं शती के प्रारम्भ में स्वच्छन्दतावादियों ने निर्मम प्रहार किये। नवीन पीढ़ी के कतिपय लोग कहते हैं कि शास्त्रीयवाद 'कुरुचि' का प्रतीक है और गत्यात्मकता का अभाव होने के कारण रूप-आकार में यह पुराना हो गया है। कतिपय कट्टरतावादियों ने 'विजातीय साहित्य' कह कर उसका वहिष्कार भी किया।[1]

वस्तुतः शास्त्रीय आदर्शों को क्रियान्वित करना वड़ा दुष्कर कार्य है। रैले ने 'स्टाइल' ग्रन्थ में इन कठिनाइयों की ओर संकेत भी किया है। 'साहित्य को विश्वव्यापी-सभ्यता का उत्कृष्ट प्रतीक वनाना, विविध युगों को एकसूत्र में बांधना और एक दीप्तिमान संघ के अन्तर्गत युग-युगों के वरिष्ठ जनों को एकत्रित करना, एक अतर्क्य संहिता के प्रति सर्मपित होना, मानवता के विच्छिन्न प्रयत्नों को एक समष्टि में सूत्रबद्ध करना, ताकि विवेक और व्यवस्था की प्रतिष्ठा हो सके'—यह निश्चय ही महत्त्वपूर्ण किन्तु श्रम-साध्य लक्ष्य था, किन्तु शास्त्रीय आचार्यों की कोटि में आने के चक्कर में वे पवित्र उद्देश्य को भुला वैठे। हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन आचार्यों के साथ भी यही हुआ था।

शास्त्रीयवादी वहुत अधिक आदर्शवादी होते हैं, पर उनकी शांति, 'पक्षाघात और मरण की शांति होती है।'

रैले आगे लिखते हैं—"आभिजात्यवादी मत की यह धारणा गलत है कि इस चिर-चंचल संसार में जहां तेज से तेज आंख एक ही चीज को दो वार नहीं देख सकती और जो काम एक वार किया जा चुका है, उसकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती—वहां केवल भाषा में स्थिरता और अपरिवर्तनशीलता हो सकती है। प्रकृति को जो भी इस तरह वंदी वनाते हैं, उनसे वह अपना वदला चुकाती है। उनके सत्य विकृत हो जाते हैं, भावना मर जाती है।...शब्द जियेंगे तभी, जव उनमें परिवर्तन आयेगा और जव शब्द में

---

1 Cassells' Encyclopaedia of Literature, Vol. I. p. 108
—*S. H. Steinberg*

स्थिरता आ जाती है तो वह कला के काम का नहीं रह जाता।"[1]

इस प्रकार स्थिरता की ओर आकृष्ट होने के कारण शास्त्रीयवादी-विचार व धारणाएं समाप्त होने लग जाती हैं।

एटकिन्स के अनुसार इसकी एक सीमा, विचारों की नियमितता, रूप-आकार की रूढ़िवादिता व यांत्रिकता में आस्था में निहित है, चाहे यह कला के आध्यात्मिक पक्ष की ओर कितना ही सजग क्यों न हो। शब्द, आत्मा का गला घोंटने को सदैव प्रस्तुत रहेंगे और ऐसा हुआ भी। स्वयं टिसिटस ने सिसरोवाद का दामन छोड़ते हुए कहा था—'जब परिवर्तन हों, हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि ये बुरे हैं।' पेटरक्लस ने अनुकरण-सिद्धांत की निस्सारता दर्शायी। इस प्रकार शास्त्रीयवाद, साहित्यिक मानदण्डों का उचित मूल्यांकन नहीं कर पाया।[2]

इसके साथ ही शास्त्रीयवाद के सीमित सिद्धांत आज के व्यापक काव्य-सिद्धांतों का संस्पर्श नहीं कर पाते। वे सभी देश-काल की सीमाओं में प्रवेश पा सकने में असमर्थ हैं।

ग्रियर्सन लिखते हैं:—"क्लासिक कला की एक कमजोरी यह है कि वह मूलतः कलात्मक रूप-आकार की आवश्यकताओं की अपेक्षा आचार-मूलक भावना से नियंत्रित हो सकती है।[3] फ्रेंच अकादमी द्वारा अन्वितियों ( Unities ) का आग्रह और 'अशिष्ट व्यक्ति के मुख से निकले दूषित शब्दों का वर्जन' मेरे कथन के उदाहरण हैं, लेकिन क्लासिक युग और कला का गम्भीर दोष रेनां की इस आलोचना में निहित है कि वह चिर-स्थायी नहीं होती।"

शास्त्रीयवाद में संतुलन पर बल दिया जाता है, पर ये संतुलन बड़े नाजुक होते हैं। शास्त्रीय साहित्य का अंत विभिन्न रीतियों से होता है—वह धीरे धीरे सूख जाता है। रूप-आकारों की यांत्रिक पुनरावृत्ति होने

१ पाश्चात्य काव्य-शास्त्र : सिद्धांत और वाद—सं० श्री कोहली, पृ० २०

2 Literary Criticism in Antiquity, Vol. II, Atkins, p. 349

3 "A weakness of Classical art is that its work may be controlled by a spirit of etiquette rather than the requirements of essentially artistic form"—The Background of English Literature,—*Grierson*, p. 270

लगती है और आस्थाएं रूढ़ियों में परिणत होती है, जैसा कि ग्रीक-साहित्य में हुआ।

ग्रियर्सन के शब्दों में, 'शास्त्रीयवादी संश्लेषण का विघटन हो सकता है—बुद्धि और भावना का, रूप-विधान और वस्तु-तत्त्व का सूक्ष्म संतुलन विश्रृंखलित होकर एक दूसरे के अतिरेक को जन्म दे सकता है।' ऐसी हालत में सत् विवेक को भुलाकर भावना को प्रश्रय मिलता है, रूप-आकार की दरिद्रता खटकने लगती है—प्रतिक्रियाएं सामने आने लगती हैं। शब्द प्रतीक बनने लगते हैं, रंग और व्यंजना से मुखरित होने लगते हैं, जो स्वच्छंद-वृत्ति को उभार कर शास्त्रीयता को नष्ट कर देते हैं।

टी. ई. ह्यूल्मे इस बात को स्वीकार करते हैं कि युग के साथ ही कवि की अनुभूति में भी परिवर्तन होता है। उस अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिये नयी भाषा की आवश्यकता पड़ती है। अतः परम्पराबद्ध भाषा, कवि की अनुभूति को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं रह पाती, उसे छोड़ना ही पड़ता है।

अनुकरण ही कला की एकमात्र कसौटी नहीं है। ऐसी बहुत-सी रचनाएं मिलती हैं जो केवल कल्पना-प्रसूत होती हैं और उनका सौंदर्य अनुकरण के कारण नहीं होता। परियों की कहानियाँ या वर्तमान कला—इन में कहीं भी अनुकरण की प्रवृत्ति नहीं मिलती। 'कृति केवल आकृति की अनुकृति नहीं वरन् कृतिकार की प्रकृति-संस्कृति से मिली हुई, उसमें से उपजी हुई, झंकृति होती है। उसमें का स्वर तोता रटंत या 'हिज मास्टर्स वायस' का स्वर नहीं होता। इसी कारण से अधिनायकवादी शास्त्र-तत्वों में निर्मित कलाकृतियां इतनी निर्जीव, रबर स्टैंप जैसी अनुकृतियां जान पड़ती हैं। कला अनुकरण नहीं, नवीनीकरण है।"[1]

शास्त्रीयवादी रूप-आकार पर अत्यधिक बल देता है, वह काव्य-शरीर को संगठित करने के लिये विधियां भी बताता है, पर वह बताना भूल जाता है कि 'वह कौन-सी मानसिक अवस्था है, कौन-सा मानसिक व्यापार है, जिसके द्वारा काव्य की उत्पत्ति होती है ?' स्वच्छंदतावादी कवि बताता है कि कविता, शांति के क्षणों में एकत्रित प्रवेगों का सहज उद्रेक है, पर शास्त्रीयवादी इसके प्रकार के प्रश्नों पर मौन है। स्वयं अरस्तू ने काव्य को

१ हिन्दी-साहित्य-कोष पृ० २८

कला अवश्य कहा, पर उसकी उत्पत्ति के सम्बंध में वे भी मौन रहे।

शास्त्रीयवाद, सिद्धांतों पर व्यक्ति का बलिदान करने को प्रस्तुत रहता है। उसका एक सिद्धांत यह भी है कि 'प्रतिष्ठा पद अथवा परम्परा की हो, न कि मनुज की।' इलियट ने टिप्पणी करते हुए कहा था कि 'हमें मनुज चाहिएं, न कि सिद्धांत।'

ऐसा अनेक बार अनुभव किया गया है कि शास्त्रीय विषयों की अतिशयता ने अवास्तविकता, बासीपन व मैनरिज्म को जन्म दिया है। एक ही विषय पर पढ़ते या लिखते ऊब या खीझ उत्पन्न होना स्वाभाविक है। शास्त्रीय सिद्धांत, जब युगानुकूल न ग्रहण कर केवल पिष्टपेषित-रूप में ही अपनाये जाते हैं, तो उन में बासीपन आ जाता है।

'अति सर्वत्र वर्जयेत' के सिद्धांत के अनुरूप शास्त्रीयता का अत्यधिक आग्रह काव्य-प्रतिभाओं को कुण्ठित कर देता है। हर्डर (Herder) की तरह कोई व्यक्ति तंग आकर कह सकता है—"अरे अभिशप्त शब्द क्लासिक! इसने सिसरो को शास्त्रीय वक्ता, हॉरेस और वर्जिल को शास्त्रीय कवि, सीजर को पंडित और लिवी को शब्द-व्यवसायी बना दिया है।"[1]

## शास्त्रीयवाद : उपलब्धियां

विभिन्न देशों में शास्त्रीयवाद का स्वरूप अलग अलग रहा है। फ्रेंच शास्त्रीयवाद, तत्कालीन सामंतवादी समाज का प्रतिबिम्ब था, जो कुछ लोगों तक ही सीमित था; अंग्रेजी शास्त्रीयवाद, मध्यवर्गीय समाज का प्रतिबिम्ब था। कवि पोप ने लेखक के सामाजिक-दायित्व के सम्बंध में लिखते हुए कहा था कि उसका कार्य व्यक्तियों व रीतिनीतियों को उजागर करना ही नहीं, अपितु अनुशासन की शिक्षा देना व नीति तथा सौंदर्य के उच्च मूल्यों की स्थापना करना भी है। जर्मनी में विंकलमन आदि साहित्यकारों ने ग्रीक कलाओं का अध्ययन करने के पश्चात् उन्हीं मूल्यों का प्रसारण किया। विंकलमन का दावा था कि इन्हीं मूल्यों पर प्राचीनों ने अपना जीवन दान किया।

यह कहना भी गलत होगा कि सभी शास्त्रीय-आन्दोलन, राष्ट्रीय परम्परा के विरुद्ध प्राचीनता के प्रति आग्रह मात्र थे। इटली का पुनर्जा-

---

1 A History of Modern Criticism Vol. I, Rene Wellek, p.191

गरण एक राष्ट्रीय आन्दोलन था। १७वीं शताब्दी का फ्रेंच आन्दोलन भी शास्त्रीय-चेतना के प्रति इतना जागरूक नहीं था, जितना ग्रीक आदर्शों के अनुरूप साहित्य-निर्माण करने में लालायित था। इंगलैंड के १८वीं शताब्दी के लेखक भी ऐसे साहित्य का निर्माण करना चाहते थे, जो परिष्कृत, पूर्ण संतुलित, युगानुकूल व सुरुचिपूर्ण हो, और जो महानतम सभ्यता (ग्रीक) द्वारा समर्थित व फ्रेंच आदि द्वारा अनुमोदित हो। इस प्रकार शास्त्रीयवाद ने विभिन्न युगों में विभिन्न सिद्धांतों को ग्रहण कर स्वयं को जीवित रखा है।[1]

कला की दृष्टि से शास्त्रीयवाद का समर्थन हेगल ने किया। सिम्बोलिक, क्लासिकल व रोमांटिक कलाओं में से क्लासिकल कला में सौंदर्य या प्रत्यय की उचित अभिव्यक्ति होती है, अन्य कलाओं की भांति उस में स्थूलता नहीं रहती। इसमें 'आइडिया तथा इमेज' की एक पारस्परिक अनुकूलता स्थापित हो जाती है, जो दोनों में संतुलन बनाये रखती है।

शास्त्रीय कृतियां कालजयी होती हैं। ह्यूम के अनुसार होमर शताब्दियों पूर्व रोम व एथेन्स में पढ़े जाते थे और वे आज भी लंदन और पेरिस में पढ़े जाते हैं। अनेक परिवर्तनों ने भी उन के महत्त्व को समाप्त नहीं किया है, क्योंकि शास्त्रीय साहित्य 'जीवन के उन तत्त्वों की चेतना का वहन करता है, जिन की उपयोगिता या सार्थकता प्रत्येक युग तथा देश में अक्षुण्ण रहती है।'[२] इसके माध्यम से साहित्य की श्रेष्ठता व महानता का विवेचन-विश्लेषण किया जाता है। भारतीय साहित्य में 'रामायण', 'रामचरित मानस', 'सूर-सागर', 'कामायनी' आदि कृतियां भी क्लासिकल मानी जाती हैं।

अनुकरण का सिद्धांत भी श्रेष्ठ कृतियों के निर्माण में सहायक सिद्ध हुआ है। उपलब्ध उत्कृष्ट कृतियों का अध्ययन-मनन के बाद साहित्यकार लाभान्वित ही होते हैं। 'सिसरो ने शैली के गुणों का निर्धारण करने के उपरांत महत्त्वाकांक्षी लेखकों और प्रवक्ताओं को प्राचीन क्लासिकी मार्ग पर अनुगमन करने का आदेश दिया।' फिर होरेस, लौजाइनस,

---

1 'The essentials of a genuine Classicism...lie in the adaptation of classical principles and of a classical mode of life to a different age'—Cassells' Encyclopaedia, Vol. I, p.109

२ हिन्दी साहित्य-कोष, सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० २४६

आदि समीक्षकों ने शास्त्रीयवाद की नींव पक्की की, 'जिसके अनुसार साहित्य के सही मानदण्ड व पद्धतियां, प्राचीन ग्रीकों में ही पाई जाती हैं, अतः उनकी विधियों व उनके प्रभावों का अनुकरण किया जाना चाहिये।' इस प्रकार शास्त्रीयवाद की स्थापना ने जहां एक ओर साहित्य-सिद्धांतों को स्थिर किया, वहां दूसरी ओर उच्चतम कलात्मक मूल्यों की स्थापना कर मौलिकता और निरंतरता को प्रश्रय दिया।[1]

वस्तुतः शास्त्रीयवाद का उचित मूल्यांकन नहीं हुआ। प्राचीनों के महत्त्वपूर्ण सिद्धांत व पद्धतियों पर भी भली-भांति ध्यान नहीं दिया गया, उदाहरणार्थ उनकी निगमन प्रणाली, मनोवैज्ञानिक व ऐतिहासिक तत्वों का महत्त्व व अन्य सिद्धांतों की उपेक्षा हुई और उनके स्थान पर कतिपय नियमों का यांत्रिक विवेचन कर दिया गया। वस्तुस्थिति यह है कि शास्त्रीय सिद्धांतों की केवल सतही व्याख्या हुई और संसार इसकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों से वंचित ही रहा। साथ ही यह कहना भी अनुचित है कि शास्त्रीयवाद रूढ़िग्रस्त है। इसने जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है, वे पुराने व नये-साहित्यों का मूल्यांकन करने में समर्थ हैं। प्राचीनों ने ही कहा था कि पूर्ण स्वतंत्रता के लिए अनुशासन का होना आवश्यक है। इसी प्रकार स्पष्टता, सरलता, संतुलन, सामयिकता आदि गुण साहित्य में रहे हैं और रहेंगे। शास्त्रीयवाद बताता है कि कला, प्रतिदर्शन व अभिव्यंजन का मिश्रण है और साहित्य का प्रभाव केवल युग या व्यक्ति तक ही सीमित न रह कर मनुष्य की सार्वभौमिक व विश्वजनीन सत्ता का संस्पर्श भी करता है।[2]

शास्त्रीयवाद में शैली-शिल्प का अत्यधिक आग्रह मिलता है, किंतु शैली का स्वैर्य किसी भी राष्ट्रीय साहित्य के लिये अनिवार्य तत्त्व माना जाता है। शैली और राष्ट्रीय चरित्र का संगठन होना जरूरी है, और नये सिद्धांतों के होने वाले आन्दोलनों की जड़ें यदि भूत में विद्यमान नहीं हैं, तो वे सफल नहीं हो सकते। कैलेट का कथन है कि दुनियां में कुछ भी अच्छा या बुरा नहीं है, केवल चिंतन ही ऐसा समझने को बाध्य करता है।[3] □

---

1 Literary Criticism in Antiquity, Vol. II, Atkins, p. 348
2 Ibid—p. 353-54
3 The Whirligig of Taste—E. E. Kellett, p. 105

## २ | नव्य-शास्त्रवाद

'तुम जो कुछ भी लिखो—चाहे प्रीतिकर, चाहे उदात्त—तुम्हारी कविता में सदैव विवेक का योग होना चाहिए।' —बुअलो

'पहले प्रकृति का अनुसरण करो और उसके उपयुक्त मापदण्ड के सहारे—जो नित्य एक रहता है—अपनी विवेक-शक्ति को सुधारो।'
—पोप

'त्रासदी का मन्तव्य रागों के उद्दीपन द्वारा शिक्षा देना होता है।'
—जॉनसन

* * *

यह पाश्चात्य-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन है, जिसके माध्यम से सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में प्राचीन शास्त्रीय साहित्य को पुनःप्रतिष्ठा मिली।

इटली के पुनर्जागरण से पूर्व ग्रीक कृतियों, विशेषतः अरस्तू के 'काव्य शास्त्र' का विशेष प्रचार था, किंतु इस अमूल्य ग्रंथ को मूल भाषा में न पढ़कर अनुवादों द्वारा समझने-समझाने की चेष्टा की जाती थी। उसको विशेषतः एवरोंस व अविसिन के अरबी अनुवादों व टीकाओं द्वारा पढ़ा जाता था, जिससे अनेक भ्रांतियां उठ खड़ी हुई थीं। रिनेसां ने उस युग को स्वतंत्र चिन्तन और रचना को अपूर्व बल दिया और साहित्यालोचन की दिशा मे नये प्रयास प्रारम्भ हुए।

इटली के पुनर्जागरण के बाद ग्रीक ग्रंथों का अनुवाद द्रुत गति से होने लगा। 'काव्य शास्त्र' के अनेक उल्टे-सीधे अनुवाद जियोरजियोवाला, पाज़ी, मागी, पिकॉलोमेनी आदि के द्वारा हुए—जो मूल विषयों को और अधिक उलझाने वाले सिद्ध हुए।

इधर मध्यकालीन बंधनों की कड़ियां टूट जाने से व्यक्ति ने खुली हवा में सांस ली। अब उसे चर्च की प्राचीरों से अलग किसी नई दुनिया का आभास हुआ। कोलम्बस इस नई दुनिया का स्वप्न पूरा कर चुका था; दूर-

बीन, छापाखाना व बारूद नये आदमी के हाथ में थे। अतः इस काल में "मनुष्य की बुद्धि और मानसिक शक्ति के साथ साथ प्रकृति के प्रति समाज ने निष्ठा प्रदर्शित की...साहित्य, समाज और जीवन में घनिष्ठ सम्बंध स्थापित हुआ और साहित्य द्वारा व्यक्ति की शिक्षा और उसके मानसिक संस्कार की आशा की जाने लगी...सामन्तों की शक्ति भी क्षीण होने लगी और एक नई राष्ट्रीयता का जन्म हुआ"।[1] स्काट जेम्स जैसे विद्वान पुनर्जागरण-आन्दोलन में, ग्रीक ग्रंथों के प्रभाव को नकारते हुए कहते हैं कि इन्होंने आन्दोलन को गति अवश्य दी, किन्तु प्रारम्भ नहीं किया।[2] वे कहते हैं कि नव्य-शास्त्रवादी आलोचना ने रिनेसां के बाद ही अपना प्रसार किया।

इटली के रिनेसां का प्रभाव इंगलैंड पर भी पड़ा, किन्तु यह थोड़ा भिन्न था। लेगुई के शब्दों में — "रिनेसां ने इंगलैंड में कतिपय अतिरिक्त विशेषताएं प्रदान कीं, जो इतनी विशिष्ट थीं कि उन्होंने सच्चे राष्ट्रीय साहित्य को जन्म दिया।"[3] इसके अतिरिक्त 'मानवतावाद' को विशेष प्रश्रय मिला, जिसकी चर्चा टामस मोर के 'यूटोपिया' (१५१६) व बेकन के 'मैगना' (१६२०) में हुई। कला और साहित्य के क्षेत्र में आन्तरिक व नैतिक मान्यताओं में परिष्करण की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई और जनजागरण के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ, किन्तु यह सब शनैः शनैः हुआ। फिर भी जिन परिस्थितियों ने इंगलैंड के नवजागरण में योगदान दिया, वे इस प्रकार थीं[4]—

फ्रांस का प्रभाव:—चार्ल्स द्वितीय बहुत अधिक समय तक फ्रांस में रहे थे, अतः वे वहां की संस्कृति, साहित्यिक-अभिरुचि व कलादि का प्रभाव भी साथ लाये थे। इधर फ्रांस में 'फ्रेंच अकादमी' की स्थापना के पश्चात नव्यशास्त्रवादी विचारधारा का प्रचार व प्रसार बड़ी तेजी से बढ़ रहा था। अकादमी ने नाटक व महाकाव्यों के कतिपय सिद्धान्तों का निर्देश कर दिया था, जिनका पालन सभी देशों में होने लगा।

विज्ञान का प्रभाव:—चार्ल्स द्वितीय के सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात 'रायल सोसायटी' की स्थापना की गई, जिसमें भाषा की सरलता,

---

१ पश्चिमी आलोचना शास्त्र—डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ० १०४
2 The Making of Literature, Scott-James, p. 113
3 A History of English Literature : Legouis & Cazamian p.199
4 Literary Criticism—Dr. Dwivedi & Rai, p. 132

निष्पक्षता व गहनता के साथ नई शैली के प्रतिपादन पर विचार प्रकट किये गये। वैज्ञानिक चेतना साहित्य और धर्म पर गहरे रूप से छाने लगी। पुरानी लिजलिजी भावुकता की केंचुल उतरने लगी।

नये दर्शन का प्रभाव:—हॉब्स व लॉक के दार्शनिक सिद्धान्तों ने नव्यशास्त्रवाद को बढ़ावा दिया। उनके सिद्धान्त रहस्यभावना व काल्पनिक अतिशयता के विरुद्ध थे, जिसके कारण साहित्य से अतिप्राकृतिक तत्त्वों का ह्रास होने लगा और इतिवृत्तात्मकता को प्रश्रय मिला।

इन प्रभावों के अतिरिक्त क्लबों व कॉफी घरों ने भी नव्यशास्त्रवादी सिद्धान्तों का प्रसार करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, जहां लोग साहित्य-चर्चा में रुचि लेने के साथ साथ उसमें सुधार करने व साहित्य के नीति सम्बंधी उद्देश्य की बात करने में गौरव का अनुभव करते थे। अनेक सिद्धान्तों पर विस्तृत व गम्भीर चर्चायें इन्हीं क्लबों व काफी-घरों में होती थीं। पोप का 'रेप ऑफ द लॉक' इसी का परिणाम है।

बौद्धिक परिष्कार का काम क्लबों के अतिरिक्त अनेक प्रकार की पत्र-पत्रिकायें भी किया करती थीं। उनके सम्पादकीयों में इस प्रकार के सुधारवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किये जाते थे। अनुशासन-प्रियता पर ये लोग बड़ी चर्चा करते थे और नजाकत से जीवन जीने की बात करते थे। एडिसन का 'स्पेक्टेटर' इस प्रवृत्ति का अच्छा उदाहरण है।

फ्रांस में यह आन्दोलन अधिक उग्र हुआ। वहां के साहित्य ने नये आन्दोलन का पथ -प्रदर्शन किया। मैलहर्ब ने प्राचीन पद्धति को ध्यान में रखते हुए औचित्य, सत्काव्यादि सम्बंधी नियम निर्धारित किये। १६३७ में 'फ्रेंच अकादमी' की स्थापना से प्राचीन मान्यताओं को और भी बल मिला। शपेलैन ने तो यहां तक कह दिया था कि प्राचीन नियमों का पालन-मात्र करने से उत्कृष्ट कलाकृति का सृजन किया जा सकता है। कार्नेल और रेसीन के नाटकों में फ्रेंच क्लासिकवाद उत्कृष्टतम स्थिति में परिलक्षित होता है। कार्नेल के 'ले सिड' ( १६३७ ) में इस स्थिति का पूर्ण आभास मिलता है। उसने अरस्तू की 'कथानक' सम्बंधी स्थापनाओं की पुनर्व्याख्या की, किन्तु मुख्य-प्रतिष्ठा बुअलो द्वारा ही हुई।

वस्तुतः नव्यशास्त्रवाद प्लेटो विशेषतः अरस्तू व हारेस के सिद्धांतों का पुनर्प्रतिपादन है। ये सिद्धांत तीन शताब्दियों तक साहित्य जगत

के अणु-परमाणु में व्याप्त रहे ।[1]

## नव्य-शास्त्रवाद के सिद्धान्त

**प्रकृति और अनुकरण:**—जैसा कि ऊपर कहा गया है कि अरस्तू द्वारा प्रतिपादित 'अनुकरण' नव्यशास्त्रवादियों के पास एक हथियार था। 'कला प्रकृति का अनुकरण है', ऐसा अरस्तू ने कहा था किन्तु वे 'प्रकृति' और 'अनुकरण' शब्दों की ठीक व्याख्या नहीं कर पाये ।[2]

'प्रकृति' के अन्तर्गत मानवेतर प्रकृति को नहीं लिया गया है, क्योंकि उसका अनुकरण नहीं हो सकता । अतः अनुकरण का विषय गोचर वस्तुएं न होकर उनमें निहित प्राकृतिक नियम है । प्रकृति जब उस पूर्णता तक नहीं पहुंचती तो कवि प्रकृति की सर्जन-प्रक्रिया का अनुकरण करता हुआ उसके कार्य को पूरा करता है । आलोच्य युग में 'प्रकृति का अनुकरण करो' वाक्यांश, विभिन्न रूपों में लिया गया ।

कतिपय आलोचकों और कवियों ने 'प्रकृति' का अर्थ 'मानव प्रकृति' से लिया—वह मानव-प्रकृति, जो विभिन्न युगों व जातियों के सब मानवों में समान रूप से पाई जाती है । इस रूप में प्रकृति के अर्थ में सामान्य मानव-स्वभाव को ग्रहण किया और अतिमानव, व्यक्तिगत रूप व अतिप्राकृतिक रूप की अवहेलना की गई । कवि केवल सामान्य बातों का उल्लेख करे और अत्यंत सूक्ष्म ब्यौरों को छोड़ दे । प्रकृति-चित्रण के सम्बंध में कवियों को निर्देश मिला कि वे कुरूप निम्न-श्रेणी के, लोभी, क्रूर, वासनायुक्त, गरीब पात्रों का चित्रण न करें । आदर्श-चरित्र का पात्र ही उनके लिये अनुकार्य बना । राइमर ने शेक्सपीयर कृत 'ओथेलो' के इयागो

---

1 "Neo-Classicism is a fusion of Aristotle and Horace, a restatement of their principles and views which underwent only comparatively minor changes...almost three centuries"—A History of Modern Criticism—Vol. I, Rene Wellek p. 6

2 'The Central concept of the Neo-Classical theory of Literature was 'imitation of nature.' Both its terms are open to gross misunderstanding'
—A History of Modern Criticism—Rene Wellek, p. 11

की, इसी दृष्टि से, भर्त्सना की।

प्रकृति के दूसरे अर्थ में विभिन्न कालों के विभिन्न व्यक्तियों की सामान्य विशेषताओं को लिया गया। अरस्तू 'सार्वभौम-प्रकृति' की बात कर चुके थे, पर कालान्तर में उसका अर्थ 'आदर्श प्रकृति' लिया गया। प्रकृति के सुंदर और आदर्श रूप का चुनाव करके अनुकरण करने की प्रवृत्ति पर बल दिया गया। प्रकृति के सर्वोत्तम व सुंदर रूपों में से चुनाव करके आदर्श का अनुकरण करने की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा।[1]

अतः नव्यशास्त्रवादी 'प्रकृति' का प्रयोग उस अर्थ में नहीं हुआ, जिस अर्थ में वर्डस्वर्थ 'प्रकृति' की चर्चा करते हैं। नव्यशास्त्रवादी 'प्रकृति' से अर्थ लेते थे—नित्य-प्रतिदिन के जीवन का यथातथ्य चित्रण।[2]

प्रकृति का अर्थ वृक्षों, फल-फूलों या ऋतुओं का वर्णन करना नहीं था, अपितु भावातिशयता की उपेक्षा करते हुए, सभ्य समाज के व्यक्तियों और रीतिरिवाजों का अनुकरण मात्र करना था। वैयक्तिकता व भावुकता का सम्बंध इस प्रकार की प्रकृति से नहीं था।

रैने वैलेक के अनुसार प्रकृति का अर्थ नव्यशास्त्रवादियों ने 'यथार्थवाद' से लिया। शास्त्रीय चित्रकला का सिद्धांत, जिसमें पक्षियों द्वारा चित्रित चेरीज को तोड़ने का प्रयास है, इस बात की पुष्टि करता रहा। नक़ल मात्र के रूप में 'प्रकृति' को लेने के अतिरिक्त इससे 'सामान्य प्रकृति' का अर्थ भी लिया गया।[3]

प्रकृति को विवेक का परिचायक भी स्वीकारा गया। उनका सूत्र

---

1 'The demands for universality and typicality easily passed into demands for idealization, Nature might mean ideal nature...Art was to exhibit beautiful Nature.'
—A History of Modern Criticism—Vol. I, Rene Wellek p.16-17

2 'Nature meant with them little more than their deity, common sense'—The Beginning of the English Romantic Movement—Phelps, p. 11

3. 'Often 'nature' was rather understood to mean 'general nature', the principles and order of nature.
—A History of Modern Criticism—Rene Wellek, p. 15

इस प्रकार था—प्रकृति=विवेक ( सुरुचि )=प्राचीन ( शास्त्रीय ) साहित्य। प्रकृति से अभिप्राय उनका स्वच्छंद अनगढ़ प्रकृति से नहीं था—वरन् व्यवस्थित ( रीतिबद्ध ) प्रकृति ( 'नेचर मेथोडाइज्ड' ) से था।[1]

इस प्रकार इस युग तक आते आते यह धारणा भी बन गई थी कि साहित्यिक कृति, प्रकृति की वस्तुगत अनुकृति होती है। साहित्यकारों ने स्पष्ट कर दिया था कि 'यथार्थ जीवन' कलाकार के लिये केवल आरंभिक बिन्दु होता है, वह कला का सर्वांग नहीं होता। डॉ० जॉनसन ने कहा कि कलाकार जीवन के यथार्थ में से कुछ विशिष्ट प्रसंगों को चुनता है, और दूसरी ओर वह उनमें निहित 'सामान्य' तत्त्वों और विशेषताओं का अंकन करता है। यह अनुकरण 'तत्त्वगत अनुकरण' (Imitation of Essences) कहलाता है। अनुकरण प्रकृति का तो हुआ, पर सामान्य प्रकृति का, विशिष्ट का नहीं। सामान्य की यह धारणा अरस्तू के 'सार्वभौम' का नया रूप था। डॉ० जॉनसन ने शेक्सपीयर के अनेक पात्रों की प्रशंसा इसलिये भी की, क्योंकि वे परस्पर भिन्न और विशिष्ट हैं।[2]

ड्राइडन ने आदर्श चुनाव और पोप ने व्यवस्थित प्रकृति के अनुकरण पर बल दिया। प्राचीनों का और प्रकृति का अनुकरण करना, पोप की दृष्टि में, एक ही बात है।

एम. एच. अब्रम्स ने 'द मिरर एंड द लैंप' में अनुकरण का सम्बंध मानव व उसके कार्य-व्यापारों से जोड़ा है। उनके अनुसार, किसी भी सिद्धांत में प्रकृति के वे पक्ष, जिनका अनुकरण कलाकार करता है, सामान्य भी हो सकते हैं और विशिष्ट भी। यह भी संभव है कि वे सृष्टि के केवल सुंदर और नैतिक पहलू ही हों।

एटकिंस की धारणा है कि नव्य-शास्त्रवादियों ने प्राचीनों का अनुकरण, पुरातनता के लोभवश नहीं किया, अपितु इसलिये कि वे प्रकृति या बुद्धि के अनुसार कार्य करते थे।[3]

काव्य-स्वरूप—फ्रांस में बुअलो और इंगलैंड में बेन जानसन ने

---

१ हिन्दी काव्यालंकार सूत्र—भूमिका—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १२४
२ रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र—डॉ० निर्मला जैन, पृ० २६७
3 English Literary Criticism : 17th & 18th Centuries,
—Atkins, p.8

नव्य-शास्त्रवादी विचार-धारा का श्रीगणेश किया। विमसाट के अनुसार बैन जानसन प्रथम अंग्रेज साहित्यकार है, जिसने प्रायः पूर्ण व स्थिर नव्य-शास्त्रवाद का प्रदर्शन किया। उसने जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया, उन्हीं का अनुसरण, एक पीढ़ी बाद ड्राइडन ने किया। बेन जानसन ने ही कहा था कि अनुकरण ऐसा होना चाहिए जैसे मधुमक्खी सुंदर और सुरुचि-पूर्ण पुष्पों में से उनका सत्व लेकर उसे मधु में परिणत कर देती है।

काव्य-रचना के सम्बंध में इन लोगों ने कोई नये विचार नहीं दिये। ये काव्य को नियम-बद्ध मानने के पक्ष में थे। वे आदर्श कवि उसे मानते थे, जो पाठकों की भावनाओं को उद्वेलित करने से पूर्व स्वयं उस भावावेश का अनुभव करे। कविता उनके लिये कला थी, जिसके माध्यम से भावनाओं को उद्दीप्त किया जाता है। इसके लिये कवि को काव्य-कला के नियमों से परिचित होना अनिवार्य है। प्रतिभा और स्फुरणा को महत्त्व देते हुए भी वे ज्ञान और कलात्मक चमत्कार पर विशेष ध्यान देते थे।

होरेस ने कहा था—'कवि का उद्देश्य या तो उपयोगिता होता है या आह्लाद या फिर वह उपयोगी और आह्लाद दोनों का एक ही में समन्वय कर देता है।' नव्यशास्त्रवादियों ने विषय-चयन पर विशेष बल दिया। बुअलो ने कहा कि तुच्छ से तुच्छ विषय की भी अपनी एक उपयुक्त शैली हो सकती है। ड्राइडन का मत था कि जिस प्रकार दवाई का उचित उपयोग न होने से वह अपना गुण खो देती है उसी प्रकार उपयुक्त विषय का न चयन होने से काव्य की प्रभविष्णुता नष्ट हो जाती है। पोप भी मानते थे कि विभिन्न विषयों के साथ विभिन्न शैलियाँ ही सुशोभित होती हैं।

इस तरह काव्य के अन्तर्गत बुद्धि तत्त्व को विशेष महत्त्व दिया गया। डा० जॉनसन की यह परिभाषा प्रसिद्ध ही है—कविता सत्य और प्रसन्नता के सम्मिश्रण की कला है। इसमें बुद्धि की सहायता के लिये कल्पना का प्रयोग किया जाता है।

काव्य के कलापक्ष सम्बंधी नियम भी बनाये गये। अलंकार-शास्त्र से प्रभावित होकर वे बाह्याकार को विशेष महत्त्व देने लगे। शब्द-चयन, शैली-भेद, छंदों का सारणीकरण, अलंकारादि का सूक्ष्म अध्ययन व निरीक्षण होने लगा।

काव्य का प्रयोजन, इन के लिये 'आनंदित करके शिक्षा देना'

ही मुख्यतया रहा है। जॉनसन ने कहा था कि यदि कविता आनंद प्रदान करने में असमर्थ है तो चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो, कलाकृति के रूप में वह व्यर्थ है। वे यह भी कहते हैं कि सत्य और सदाचार के मानदंडों का उल्लंघन किये बिना ही कविता आनंद प्रदान करे। बुअलो ने स्पष्ट शब्दों में आज्ञा दी थी, 'अपनी फलदायिनी काव्य-प्रतिभा का सदा मूर्त एवं उपादेय के साथ समन्वय करो और बुद्धिमतापूर्ण शिक्षा द्वारा आनंद प्रदान करो।'

इस प्रकार 'नीत्युपदेश' भी काव्य-प्रयोजन सिद्ध हुआ। लॉ बोस्यु ने कहा—'महाकाव्य, का उद्देश्य, कार्य -रूपक के आवरण में नीत्युपदेश ही प्रदान करना है।'

काव्य-रूपों पर भी नवशास्त्रवादियों ने विचार किया और प्रत्येक प्रकार को आदर्श रूप-आकार प्रदान किया गया, जो अपने वर्ण्य-विषय, प्रभाव शैली, प्रयोजन इत्यादि में अलग दिखाई पड़ता था। शोक-गीति, सम्बोधन-गीति, सानेट, व्यंग्यादि अप्रधान काव्य-रूपों पर अधिक विचार हुआ। त्रासदी-कामदी जैसे मिश्रित रूपों पर ध्यान नहीं दिया गया।

महाकाव्य या वीरकाव्य को सर्वोत्तम समझा जाता था, किंतु उसके स्वरूप के सम्बंध में सभी आलोचक एकमत नहीं थे। ले बोस्यु ने इसे आख्यानात्मक मानते हुये इसके माध्यम से नैतिक विधि के प्रकाशन पर बल दिया। उसने कहा कि महाकवि पहले उस सदाचार को स्थिर करता है जिसे वह पढ़ना चाहता है, तब उसे रूपक का आवरण देता है। महाकाव्य के अन्तर्गत बोस्यु ने लोककथा, पात्र, उपकथाएं आदि की चर्चा की, जिन्हें तत्कालीन साहित्यकारों ने स्वीकार किया। महाकाव्य की शैली-सज्जा के लिये विदेशी भाषा के मुहावरे, अलंकार, विशेषणों का विरोधाभासयुक्त प्रयोग आदि को आवश्यक ठहराया गया।

विषय-वस्तु की अपेक्षा रूप-विधान की ओर अधिक ध्यान दिये जाने का एक कारण यह था कि इसके पूर्व जॉन डन जैसे कवियों ने सूक्ष्म-रहस्यानुभूति व आधिभौतिकता के कारण काव्य को दुरूह व जनसाधारण से दूर कर दिया था। धर्म की भांति काव्य की रहस्यात्मकता जनसाधारण को ग्राह्य नहीं हो पाई थी, फलतः वह सीधी व सपाट विषय-शैली का काव्य चाहते थे। १७१० में पोप ने अपने मित्र क्रामवेल को जो पत्र लिखा उसमें वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है। पोप ने रहस्यवादी कवि क्रॉशा की कविता में दुरूहता की शिकायत की है।

त्रासदी के लिये विशेष नियम बनाये गये। इसका कथ्य ऐतिहासिक हो, औचित्य, प्रभावान्विति व संकलनत्रय पर विशेष बल दिया जाय। शैली का प्रतिपादन उच्च व महान विचारों के अनुरूप हो, त्रासद नायक भी उच्च पद का हो। नाटक में पांच अंक हों, मंच पर तीन या चार से अधिक पात्र एक साथ उपस्थित न हों। करुणा और भय का विरेचन हो। विरेचन का अर्थ यह लगाया गया कि त्रासदी के माध्यम से प्रेक्षकों को वैसा कठोर बन जाना चाहिये, जैसा कि चिकित्सक, चिकित्सा करते करते हो जाते हैं। दर्शक भी बाद में करुणा व भय से विचलित न हों। रापिन ने कहा कि भावोत्तेजना द्वारा ही भावोत्तेजना शांत होती है।

कामदी के सम्बंध में कहा गया कि इसके कथानक का ऐतिहासिक होना अनिवार्य नहीं। उसमें षड्यंत्रों को सुखद होना चाहिए। पात्र भी अपेक्षाकृत निम्न वर्ग के हों। बुद्धि और विवेक का पथ-प्रदर्शन भी हो।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि इस काल की आलोचना केवल अरस्तू तथा होरेस की आलोचना-प्रणाली का अनुसरण कर रही थी। रोमांचिक नाटकों का विरोध इस काल की सबसे बड़ी कमजोरी थी और आलोचकों में जीवन के सभी पहलुओं को व्यापक रूप में समझने की क्षमता नहीं थी।[1]

वैदग्ध्य:—सामान्यत: वैदग्ध्य का तात्पर्य ज्ञान से है किंतु इसका अर्थ प्रत्येक समय में एक-सा नहीं था। शेक्सपीयर के समय इसे मजाक, खोज, कल्पना या काव्यात्मक पटुता के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता था। बेकन ने काव्य की दो शक्तियों का उल्लेख किया—साम्य और वैषम्य। इन्हें बाद में वैदग्ध्य या वक्रोक्ति (Wit) और विवेक (Judgment) के अर्थों में प्रयुक्त किया गया।

हास एक 'विशेष चित्तवृत्ति' का भी परिचायक है। मनुष्य जब भीदूसरों पर हंसता है, तो उस हंसी में अपने प्रति गर्व व दूसरों के प्रति हीन भावना की प्रच्छन्न अभिव्यक्ति होती है। हाव्स की इस मान्यता को तत्कालीन साहित्यकारों ने ग्रहण किया। हास का ही एक आधार वैदग्ध या वक्रोक्ति ( Wit ) तत्कालीन साहित्य की एक विशेष प्रवृत्ति बन गई। विट तीन रूपों में प्रस्तुत हुआ — विचारात्मक, शाब्दिक तथा मिश्रित। विचारात्मक वक्रोक्ति, विषय विचारों में निहित साम्य की ओर संकेत करती है;

---

१ आलोचना : इतिहास तथा सिद्धांत—डॉ० खत्री, पृ० २५०

शाब्दिक केवल शब्दों की समानता में प्रस्तुत रहती है और मिश्रित में विचार तथा शब्द दोनों का सहयोग होता है। सामान्य रूप से विट असमान वस्तुओं में निहित साम्य की ओर ध्यानाकर्षित करता है।[1]

लॉक के अनुसार विचारों का समीकरण विट है।

हॉब्स ने अपने विख्यात ग्रंथ 'लेवियाथन' में वैदग्ध्य के दो रूप स्वीकार किये हैं—(१) प्रकृत वैदग्ध्य (Natural Wit) जिसमें कल्पना का स्पष्टीकरण हो, (२) अच्छा वैदग्ध्य (Good Wit) जिसमें अनेक वस्तुओं में अन्तर निरीक्षण व न्याय करने की प्रवृत्ति हो। किसी भी कृति में कल्पना व विवेक का उचित सामंजस्य होना चाहिए, पर वैदग्ध्य-पूर्ण रचना के लिये कल्पना की आवश्यकता नहीं है। अत: विवेकरहित फँसी ही वैदग्ध्य है।

एडिसन ने 'स्पैक्टेटर' में 'विट' के दो भेद किये—एक मिथ्या-वैदग्ध्य, जहाँ श्लेषादि अलंकारों से वैदग्ध्य उत्पन्न किया जाता है, और दूसरा सच्चा-वैदग्ध्य, जहां शब्दों और विचारों में साम्य उपस्थित किया जाता है।[2] यह मत उन्होंने लॉक से ग्रहण किया। एडिसन ने मात्र साम्य को महत्त्व नहीं दिया, अपितु उसमें चमत्कार को स्थान दिया। जैसे यदि कोई प्रेमी कहे कि उसकी प्रेमिका का शरीर बर्फ की तरफ श्वेत है तो उक्ति में वक्रता नहीं, यदि वह यह जोड़कर कहता है कि प्रेमिका का शरीर बर्फ की तरह श्वेत ही नहीं, ठंडा भी है, तो यहां वैदग्ध्य-चमत्कार उपस्थित होता है। मिथ्या-वैदग्ध्य में केवल शब्दों का साम्य होता है, सच्चे-वैदग्ध्य में शब्दों के साथ भावों की समता भी पायी जाती है। जहां विचार और शब्दों का पृथक-पृथक विभाजन कर उनका साम्य उपस्थित किया जाय, जैसे प्यार और अग्नि की तुलना करना—ऐसे स्थलों पर मिश्रित वैदग्ध्य की योजना होती है।

ड्राइडन के अनुसार वक्र-रचना, विचार और कल्पना का सुखद परिणाम है। विषय के अनुरूप विचार व शब्दों का समंजन ऐसी रचना के लिये अनिवार्य है।

निस्संदेह नव्य-शास्त्रवादी कविता व्यंग्य या वैदग्ध्य प्रधान थी। यह व्यंग्य किसी घृणित पात्र पर नहीं था, अपितु ऊत्र और मौलिकता के विरुद्ध था। व्यंग्य इसलिये लिखे गये, क्योंकि कल्पना व भावना के अभाव

---

१ आलोचना : इतिहास तथा सिद्धांत—डॉ० खत्री, पृ० ३४३

2 *Literary Criticism—Wimsatt & Brooks, p. 231*

में इससे अच्छी चीज नहीं लिखी जा सकती थी और उसकी मांग भी नहीं थी। इस वात को स्वयं पोप ने वाल्श को लिखे एक पत्र (१७०६) में स्वीकार किया कि "मैंने ग्राम्य-सुखान्तकी जैसी चीजें लिखने का प्रयास नहीं किया, क्योंकि मैं सोचता हूं कि उस प्रकार की कविता का आस्वादन इस युग में नहीं किया जायेगा। लोगों को प्रत्येक स्थानों व विषयों पर वैदग्ध्य (विट) की चाहना रहती है।"

कल्पना और फैंसी, वैदग्ध्य के ही पर्यायवाची हैं।[1] स्वाभाविक वैदग्व्य वही है, जिसमें कल्पना की सम्बद्धता व निश्चित उद्देश्य की ओर तीव्र संकेत हो। कल्पना की अतिशयता के विरुद्ध आवाज़ उठाना कवियों का काम है।

इस युग में कल्पना को इन्द्रिय-ज्ञान, संवेदनाओं तथा संयोग के संदर्भ में ही देखा गया। इन्द्रिय-ज्ञान तो अपेक्षित ही है। क्षण क्षण उत्पन्न होने वाली संवेदनाएं अव्यवस्थित रूप में ही हमारे मन में प्रविष्ट होकर सगृहीत होने लगती हैं। फिर तत्काल उनमें व्यवस्था और पारस्परिक सम्वंध संपन्न हो जाता है। ये सम्बंध-निर्माण स्वत: या किसी यांत्रिक प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न होते हैं।[२]

इस हेतु कल्पना-शक्ति की भर्त्सना की गई। ड्राइडन ने यहां तक कहा कि कवि की कल्पना विधि-रहित होती है। वह उस भयंकर शिकारी कुत्ते के समान होती है, जिसे वंधन में रखना आवश्यक है, अन्यथा वह विवेक को समाप्त कर देगा। डॉ० जॉनसन, विवेक की सहायता के लिये कल्पना-तत्त्व की आवश्यकता समझते हैं।

विवेक और औचित्य:—यह होरेस के औचित्य-सिद्धांत से प्रभावित सिद्धांत था, जो नव्यशास्त्रवादियों ने अपनाया। बुअलो ने कहा कि काव्य रचना विवेक के नियमों के अनुरूप होनी चाहिए। ड्राइडन ने कवि की विवेक-शक्ति की प्रशंसा करते हुए कहा कि उसकी कला-चातुरी वंदूक व घड़ी बनाने वाले से अधिक होती है। पोप मानते हैं कि विवेक-वीज मनुष्य के अंतर में निहित रहता है, उचित अनुकरण और मनन से इसे प्रस्फुटित किया जा सकता है। डॉ० जानसन ने वताया कि विवेक के आलोक में जो

---

1 Literary Criticism—Wimsatt & Brooks, p. 231

२ साहित्य-सिद्धांत—डॉ० राम अवध द्विवेदी, पृ० ९९-१००

दीखे, उसी का उद्‌घाटन करना आलोचक का काम है।

सिसरो ने कहा था—'यदि कोई व्यक्ति विवेकपूर्ण और सुव्यवस्थित ढंग से विचार करना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह उसे अपने मूल और समुचित स्वरूप और आकार में परिणत कर दे।' नव्य-शास्त्रवादी इसी विचार-धारा का अनुसरण करते रहे, जिन के सम्बंध में फ्रेंच कवि शेनिए ने लिखा था—"सद्‌वृत्ति अर्थात् विवेक ही मूल गुण है, जिससे अन्य सभी गुण—साधुता, प्रतिभा, अन्तःशक्ति, मेधा, सुरुचि प्राप्त हो जाते हैं। साधुता क्या है ? क्रियात्मक विवेक। मेधा क्या है ? विवेक की दीप्त अभिव्यक्ति···उदात्त विवेक ही का नाम प्रतिभा है।"

इन पंक्तियों को पढ़कर सैंत ब्यव ने लिखा—'वह ( शेनिए ) पोप, बुअलो और उन सबमें अग्रणी होरेस के विषय में सोच रहा था··· इनके अनुसार कल्पना और भावना को भी विवेक के अधीन माना गया।'[1]

आलोचना-पद्धति—वस्तुतः आलोचना-पद्धतियों को स्थापित करने में इस युग के समीक्षकों का अमर स्थान है। बुअलो, ड्राइडन, पोप, डॉ० जॉनसन प्रभृति समीक्षकों ने इस क्षेत्र में नये युग का निर्माण किया। ड्राइडन को 'अंग्रेजी आलोचना का जनक' कहा जाता है।

ड्राइडन के अनुसार अरस्तू द्वारा स्थापित आलोचना, उन विशेषताओं को उजागर करने की प्रवृत्ति है, जो विवेकशील पाठक को आनंदित करती है। *समस्त युगों को आनंदित करने वाली वस्तुएं, प्रकृति का अनुकरण ही होती हैं।*

नव्य-शास्त्रवादी आलोचना प्राचीनों की महत्त्वपूर्ण रचनाओं का अध्ययन करने का सुझाव देने के साथ मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि से समीक्षा करने का भी सुझाव देती है। पूर्वगामी लेखकों का प्रभाव भी ध्यान में रखना चाहिए। डॉ० जानसन ने कहा था कि कृतिकार का उचित मूल्यांकन युग और परिस्थितियों के आधार पर ही हो सकता है।

इस प्रकार की धारणा से यह लाभ हुआ कि पहले की विचार-धारा बदलने लगी। पहले नवीनता पर प्रतिबंध थे; मौलिकता पर अविश्वास था, प्रेरणा व स्फुरणा पर अंकुश थे, किंतु अब इन्हें हृदयंगम करने की ललक दिखाई दी। यह स्पष्ट था कि ऐतिहासिक दृष्टि की रक्षा किये

---

१ पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा—डॉ० सावित्री सिन्हा, पृ० १८७

विना आलोचना की रक्षा संभव नहीं थी।[1]

आलोचना के अन्तर्गत नैतिक-मूल्यों का महत्त्व भी स्वीकारा गया। ड्राइडन का मत है कि बहुधा निकृष्ट लेखक कठोरतम आलोचक होते हैं।

सत्य और सुन्दर—शास्त्रीयवाद की मान्यता थी कि सत्य ही प्रत्येक वस्तु का अंतिम निकष है। सत्य और सौंदर्य का नित्य सम्बंध है।

इस मान्यता को नव्यशास्त्रवादियों ने भी अपनाया। बुअलो इस सिद्धांत का प्रबल समर्थक था। वह प्रत्येक वस्तु के औचित्य व सौंदर्य का प्रशंसक था। पोप ने सच्ची कविता में 'सौंदर्य-वर्द्धक परिच्छेद से युक्त प्रकृति' की झांकी देखी, तो जॉनसन ने सत्य को ही कला का आधार माना। उनके अनुसार सौंदर्य-चित्रण से पूर्व सौंदर्यानुभूति आवश्यक है—वे लोग हंसी के पात्र हैं जो सौंदर्य को देखे विना उसकी प्रशंसा करते हैं।

जीवन-दर्शन—साहित्य अपने युग की मान्यताओं पर आधारित होता है। रानी एन के समय गाम्भीर्य व अनुशासन-प्रियता का गुण सर्वत्र देखा जाता था—भावना और जोश, घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे।[2] रहस्यानुभूति के स्थान पर स्थूलता व स्पष्टता को अधिक महत्त्व दिया जाता था।

तत्कालीन समाज का पूरा प्रतिविम्ब उस साहित्य में लक्षित होता है। लेखकों का समाज में एक सुरक्षित स्थान था—वे राजनीति में भी वरावर भाग लेते थे। शासकों व लेखकों में परस्पर मैत्रीभाव था।[3] एडिसन गृह-सचिव थे और अन्य व्यक्ति भी ऊंचे पदों पर प्रतिष्ठित थे—अतः इनके दृष्टिकोण इस संदर्भ में समझे जा सकते हैं। लेखक जन-साधारण के लिये न लिख कर कतिपय विशिष्ट पदाधिकारियों या मित्रों के लिये लिखते थे। धार्मिक व सामाजिक वंधनों का ढीला पड़ जाना भी इसके लिये एक कारण रहा है। जीवन आजादी के साथ जीया जा रहा था।

---

१ आलोचना : इतिहास तथा सिद्धांत—डॉ० खत्री, पृ० २६३

2 'Now if there was anything the Augustans hated, it was Enthusiasm'
—The English Romantic Movement, Phelps, p. 8

3 Augustans & Romantics—Dyson & Butt, p.23

नागरिक जीवन का चित्रण—नव्य-शास्त्रवादियों ने ग्राम्य-जीवन की अपेक्षा नागरिक-जीवन को अधिक पसंद किया। डॉ० जानसन ने भी कहा था कि किसी स्कॉचमैन के लिये सर्वाधिक नयनाभिराम दृश्य वह सड़क है, जो लंदन की ओर अग्रसर होती है।

जिन ग्राम्य-काव्यों की रचना हुई, उनमें ग्राम्य-जीवन की वास्तविकताओं का अभाव मिलता है—वे पुरानी कृतियों का अनुकरण-मात्र जान पड़ती हैं, जिनमें संवेदना एवं सजीव चित्रों का पूर्ण अभाव मिलता है। गांवों की ओर दृष्टिपात न करके वे क्लबों, थियटरों, कॉफी-घरों और ड्राइंग-रूम के इर्द गिर्द ही चक्कर लगाते रहे। उनकी दृष्टि में ग्राम्य-जीवन मानवीय कार्य-कलापों का क्षेत्र नहीं हो सकता। श्रीमती जे० काउपर को भी पोप ने इसी आशय का पत्र (१७२२) लिखा था—"मैं···चाहता हूं कि आप कस्बे को पसंद करें···।" जैसा कि फेल्प्स ने लिखा कि उनकी दृष्टि में स्वस्थ-मस्तिष्क के लिये ग्राम, औषधि के रूप में थे, न कि आहार के रूप में।

इस प्रकार नव्यशास्त्रवादी-साहित्य में स्वच्छन्द-प्रवृत्ति का और जिज्ञासा का अभाव था। आत्म-नियंत्रण, वस्तुपरकता, सौंदर्य, कल्पना व भावना की अतिशयता से परे यह एक संतुलित साहित्य-सिद्धांत था। यह केवल इस जगत् का नहीं—अपितु उस जगत् का साहित्य था—जहां उच्च जीवन, फैशन, समाज, क्लब, काफीघर, सम्मेलन व नागरिक जीवन की चमक-दमक विद्यमान थी।[1]

## नव्य-शास्त्रवाद : सीमाएं

नव्य-शास्त्रवादियों द्वारा प्रकृति के अनुकरण का अर्थ 'यथार्थवाद' लेने से वस्तुओं का यथातथ्य अंकन ही काव्य की प्रमुख विशेषता बन गयी।

सैंत एवरेमाण्ड ने स्पष्ट कहा कि प्राचीनों का अनुकरण व्यर्थ का श्रम है, क्योंकि उनके सिद्धांत, समय के साथ समाप्त हो जाते हैं। नये के साथ उनका मिश्रण असफलता का द्योतक है। नियमों पर आधारित रचनाएं सदा क्षुद्र होती हैं। एवरेमाण्ड ने सभी नियमों पर निर्मम प्रहार किये, और ले प्रिंस के इस कथन की पुष्टि की—'मैं मि० द आबिग्नेक का आभारी हूं, जिन्होंने अरस्तू के नियमों का अक्षरशः पालन किया, किंतु मैं

1 A History of English Romanticism—Henry. A. Beers, p.43

अरस्तू के नियमों को कभी क्षमा नहीं कर सकता, जिनके कारण मि० द आबिग्नेक ने इतनी तुच्छ त्रासदी लिखी है।'[1]

एडवर्ड यंग ने कहा कि औपचारिक अनुकरण, पुनरावृत्ति को जन्म देता है, जिसका अवसान पंडिताऊ-दुराग्रह में होता है। इससे तो काव्यात्मक स्वतंत्रता को चुनना अधिक उपयोगी होता है। प्राचीनों का सौंदर्य पथ-प्रदर्शन के लिये नक्षत्रों के समान, उनके दुर्गुण चट्टानों के समान होते हैं। नये लेखकों को पुरानों की सामग्री से लेखन-कार्य नहीं करना चाहिये। हम उनकी नकल जितनी कम करेंगे, उनसे उतनी ही समता कर पाएँगे। आदमी भी तो 'मौलिक' रूप से ही उत्पन्न होता है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि बिसाखियों की भांति नियम भी लंगड़ों के लिये अनिवार्य सहायक के रूप में होते हैं, यद्यपि पुष्ट लोगों के लिये वे अवरोधक का ही काम करते हैं।[2]

प्राचीनों के प्रति आस्था व विश्वास दर्शाते हुए भी नव्यशास्त्र-वादियों ने उनके अंधानुकरण के विरुद्ध आवाज उठाई। ड्राइडन ने भी इसी भय को प्रकट किया था कि 'मुझ पर नये मार्ग के अनुसरण का आरोप न लगाया जाय।' उन्होंने उनके अंधानुकरण व दासानुकरण के विरुद्ध आवाज उठाते हुए कहा— "यह कहना पर्याप्त नहीं है कि अरस्तू ने ऐसा कहा था··· यदि उसने हमारे ग्रंथों को देखा होता तो अपना मत परिवर्तित कर लिया होता।"

डॉ० जानसन ने इसी बात पर विचार करते हुए प्राचीनों के दासानु-करण की निन्दा की—'कोई भी मनुष्य आज तक अनुकरण से महान् नहीं बना है।'

इस युग में अनुकरण शब्द का अर्थ ग्रहण किया गया— पुरानी शिल्प का यांत्रिक पुनर्प्रस्तुतिकरण। इससे मौलिक-भावना का ह्रास हुआ। स्कॉट जेम्स के अनुसार, क्लासिक-ग्रंथ तो मध्ययुगीन दमन के विरोधियों की सहायतार्थ पुकारे गये थे; पर काल की विडम्बना देखिए, आगे चलकर विद्रोहियों को सफलतापूर्वक कुचलने के काम के लिए उनका उपयोग होने लगा। आभिजात्य-वर्ग में जो एक अधिकार-मद

1 English Literary Criticism : 17th & 18th Centuries —Atkins p. 23.

2 Ibid, p. 195

होता है, पाण्डित्य-प्रदर्शन में जो रोक-थाम होती है, आलोचकों में समीक्षा को परम्परागत नियम और कानून के शिकंजे में जकड़ देने की कमजोरी होती है – इन्हीं बातों को समर्थन मिलने लगा।

साहित्य की गतिशीलता का सिद्धांत भी नव्यशास्त्रवाद की जड़ हिलाने में सहायक हुआ। ड्राइडन ने पहली बार संकेत दिया था कि राष्ट्र के विकास के साथ साथ ही साहित्य का विकास होता है और युग-प्रवृत्तियां साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास में सहायक होती हैं। कला स्थिर नहीं गति-शील शक्ति है।[1]

डॉ जानसन ने भी इसी तत्त्व को स्वीकारते हुए कहा –'प्रत्येक बौद्धिक प्राणी कतिपय नवीन उद्भावनाएं करते हैं, जो खोजी व स्वीकृति की जाने पर पहले के लेखकों द्वारा स्थापित मान्यताओं को हटा देती हैं।' इस प्रकार के मत नव्यशास्त्रवाद के विरुद्ध जाने लगे और आत्मतत्व-प्रधान साहित्य की ओर लोग अधिक झुकने लगे।

साहित्य की ऐतिहासिक चेतना ने भी नव्यशास्त्रवाद की नींव को कमजोर बनाया। लोगों में यह धारणा बनने लगी कि साहित्य में परिवर्तन करने वाली युग-प्रवृत्तियां, जैसे भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि का अधिक महत्त्व है और साहित्यिक-चेतना इसी से रूप ग्रहण करती है। डा० जानसन ने स्पष्ट रूप से कहा था कि किसी भी साहित्यकार की कृति का मूल्यांकन उसके समय और परिस्थितियों के आलोक में करना चाहिए।

१८वीं शती के अंत में तो यह प्रवृत्ति ब्लैकवेल के होमर सम्बंधी अध्ययन व बिशप लाउथ के ग्रंथ में विशेष रूप से उभरी। टाइमस वार्टन के विख्यात ग्रंथ 'अंग्रेजी कविता का इतिहास' में नव्यशास्त्रवाद के सिद्धांत की पंगुता प्रकट की गई कि एक कलाकृति की समीक्षा दूसरे युग में किस प्रकार की जाये—इस बात की चर्चा उन्होंने नहीं की थी।

कवि की आत्माभिव्यंजना की ओर जाने के फलस्वरूप नव्यशास्त्र-वादी-युग में उपेक्षित गीति की ओर लोगों का ध्यान गया, जो कालान्तर में सर्वश्रेष्ठ काव्य-विधा के रूप में प्रतिष्टित हुई। ग्रे ने कहा था— "गीति शैली अपनी कल्पना की उड़ान, अलंकार, अभिव्यक्ति की उच्चता व ध्वनि-

---

1. The Making of Literature—Scott-James, p. 141.

सहस्वरता के कारण अन्य शैलियों से उच्चतर है।" इस प्रकार कवि के 'अनुकरण' के स्थान पर उसकी भावनाओं पर बल देने के कारण रोमांटिक प्रवृत्ति के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ और माना गया कि सच्ची कविता 'आत्म-गान' है, और कवि 'अंधकार में गाने वाली बुलबुल है।' इस प्रवृत्ति के कारण नव्य-शास्त्रवादी काव्य-विभाजन की प्रवृत्ति को आघात पहुंचा और इस प्रकार के विभाजन की, लार्ड केम्स जैसे समीक्षकों ने तीव्र आलोचना करते हुए कहा कि साहित्यिक विधाएं विविध रंगों की भांति परस्पर सम्बद्ध होती हैं—हम नहीं जान सकते कि कहां एक विधा समाप्त होती है और दूसरी शुरू होती है।[1]

काव्य-रूपों का सर्वांगीण विकास न होने का कारण यह भी था कि उनके सामने नये रूप थे नहीं, बस पुरानों के आधार पर वे चलते रहे। एडिसन का 'स्पेक्टेटर' सामने आया तो बस पूरी शताब्दी तक उसी की नकल पर निबंधादि लिखे जाते रहे।

इस प्रकार 'प्रकृति' व 'कलाकृति' की स्थापनाओं में कालांतर में कतिपय दोष नजर आने लगे, क्योंकि अधिकांश नव्यशास्त्रवादी सिद्धांत में रूप-विधान और विषय-वस्तु के सम्बंध बड़े अस्पष्ट ढंग से प्रस्तुत किये गये थे। अरस्तू ने कलाकृति की कल्पना एक सर्वांगपूर्ण वस्तु के रूप में करने की दिशा में संकेत करते हुए कहा था कि 'अवयवों की संगठनात्मक एकता ऐसी होनी चाहिए कि यदि उनमें से एक भी इधर उधर हो या अपने स्थान से हटा दिया जाय तो सारी रचना असम्बद्ध और अव्यवस्थित हो जाय' किंतु कलाकृति की अन्विति के सम्बंध में यह अन्तर्दृष्टि पुनर्जागरणकाल में कभी न उभरी और नव्यशास्त्रवाद सामान्यतः रूप-विधान और विषय-वस्तु का विच्छेद करके ही संतुष्ट रहा।[२]

नव्यशास्त्रवाद कट्टरता में अपना सानी नहीं रखता।[3] उस काल में प्रत्येक कवि समालोचक ने धर्म, दर्शन व साहित्य के नियमों का बड़ी कट्टरता से पालन करना शुरू किया। ये पुरातन नियमों से बराबर चिपके

1 Literary Criticism– Dr. Dwivedi & Rai, p. 229.

२ पाश्चात्य काव्य शास्त्र : सिद्धांत और वाद, सं. श्री कोहली, पृ० ४७

3 'Neo-Classicism is undoubtedly the accepted orthodoxy of the time'—A History of English Criticism, Sainsbury, p.236.

रहे—समयानुसार परिवर्तित साहित्यिक व्यापारों की ओर उनका ध्यान कम गया। इस कारण वे 'सर्वोत्तम व काव्यात्मक काव्य' की रचना करने में असमर्थ रहे।

कल्पना और भावना के प्रति जागरूकता भी शुरू हुई, जब कि पुराने काव्यों विशेषकर, शेक्सपीयर मिल्टनादि का अध्ययन होने लगा, तब उन कवियों की कल्पनाशक्ति, कलापक्ष व संवेदनशीलता की प्रशंसा हुई और नव्यशास्त्रवादी युग की विवेकशील, औचित्यपूर्ण व वैदग्ध्य-युक्त कविता पर प्रहार होने लगे। जॉसिफ वार्टन ने वैदग्ध्य-युक्त कविता को नकारते हुए पोप को कवि रूप में ही अस्वीकार कर दिया। उन्हें स्पेंसर, शेक्सपीयरादि की कल्पना व भावना के सम्मुख पोप की वैदग्ध्य-युक्त कविता अत्यंत श्रीहीन जान पड़ी।

विवेक और औचित्य के सिद्धांतों पर एडिसन बहुत अधिक प्रहार कर चुके थे, उनका उदार दृष्टिकोण व मूल्यांकन में 'अभिरुचि' का सिद्धांत, नव्यशास्त्रवादियों के विरुद्ध पड़ा। पोप ने भी होमर व शेक्सपीयर की कृतियों में मौलिकता की प्रशंसा करते हुए कला में स्वच्छंदता की ओर संकेत किया। उन्होंने लॉजाइनस की भी प्रशंसा की।

नव्यशास्त्रवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया आलोचना के क्षेत्र में और भी तीव्रता से हुई। 'अभिरुचि सिद्धांत' ने पुरानी मान्यताओं को जड़ से हिलाकर उनके स्थान पर कलात्मक सौंदर्य के रसास्वादन की ओर ध्यान आकृष्ट किया। बेन-जानसन ने पहले ही कह रखा था कि आलोचक का कार्य किसी लेखक व उसकी कृति का सही मूल्यांकन करना है। कवियों का मूल्यांकन कवि ही कर सकते हैं (To judge of poets is only the faculty of poets)। बर्क ने कहा कि आलोचक व कवियों की दुनिया अलग अलग नहीं है।

डॉ० जानसन ने नव्यशास्त्रवाद के सिद्धांतों के अनुरूप चलते हुए भी आलोचना को मनोवैज्ञानिक भित्ति पर स्थिर किया।

कैलेट के अनुसार नव्यशास्त्रवादियों ने सापेक्षता के गुण को नहीं पहचाना। उन्होंने पुराने युग को बर्बर व स्वयं को सभ्य कहा किंतु वे नहीं जान पाये कि प्रत्येक युग की मान्यताएं न समझने वाले 'रुचिहीन व असभ्य' कहलाते हैं और इसका दण्ड उन्हें नहीं, उनके बच्चों को भुगतना

पड़ता है। इसके अतिरिक्त उनकी कथनी और करनी में भी अंतर दृष्टिगत होता है। उन्होंने जहां सिद्धांत रूप में काव्य के मौलिक तत्त्वों की विवेचना की, व्यवहार में उनका जरा भी पालन नहीं किया।[1]

रेने वैलेक के अनुसार नव्य-शास्त्रवादी विचारधारा को पूर्णतया अपनाया नहीं जा सकता, क्योंकि आधुनिक साहित्य की विविधता, मूल्यों व समस्याओं के साथ इस की गति नहीं है; न ही इसके पास शब्दकोष है और न ही प्रश्नों की रूप-रेखा।[2]

कवि के काव्य-कौशल की ओर जाने से, कवि के स्वतंत्र व्यक्तित्व की चर्चा होने लगी। नव्य-शास्त्रवाद में कवि के इस पक्ष की प्राय: उपेक्षा ही होती रही, किंतु अब कवि को मात्र अनुकरणकर्ता के स्थान पर दिव्य व नव्य जगत् के सृष्टा के रूप में देखा जाने लगा। सिडनी ने कहा 'प्राकृतिक जगत् पीतलका बना हुआ है किंतु कवि स्वर्णिम जगत् प्रदान करता है।' इसके अतिरिक्त अर्ल ऑफ शेफ्ट्स्बरी ने सत्यं शिवं सुंदरम् को ईश्वरीय कला बताते हुए कवि की महानता पर प्रकाश डाला। उसने कवि को दूसरा विधाता बताया।

इसके साथ भावबोध या भावातिरेक ( Sensibility ) की ओर आलोचकों का ध्यान गया। मॉर्गन ने स्पष्ट रूप से काव्य-चमत्कार की चर्चा करते हुए कृति के मूल्यांकन में संवेदनाओं और भावनाओं की ओर ध्यान देने पर बल दिया। साहित्य में सौंदर्योद्घाटन की बात नव्यशास्त्रवाद के विरुद्ध पड़ती थी और कालांतर में स्वच्छंदतावादी समीक्षा का महत्त्वपूर्ण तत्त्व बनी।

इस प्रकार १८वीं शती, साहित्यिक महारथियों के सम्मुख नत थी, यह मौलिक होने की अपेक्षा अनुकरणात्मक अधिक थी, विचारों में सामंतवादी, मानवीय संवेदना व सहानुभूति के प्रति संकुचित व कल्पनाशक्ति तथा आदर्शवाद से परे हट गई थी—मुक्ति व स्वतंत्रता के विचार इससे कोसों दूर थे। धीरे धीरे अधिकारियों के प्रति विद्रोह-भावना, व्यक्ति-स्वातंत्र्य, मानव के प्रति सहानुभूति, विश्वास एवं आदर्श की चर्चा होने लगी।

---

1 The Whirligig of Taste, p. 96

2 A History of Modern Criticism, Vol. I, p. 12

## नव्यशास्त्रवाद । उपलब्धियां

यदि हम इसकी शब्दावली का पुनर्मूल्यांकन करें तो नव्यशास्त्रवादी आलोचना का पक्ष आज भी लिया जा सकता है, ऐसा रेने वेलेक का विचार है। मूलतः नव्यशास्त्रवाद का उद्देश्य स्वस्थ व उचित था। इसने साहित्य, साहित्यिक रचना, कलात्मक-साहित्य की रूप-रेखा व पाठकों की प्रतिक्रिया हेतु सिद्धांत, विधि, नियम ढूंढने के प्रयास किये।[1] इसने मानव-प्रकृति का मनोविज्ञान प्रस्तुत किया, रचना-प्रक्रिया में मानवीय शक्तियों व संवेदनाओं की कार्य-विधियों का परिचय दिया। अनुभूति व विवेक पर आधारित ये नियम सभी साहित्यों के लिये उपयुक्तता से लागू होते हैं।

नव्य-शास्त्रवादी आलोचना से पूर्व आलोचना होती थी, किंतु आलोचक कोई नहीं था। नव्य-शास्त्रवाद ने ड्राइडन जैसा समर्थ समालोचक दिया, यद्यपि वह एकमात्र आलोचक था—बिना सेना के सेनापति।[2] उसके बाद तो अनेक समालोचक तैयार हो गये।

सैंस्बरी नव्य-शास्त्रवाद की सब से बड़ी उपलब्धि यह मानते हैं कि इसने कट्टरता प्रदान की, जो बहुत बुरी चीज नहीं है। यह आत्म-स्वीकृति की चाहना करता है, जो सदा ही अच्छी वस्तु है। यह बौद्धिक शांति व दुख-द्वंद्व से छुटकारे की इच्छा करता है। प्रत्येक व्यक्ति के मत में सत्यांश होता है, जो किसी भी प्रवृत्ति के विकास में सहायक होता है। इस वाद का काम ही, जॉनसन के अनुसार, दो अतिवादों—जो स्थापित हो चुका है, ठीक है', और 'वह ठीक है, क्योंकि वह स्थापित हो चुका है'—में अंतर स्थापित करना था।

अनुकरण-सिद्धांत के ग्रहण से अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियां साहित्य-संसार को उपलब्ध हुईं। डेनिस ने नियमों का समर्थन करते हुए कहा कि इनके कारण ही मिल्टन की 'पैराडाइस लॉस्ट', नये विचारों, नये बिम्बों व मौलिक चेतना के साथ प्रस्तुत की जा सकी।

कला और समाज के समन्वय का प्रयास भी नव्य-शास्त्रवादियों ने किया। तासो का विचार था कि रहस्यवादी धर्मशास्त्री और कवि अन्य

---

1 A History of Modern Criticism, Vol I, Rene Wellek, p.12

2 A History of English Criticism—George Sainsbury, p. 235

लोगों से कहीं अधिक महान होते हैं। सिडनी पहले ही कह चुके थे कि 'केवल तुकवंदी या पद्य-रचना कर लेने से कोई कवि नहीं वन जाता'''वल्कि साधुता-असाधुता आदि से युक्त सशक्त विम्वों की कल्पना करना और उसमें आनंद तथा शिक्षा का समावेश करना ही ऐसा तत्त्व है, जिससे कवि का सच्चा परिचय मिल सकता है।'

इस प्रकार कला और नैतिकता के शाश्वत सम्वंध को नव्य-शास्त्रवादियों ने नयी वाणी दी। डॉ० जॉनसन ने कहा कि सामाजिक के दरवार में ही सभी स्थितियों का निर्णय होना चाहिए। शेक्सपीयर के नाटकों में नैतिक शिक्षा का अभाव होने के कारण वे स्तुत्य नहीं है, क्योंकि 'लेखक का कर्तव्य सदा संसार को श्रेष्ठतर वनाना है और न्याय एक ऐसा तत्त्व है, जो देश-काल पर निर्भर नहीं होता।'

ई. ई. केलेट ने कहा था—अच्छाई बुराई कहीं भी नहीं है, इसलिये नव्य-शास्त्रवादियों ने विचारा कि उनकी शैली अच्छी है, तो निश्चित रूप से यह अच्छी थी। अच्छे लेखन की कोई परिभाषा नहीं है—यदि वह पाठकों को संतुष्ट करता है तो निस्संदेह अच्छा लेखन है।[1]

इस युग ने अंग्रेजी शैली को एक नया रंग-रूप दिया। उस समय तक भाषा में निश्चितता नहीं आ पाई थी, और न ही कोई प्रामाणिक व्याकरण अंग्रेजी साहित्य के पास था। वोलियां भी अभी विकसनशील अवस्था में थीं। उस समय शैली-निर्माण का काम निस्संदेह महत्त्वपूर्ण समझा जाना चाहिये। नव्य-शास्त्रवाद ने भाषा-निर्माण का महत्त्वपूर्ण व आदर्श कार्य किया।

इस ने तत्कालीन भ्रमित समीक्षकों का मार्ग-दर्शन करते हुए, उन्हें प्राचीन महान साहित्य की ओर उन्मुख किया, और इस का अनुकरण करने को प्रेरित किया। इस प्रकार सिद्धांतों और नियमों के आलोक में, तत्कालीन साहित्य की रचना हुई। □

---

1 The Whirligig of Taste—E. E. Kellett p. 96

## ३

# स्वच्छंदतावाद

'गेटे ने कहा था– 'स्वच्छंदतावाद रोग है'। यदि कीट्स भी रोग है, तो हमें इस की और अधिक चाहना है।' —ल्यूकस

'जिज्ञासा और सौंदर्य-प्रेम—स्वच्छंदतावाद के ये दो मूल तत्त्व हैं। इन्हीं तत्त्वों के निर्वाह के लिए उसे मध्य-युग का आश्रय अपेक्षित है···जिसकी उपलब्धि अनुपम और अज्ञात वस्तुओं में से तीव्र कल्पना के सहारे की जाती है।' —पेटर

'अपने युग की सभी सफल कला-कृतियां स्वच्छन्दतावादी होती हैं।' —स्टेंडल

* * *

सख्त चट्टानों के बीच भी पानी की धारा बहती रहती है। इसी प्रकार नव्यशास्त्रवादी-पहाड़ियों के बीच में भी स्वच्छंदतावादी-निर्झर प्रवाहित हो रहे थे, यद्यपि उनकी ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान गया था। जब से बुअलो ने लौंजाइनस के ग्रंथ 'On the Sublime' का अनुवाद १६७४ में प्रस्तुत किया था, तब से ही आलोचकों का ध्यान उस ग्रंथ में निहित स्वच्छंदतावादी-विचारधारा की ओर आकृष्ट होने लगा था। लौंजाइनस ने नियमबद्धता की अपेक्षा कवि-कौशल को अधिक महत्त्वपूर्ण ठहराया था और साहित्य में संवेदनशीलता व भावना के महत्त्व पर प्रकाश डाला था। साहित्य की सार्वभौमिकता को स्वीकारते हुए उन्होंने काव्य के उदात्त पक्ष को सर्वाधिक महत्त्व दिया।

स्वच्छंदतावाद अठारहवीं शती के अन्त में प्रभावशाली बना और उसने तत्कालीन प्रचलित विचारों का विरोध किया। उनका तत्कालीन विरोध नव्य-शास्त्रवाद से अवश्य था, किंतु इस आन्दोलन से समूचे शास्त्रीयवाद की नींव हिल गयी। यह विद्रोह राजनीति व काव्यशास्त्रीय-बंधन, दोनों के विरुद्ध था।

# रोमांटिसिज्म : अर्थ व परिभाषा

स्वच्छंदतावाद:—रोमांटिसिज्म का हिन्दी अनुवाद 'स्वच्छंदतावाद' है। 'स्व' का अर्थ है 'स्वयं की' व 'छंद' का अर्थ है 'इच्छा'। अतः स्व+छंद का अर्थ हुआ 'स्वयं की इच्छानुसार'। साधारण अर्थ में यह स्वतंत्रता का पर्यायवाची है। इसे 'वाद' के रूप में 'रोमांटिसिज्म' का अनुवाद मान लिया गया है, यद्यपि यह शब्द उस की आत्मा को भली भांति ध्वनित नहीं करता।[१]

रोमांटिसिज्म:—इसकी व्युत्पत्ति 'रोमांस' से हुई। रोमन-साम्राज्य के उत्कर्ष-काल में प्रत्येक स्वतंत्र रोम निवासी को रोमनस कहा जाता था। रोमन साम्राज्य की इतिश्री के समय, 'रोमानी' उन्हें कहा गया जो लैटिन को हो अपने ढंग से बोलते थे। यही शब्द 'रोमानिक' बन कर लोकप्रिय भाषा के रूप में प्रचलित हुआ। इसी शब्द के प्राचीन फ्रेंच-रूप Romantsch—Rumontsch—Romanz से अंग्रेजी रूप 'Romance' मिलता है। इस प्रकार 'रोमनस' ने 'रोमांस' तक अपनी जीवन-यात्रा प्रारम्भ की और सारे योरोप में भ्रमण किया।[2]

'रोमांस' में युद्ध, साहसिक कार्य, प्राकृतिक दृश्यों आदि की अवतारणा होती है। इस शब्द के विभिन्न अर्थ देखने में आते हैं:—

'शौर्य वीरता तथा धर्म—इन तीनों से मध्य-कथा-साहित्य प्रकट होता है, विशेषतया 'रोमांस' नाम से अभिहित प्रसिद्ध कथा साहित्य।'

'साहित्य में आश्चर्यजनक और रहस्यमय का मिश्रण, अद्भुत और रहस्यवाद के प्रति मस्तिष्क की एक प्रवृत्ति या झुकाव, रोमांटिक कृत्य या मनोभाव।'

'रोमांस एक ऐसी कथाकृति, जिसमें दृश्य, घटनाएं आदि न्यूनाधिक रूप से सामान्य जीवन से दूर हों और रहस्यात्मक आवरण से आवृत्त हो।'

इंगलैंड में 'रोमांटिक' शब्द का प्रयोग, अतिप्राकृतिक व मिथ्या-

---

१ "विद्वानों ने हिन्दी में इसे स्वच्छंदतावाद कहा है। परन्तु यह शब्द उस सम्पूर्ण साहित्य की आत्मा को प्रकट करने में समर्थ नहीं है।"
—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—रोमांटिक साहित्य शास्त्र (भूमिका) पृ० १

2 The Decline & Fall of the Romantic Ideal—F. L. Lucas p. 16-17

संवेदना के लिये; जर्मनी में, मध्ययुगीन प्रवृत्तियों के लिये; फ्रांस में संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए किया गया।

केर के शब्दों में 'रोमांस का अर्थ है लगभग प्रत्येक वस्तु—ऐतिहासिक उपन्यास के प्रारम्भ के दो घुड़सवारों से लेकर या पुतली के खेल···से लेकर···छाया और स्वप्नों के संगीत तक सभी कुछ।'

वर्डस्वर्थ की दृष्टि में 'रोमांस' से अभिप्राय वस्तुओं में नये अर्थ भरना, कालरिज के लिए अंजान व रहस्यमयी वस्तुओं की खोज करना, बायरन के लिए साहसिक कार्यों के प्रति प्रेम, शैली के लिए स्वप्न-लोक और कीट्स के लिए सौंदर्य की आराधना, रहा है।

इस प्रकार जिस साहित्य में 'रोमांस' की प्रवृत्ति अधिक थी, वह 'रोमांटिक' कहलाया। उस में कल्पना, भावुकता व आदर्श की प्रवृति अधिक मिलती है।[1]

फ्रेडरिक श्लेगल और मैडम डे स्टेल ने इस शब्द—रोमांटिसिज्म—को वाद के रूप में प्रचलित किया। वैसे अनेक युगों में यह प्रवृत्ति योरप के साहित्य में उभरती रही है। प्रारम्भ में इसका सम्बंध, युद्ध और वीरता की गाथाओं से रहा, और 'रोमांस आफ द रोज' और 'एडवेंचर्स आफ द सिड' लिखी गई। कालांतर में इन गाथाओं में थोथी भावुकता, अत्युक्तिपूर्ण कार्य व वर्णन, कल्पना की उड़ानें, स्थान पाने लगीं। 'डान क्विक्जाट' इस का ज्वलंत प्रमाण है। एलिजाबेथ के समय रोमानी प्रवृत्तियां, शेक्सपीयर आदि में उभरीं, पर नव्य-शास्त्रवादियों ने उसे दबा दिया। इस नियम-बद्धता के विरुद्ध विद्रोह करके (१७६८ ई०) वर्डस्वर्थ-कॉलरिज ने इस प्रवृत्ति को पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित किया।

'रोमांटिसिज्म' शब्द बड़ा सिर-दर्द रहा है। इस का कारण, एबरक्राम्बी के अनुसार, यह है कि यह अपने को अनेक रूपों में अभिव्यक्त करता है, और विविध रूपों में से, एक रूप जो सर्वव्यापक है, उसे परिवर्तनशील और अनुसांगिक रूपों से अलग करके खींच निकालने का प्रयास अत्यधिक विवादास्पद हो जाता है।[2]

'शास्त्रीयवाद' के अन्तर्गत हम देख चुके हैं कि श्लेगल बंधुओं ने

---

1 Encyclopaedia of Americana, Vol. 23

2 Romanticism–Abercrombie, p. 35

नाईव और सैंटिमेंटल कविता में अंतर करते हुए स्वच्छंदतावादी कविता के गुणों पर प्रकाश डाला। इधर फ्रांस में स्टेल ने इसी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। तब से आज तक स्वच्छंदतावाद को न जाने कितनी परिभाषाओं में बांधने की चेष्टा हो चुकी है। स्वच्छंद को बंधनमय करना कठिन ही है।

सामान्य रूप से जो लेखक, शास्त्रीयवाद के विरुद्ध लिखता है, वह स्वच्छंदतावादी कहलाता है।

हेन के अनुसार स्वच्छंदतावाद, मध्ययुगीन जीवन व विचारों का पुनरुत्थान है।

हेज के अनुसार रोमानी भावना का जन्म, कौतूहल और रहस्यानुभूति में होता है। स्वच्छंद-कवि आत्म-प्रकाशक होता है और विश्व उसके लिए एक समस्या होती है। भाव-प्रवणता स्वच्छंद-कृति का मूल तत्त्व है।

बायसन के शब्दों में—'स्वच्छंदतावाद, वस्तुत: एक ओर निगति है, क्योंकि यह भूतकाल को स्थापित करता है, दूसरी ओर यह प्रगति है, क्योंकि यह परम्परागत मान्यताओं का भंजक है।' स्वच्छंद-कृति धूमिल, रहस्यमयी आकांक्षाओं का चित्रण करती है, इस के उपकरण हैं—रात, चांदनी, स्वप्न आदि।

रिचर्ड चर्च के अनुसार स्वच्छंदतावाद, अत:प्रेरित होने के कारण धीमी प्रगति करता है। एक जोश समाप्त होता है तो दूसरे को स्थान देता है।

ए. सी. रिकेट मानते हैं कि—'*स्वच्छंदतावाद, साधारण शब्दों में* प्रखर या तीव्र अनुभूतियों एवं तीव्र कल्पनात्मक भावनाओं या संवेगों की कला के रूप में अभिव्यक्ति है'''इस का उपयोग प्रायः अतिशयता और भावुकता के पर्यायवाची अर्थ में किया जाता है।'

स्टोडर 'स्वच्छंदतावादिता का सच्ची भावना में, नवीन-विधान, नवीन-तथ्य, अनुरूपता एवं नवीन-स्वरूप के अन्वेषण में विधान, तथ्य, रूपता और स्वरूप से विदा लेना है।' इस की स्थिति ऐसे क्षेत्र में है, जहां निराधार इच्छाओं के लिए शक्तिशाली प्रयत्न होता हो।

वाट्स डण्टन के अनुसार काव्य और कला में कुतूहल की भावना

का पुनर्जन्म ही स्वच्छंदतावाद है।[1]

फिजस्ट्रिच—'स्वच्छंदतावाद, मनुष्य की पूर्णता के लिये वह महत्वाकांक्षा है, जो कभी प्राप्त न हो।'

वाल्टर पेटर के अनुसार स्वच्छंद-भावना किसी न किसी रूप में प्रत्येक युग में रही है। किसी भी कलापूर्ण रचना में सौंदर्य की आकांक्षा एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और सौंदर्य के साथ अद्भुत का संयोग होने से रोमानी प्रवृत्ति का श्रीगणेश होता है। अद्भुत के प्रति यह जिज्ञासा नये विषयों, शैलियों व उद्देश्यों में अभिव्यक्त होती है। स्वच्छंद कवि सत्ता की अपेक्षा स्वतंत्रता का और व्यवस्था की अपेक्षा शक्ति का उपासक होता है।

पेटर का कथन है कि जिज्ञासा और सौंदर्याकांक्षा का कला और सच्ची आलोचना में अपना अलग अलग स्थान है। यदि जिज्ञासा अशक्त हो और व्यक्ति में नयी अनुभूतियों और प्रभावों को ग्रहण करने की आकांक्षा न हो तो वह कोरे शास्त्रीय-औचित्य को अधिक महत्त्व प्रदान करेगा और परम्परित रूढ़िवादी मान्यताओं को प्रश्रय देगा। सूक्ष्म संवेदनाओं और बिम्बों का स्पर्श नहीं कर पायेगा। "जिज्ञासा का अत्यन्त अतिरेक होने से कला में 'वीभत्स' की उत्पत्ति होती है। अत्यंत कठिन और जटिल परिस्थितियों के अन्तर्गत यदि सुन्दर और अद्भुत का सफल और सर्वांगीण योग सम्भव बन पड़े तो उत्कृष्ट चित्ताकर्षक सौंदर्य का सृजन होता है। सौंदर्य के प्रति निरंतर आग्रहशील होकर भी स्वच्छंदतावादी प्रकृति उसे तब तक स्वीकार नहीं करती, जब तक अद्भुत की शर्त पहले पूरी न हो। अतः जिज्ञासा और सौंदर्य-प्रेम— स्वच्छंदतावाद के ये दो मूल तत्त्व हैं। इन्हीं तत्त्वों के निर्वाह के लिये मध्य-युग का आश्रय अपेक्षित है, क्योंकि मध्य-युग के प्रति उद्भ्रांत वातावरण में स्वच्छंदतावादी प्रभाव का, अद्भुत-सौंदर्य का अक्षत भण्डार रहता है, जिस की उपलब्धि अनुपम और अज्ञात वस्तुओं में से तीव्र कल्पना के सहारे की जाती है।"

पेटर स्वीकार करते हैं कि स्वच्छंद-भावना अंशतः व्यक्तिगत प्रकृति पर ही निर्भर करती है, जैसे १८वीं शती के शास्त्रवादी स्वरों में विलियम ब्लेक का अपना निराला स्वर था। वस्तुतः यह प्रवृत्ति, जिज्ञासा व

---

1 The English Romantic Movement —Phelps, p. 2-3

सौंदर्याकांक्षा के विभिन्न अनुपातों पर निर्भर है। स्वच्छंद-चेतना वस्तुतः एक शाश्वत सिद्धांत है—विचार और शैली की विशेषताएं हैं, जो निरंतरता व प्रभाव को जताती हैं।

एच० जे० सी० ग्रियर्सन—ये स्वीकार करते हैं कि स्वच्छंदतावाद, मध्ययुगीन ईसाई-धर्म से अत्यधिक प्रभावित रहा है।

ग्रियर्सन का कथन है कि "स्वच्छंदतावादी मनोभाव सदा हमारे साथ रहता है। समय समय पर हम सभी स्वच्छंदतावादी होते हैं। भले ही वह दिन के कठोर श्रम के उपरांत निद्रा के आह्वान के समय हो या तब जब कि हम प्रेमासक्त हों। अतः न्यूनाधिक स्वच्छंदतावादी कवि और कलाकार सदा ही रहे हैं और रहेंगे।"

वर्ण्य-विषय ही किसी कविता को रोमांटिक नहीं बनाते जैसे केल्टिक साहित्य की परियों और जादूगरों ने, जर्मेनिक परम्परा के शौर्य ने, प्राच्य कथाओं की आश्चर्यजनिक घटनाओं ने, मध्ययुगीन कविताओं को स्वच्छंदतावादी नहीं बनाया है, अपितु उस सामग्री की रीति ने ऐसा बनाया है। बुद्धि के वैषम्य में चेतना ही रोमांस को जन्म देती है। मध्ययुगीन स्वच्छंदतावाद में मानव-स्वप्नों का प्रतिनिधित्व हुआ है।

स्वच्छंदतावाद का सार है—'हृदय और कल्पना हमें जिस दिशा में बढ़ने का आह्वान करते हैं, उसके और विवेक के बीच में है, एक सजग वैषम्य।' स्वच्छंदतावाद के पुनरुत्थान के समय विवेक से हटने का भाव मिलता है, क्योंकि 'महान् स्वच्छंदतावादी जानता है कि वह विवेक नहीं, आस्था के सहारे जिंदा रहता है।'[1]

एबरक्राम्बी के अनुसार, स्वच्छंदतावाद बाह्य अनुभूतियों से पलायन है, ताकि आंतरिक अनुभूतियों में केन्द्रित हुआ जा सके। इस प्रकार स्वच्छंद कवि बाह्य जगत की अपेक्षा अन्तर-जगत् की ओर उन्मुख होता है।[2]

आगे वे लिखते हैं—"आन्तरिक-अनुभूतियों पर निर्भर होकर हम

---

1 The Background of English Literature, p. 289-90.

2 'Wherever we find Romanticism, we find the 'inner life' somehow asserting its superiority over the outer.'
—Principles of Literary Criticism, Abercrombie, p. 148

जीवन की वास्तविकताओं से भागना चाह सकते हैं; आन्तरिक अनुभूतियों पर निर्भर होकर हम जीवन की वास्तविकताओं में सुधार करना भी चाह सकते हैं···मैं यह नहीं कहूँगा कि सम्पूर्ण स्वच्छंदतावाद को इन्हीं दो वर्गों में बांटा जा सकता है; यद्यपि मेरी धारणा है कि अधिकांशतः इस विभाजन से हमें वर्गीकरण के लिए उपयुक्त शीर्षक मिल जाते हैं।"

ल्यूकस ने अपने विख्यात ग्रंथ 'द डिक्लाइन एंड फॉल ऑफ द रोमांटिक आइडियल' में स्वच्छंदतावाद पर विशदता से विचार किया है।

रोमांस के सार रूप में ल्यूकस ने आरम्भ में हाइन की एक कविता दी है, जिस का सार इस प्रकार है—'उत्तर के शुष्क पर्वत पर अकेला चीड़ का पेड़ उगता है, हिम और उड़ती बर्फ का स्वच्छ आवरण पहन कर अपना सिर झुकाता है और स्वप्न देखता है एक ताड़ वृक्ष का, जो दुःखी है, मूक है, अकेला है—सुदूर सुबह के किसी देश में जलते पत्थरों की पहाड़ियों पर।' स्वच्छंदतावादी कविता के सार रूप में ल्यूकस का कथन है—"और फिर, यह कविता स्वप्न के विषय में है, उन वस्तुओं को पाने के लिए उत्कट अभिलाषा की कटु-मधुरिमा के विषय में है, जिन्हें हम केवल स्वप्न में ही अपना बना सकते हैं···यह एक प्रतीक है—बाइबिल के लिये ईश्वर के चिरंतन आश्वासन का, लेकिन एक स्वच्छंदतावादी के लिये मानव की चिरंतन अतृप्ति का।"[1]

ल्यूकस स्वच्छंदतावाद और मुक्तिवाद का सामंजस्य स्वीकार करते हैं। चेटरब्रियां इस दृष्टि से मुक्तिवादी था। ह्यूगो ने भी इसे साहित्य में मुक्तिवादी-आन्दोलन की संज्ञा दी थी। हाइन के लिये स्वच्छंदतावाद 'मध्य-युग से पुनर्जागरण था - ईसा मसीह के रक्त से बहता हुआ एक वासना पुष्प', सिसमोंडी ने इसे प्रणय, धर्म व साहसिकता का मिश्रण बताया था। स्वच्छंदतावादी आत्म-केन्द्रित व्यक्ति थे।

'विवेक के विरुद्ध भावना' भी स्वच्छंदतावाद के लिये एक सिद्धांत कहा जाता रहा है। 'रोमांस' के लिये कतिपय ऐसी विशेषताएं हैं जो बार बार सामने आती हैं, इनमें से हैं—"दूरत्व एकाकीपन का सुखमय अवसाद मौन और अलौकिकता, शीत और शुष्कता, उन्मत्त प्रेम, वासना का प्रस्फुटन व सौंदर्य की मृत्यु, रैडक्लिफ की भयावह और आत्मपीड़क क्रूरता, स्वप्न-भंग

1 The Decline and Fall of the Romantic Ideal— Lucas, p.3

मृत्यु व पागलपन, असम्भव के प्रति प्रेम।

ल्यूकस के शब्दों में 'स्वच्छंदतावादी वस्तुतः 'जोसेफ' की भांति 'स्वप्नदर्शी' हो सकता है। वह दुःस्वप्नों की भांति कभी सजीव रूप से यथार्थवादी हो सकता है। कभी अभिजात कलाकार की भांति, नायकवाद व उदारता के मामले में, व्यवहार के सामाजिक आदर्श से शासित हो सकता है, भले ही अन्य बातों में वह विद्रोही की भांति समाज-विरोधी हो। लेकिन ब्लेक की भांति वह मूलतः अपनी अन्तःप्रेरणाओं व विचारों को मुक्त रखना चाहता है: — 'बंधन हटाओ, शैथिल्य चिरजीवी हो', 'उन्मुक्तता ही सौंदर्य है।', 'सुबह के तारे के प्रकाश के ऊपर, स्वप्नों का देश ही श्रेष्ठ-तर है।'

ल्यूकस लिखते हैं, मद्यसार मस्तिष्क के उच्चतर नियंत्रणों को ढीला कर देता है। स्वच्छंदतावाद भी ऐसा नशा है और दिवास्वप्नों आदि की तरह उसके भी अनेक प्रकार हैं। अरस्तू की भाषा के अनुकूल स्वच्छंदतावाद की परिभाषा इस प्रकार होगी — "स्वच्छंद-साहित्य जीवन का स्वप्न-चित्र है, जो समाज या यथार्थ द्वारा दमित अन्तःप्रेरणाओं को सम्बल और तृप्ति प्रदान करता है।" इसके विपरीत शास्त्रीयवाद का संसार जाग्रत और पूर्णतया शांत है।

बाल्देयर ने स्वच्छंदतावादी के लिये स्वप्निल जीवन व वास्तविकता से पलायन आवश्यक बताया था, इसी को ध्यान में रखकर ल्यूकस ने एक रूपक बांधा। उन के शब्दों में— "एक शब्द में, स्वच्छंदतावाद, परी देश के राजकुमार का स्वप्न लेती निद्रामग्न सुन्दरी है। दुर्भाग्यवश यह राजकुमार पथभ्रष्ट हो सकता है, निद्रामग्न-सुंदरी को अरबी बोतलों से निकलने वाले जिन्नों से ही संतुष्ट होना पड़े, किंतु इस सब का अंत सहसा उन्मत्त प्रलाप की अस्वच्छंदता में होता है।" आगे वे लिखते हैं—"१८वीं शताब्दी में सुकरात के डायमन की चेतावनी की तरह दो आवाजें सुनाई पड़ती थीं—एक कान में फुसफुसाती थी 'वह बुद्धिग्राह्य नहीं है', दूसरी 'ऐसा नहीं किया जाता'। मुझे लगता है, स्वच्छंदतावाद मूलतः इन दो आवाजों को अनसुनी करके अवचे-तन जीवों को क्रूर दमन से मुक्ति दिलाने का प्रयास करता है। समसामयिक फ्रेंच-क्रांति की तरह यह भी डूबती हुई जनता का विद्रोह है, किंतु इस समय (जनता के बदले) मानस-सन्तानों ने स्थान ले लिया है।" स्वच्छंदतावाद एक क्रांति ही थी। स्वच्छंदतावादी अपने चेतन नियंत्रण से इतर प्रक्रियाओं

पर अधिक निर्भर रहता है और इसलिए प्लेटो की भांति वह प्रेरणा या दैवी उन्माद में विश्वास करता है।

ल्यूकस ने आगे स्वच्छंदतावादियों के सम्बंध में लिखा कि यद्यपि स्वच्छंदतावादी लेखक प्रायः 'लजीले वाहक' नहीं होते, तथापि 'लजीले वाहक' प्रायः स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों से युक्त होते हैं, जैसे कॉलरिज और हाउसमैन। गेटे की आलोचना करते हुए ल्यूकस ने कहा कि स्वच्छंदतावाद कोई रोग नहीं है, वह उन्मद स्वप्न-दर्शन है।

ल्यूकस के अनुसार स्वच्छंदतावाद उतना ही पुराना है जितना यूरोपीय साहित्य—जितना ओडेसी। उसके लिये स्वच्छंदतावाद 'स्वप्न-जीवन' का पर्यायवाची है। स्वच्छंदतावाद का सार-तत्त्व भी यही है कि वह अर्ध-चेतना से उठी हुई फैंटसी से प्रेरणा ग्रहण करे।

स्वच्छंदतावादी बड़ी सरलता से स्वप्न देखते और लिखते रहे हैं। जार्ज सैंड ने सवेरे दो बजे उपन्यास पूरा किया और दूसरा लिखना शुरू किया। वायरन नृत्य वाली पोशाक में लिखता था और मोरिस ने एक दिन में ७०० पंक्तियां ( छन्दबद्ध ) लिख डालीं। वॉयरन रचना में संशोधन को पसंद नहीं करता था—उनके अनुसार "मैं एक चीते के समान हूं, अगर पहली छलांग में मैं शिकार को नहीं दबोच सका तो मैं गुर्राता हुआ अपने वन में चला जाता हूं।" मतलब कि आत्म-सजग किताबीपन इन के लिये खतरे का सूचक है।

हिन्दी के समीक्षकों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ही सर्वप्रथम 'स्वच्छंदतावाद' शब्द का प्रयोग किया या कम से कम प्रचलित किया। उन्होंने पं. श्रीधर पाठक को स्वच्छंदतावाद के प्रवर्तक के रूप में स्वीकार करते हुए, इस प्रवृत्ति के काव्य में प्रकृति-प्रेम को ही अधिक महत्त्व दिया।[1]

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी मानते हैं कि स्वच्छदतावाद का प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ा है, जिसमें परिपाटी-विहित और परम्परा-युक्त रस-दृष्टि के स्थान पर कवि की आत्मानुभूति, आवेगधारा और कल्पना का प्राधान्य है•••रोमांटिक साहित्य, वस्तुतः जीवन के उस आवेगमय पहलू पर जोर देने के कारण अपना यह रूप धारण कर सका है, जो कल्पना प्रवण अन्तर्दृष्टि को चालित और प्रेरित करता रहता है।

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० ५५३

द्विवेदी जी के अनुसार—रोमांटिक साहित्य की वास्तविक उत्स भूमि वह मानसिक गठन है, जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से संश्लिष्ट निविड़ आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग—ये दो निरंतर घनीभूत मानसिक वृत्तियां ही उस व्यक्तित्व-प्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं।

आन्तरिक सौंदर्यानुभूति व बाह्य असुन्दर परिस्थितियों की टकराहट से कविता को नये पंख लग जाते हैं। यह "साहित्य इसी प्रकार के कवि चित्त के आन्तरिक सौंदर्य के आदर्श और बाहरी जगत् से एकदम भिन्न परिस्थिति के संघर्ष का परिणाम है। संघर्ष में विद्रोह का स्वर भी है परन्तु असली और प्रधान स्वर रचनात्मक है। वह कुछ नया करने का प्रयत्न है जो कुछ नया देखने की तीव्र आकांक्षा से उत्प्रेरित है और बाह्य असुन्दरता को बदलने के उद्देश्य से परिचालित है। इस भाव-धारा में स्नान करके पुरातन ने भी नया रूप ले लिया है।"[1]

इस प्रकार द्विवेदी जी ने स्वच्छंदतावाद की जिन विशेषताओं की ओर इंगित किया है, वे हैं—

(क) आत्मानुभूति, आवेगधारा और कल्पना का प्राधान्य।

(ख) आन्तरिक सौंदर्य का बाह्य परिस्थितियों से संघर्ष—उन्हें बदलने को उत्प्रेरित।

(ग) व्यक्तित्त्व की प्रधानता।

द्विवेदी जी छायावादी व रोमांटिक-अभिव्यक्ति शैली का साम्य स्थापित करते हुए लिखते हैं:—

"जहां तक अभिव्यक्ति शैली (काव्य के साधन) का प्रश्न है, रोमांटिक कवि भी हिन्दी के छायावादी कवि की ही भांति (१) नियमों और रूढ़ियों से स्वतंत्र रहने का दावा करता है (२) स्वतः प्रकृत भावांवेग पर बल देता है (३)दिवास्वप्न जैसी अलीक कल्पना या असंलग्न चिंता-प्रवाह अस्पष्टता, युगगत सौंदर्यानुभूति तथा कलात्मक प्रक्रिया की पौन:पुनिकता की ओर प्रवृत्त होता है।"

द्विवेदी जी मानते हैं कि स्वच्छंदतावाद में कल्पित, भव्य व अतीत युग के राष्ट्रीय-गौरव व उसकी मोहक संस्कृति का चित्रण मिलता है। वह

---

१ रोमांटिक साहित्य शास्त्र—डॉ० देवराज उपाध्याय, पृ० १

सामान्य की अपेक्षा विशेष पर जोर देता है; रंग-गत सामंजस्य की अपेक्षा उत्तेजक रंगों पर बल देता है; प्रकृति को व्यक्तिगत और अव्यवहृत प्रत्यक्षानुभूति का विषय समझता है तथा रहस्यवाद और अतिप्राकृत तत्त्वों में उसकी आस्था है।[1]

आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी मानते हैं कि जो काव्य-धारा अत्यंत अनियमित, संयम-रहित प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है, वह रोमांटिक गति की सूचक है, स्वतंत्रता की लालसा और बंधनों का त्याग ही इस धारा के मूल में व्याप्त है।

स्वच्छंदतावादी विषय की चर्चा करते हुए वे कहते हैं—"रोमांटिसिज्म में वस्तु का उदात्त होना आवश्यक नहीं। साधारण से साधारण वस्तु में भी काव्यात्मक चित्रण बनने की क्षमता है। यह स्वच्छंदतावादी-मत है।"[2] रोमांटिसिज्म का आधारभूत सिद्धांत यही है कि—'आकृति का सौंदर्य कला की श्रेष्ठता की माप-रेखा नहीं है।' कला की दृष्टि से इस काव्य-परिपाटी की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वस्तु तथा शैली में यह कोई तात्त्विक भेद नहीं मानती। भावना ही काव्य की मुख्य वस्तु है।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र मानते हैं कि स्वच्छंदतावाद में 'सामाजिक बंधनों को तोड़कर जीवन की स्वच्छंद भूमि में विचरण करने की लालसा' पायी जाती है। सामाजिक रूढ़ियों के कठोर बंधन को अस्वीकार करने के लिये ही इस 'वाद' का जन्म हुआ।

मिश्र जी का कथन है कि रहस्यवाद, अभिव्यंजनावाद और स्वच्छंदतावाद—इन सब का मूल उत्स एक ही है, वे एक ही वस्तु के विभिन्न रूप हैं, किंतु स्वच्छंदतावाद में आस्था व गहरी अनुभूति का होना अत्यावश्यक है। उनके शब्दों में, "स्वच्छंदतावादी, अभिव्यंजना के वैभव का चाहे त्याग न करे किंतु उसमें गहरी अनुभूति के बिना जगे काव्य की प्रेरणा नहीं जगती थी।"[3]

डॉ० देवराज उपाध्याय स्वच्छंद-रचना में 'आन्तरिक स्पिरिट'

---

१ श्रीधर पाठक और हिन्दी का पूर्व-स्वच्छन्दतावादी काव्य
—डॉ० रामचंद्र मिश्र पृ० ४०

२ आधुनिक साहित्य, पृ० ४१६

३ हिन्दी का समसामयिक साहित्य, पृ० ५४

की प्रधानता स्वीकार करते हैं । उनके कतिपय निष्कर्ष इस प्रकार हैं:—[1]

(१) 'इस श्रेणी की कविता में किसी प्रकार के बंधन की पाबंदी असह्य है। प्रत्येक कवि अपनी मौलिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये अनुरूप पथ-निर्माण के लिये स्वतंत्र होगा। कविवर प्रसाद के शब्दों में कवि अपनी नियति का पथ अपने पैरों चलेगा।

(२) 'ऐसी कविता में वैसे ही पात्रों का वर्णन विशेष रूप से होगा, जिनका जीवन शहर की भीड़-भम्भड़ से दूर प्रकृति के अंचल में प्राकृतिक रूप में व्यतीत होता हो।...फैशन और सभ्यता तो मनुष्य के जीवन में कृत्रिमता ला देती है।'...

(३) 'शैली की सादगी होगी।'...

(४) 'इस श्रेणी की कविता में प्रकृति के वर्णन का स्थान होगा और वर्णनात्मक कविता का ही समावेश होगा।'...

(५) 'कला केवल स्वतःप्रसूत भावों में सुचारुता लाने का साधन-मात्र होगी।'

अतः डा० उपाध्याय भी आन्तरिक प्रेरणा, कल्पना, भावोन्माद, कला की सादगी को स्वच्छंदतावाद की प्रमुख विशेषताएं स्वीकारते हैं। रोमांटिक कवि स्वयं ऐश्वर्य-दिव्यता में परिवेष्ठित होकर पाठकों को ऐसे अतींद्रिय जगत में लाकर खड़ा कर देता है, जिसका वह स्वामी है।

डॉ० रामचंद्र मिश्र ने स्वच्छंदतावाद की 'प्रेरक स्थितियों' की चर्चा करते हुए लिखा:—[2]

"स्वच्छंदतावादी काव्य में...व्यक्ति प्रधान हो जाता है और समाज गौण। ऐसे काव्य में लोकादर्श, लोक भावना एवं लोकनीति आदि तिरोहित हो जाते हैं। उनके समक्ष केवल व्यक्ति और उसकी क्रांतिकारी भावना रह जाती है। वह अपने लोक का स्वयं ही अधिनायक होता है और निर्णायक भी..."। व्यक्ति प्रधान काव्य की प्रेरक स्थितियों में पूंजीवाद एवं राष्ट्रीयता का प्रमुख स्थान है। (क) पूंजीवाद इसलिये कि वह ही सामंतशाही को समाप्त कर मानव को उसके उत्पीड़न से बचाता है किंतु जब यही व्यक्ति के लिये बंधन बन जाती है तो पीड़ा असह्य हो उठती

---

१ रोमांटिक साहित्य-शास्त्र, पृ० २४-२५

२ श्रीधर पाठक तथा हिंदी का पूर्व स्वच्छन्दतावादी काव्य—पृ० ४०

है। (ख) राष्ट्रीयता का स्वरूप भी परिवर्तनशील स्थितियों में बदला हुआ होने के कारण राष्ट्रीय-भावना में भी अंतर आता है। समाज का एक वर्ग शोषण करे—कवि को यह असह्य हो उठता है।

स्वच्छंदतावाद की परिभाषा मिश्र जी ने इस प्रकार स्थिर की है—

"स्वच्छंदतावादी काव्य, काव्य की वह विशेष सर्जना है जो कल्पना और आवेग से युक्त परम्परागत विधान और वाह्यांग नियंत्रण से विमुक्त और मानसिक सरलता तथा अकृत्रिमता से सम्पन्न मानसिक तथा लोक-भूमि की भावनाओं से युक्त हो।"

इन परिभाषाओं के अतिरिक्त विविध कोषों में स्वच्छंदतावाद की ये परिभाषाएं भी मिलती हैं:—[१]

(१) "भावना एवं विचारों में आन्दोलन...।"

(२) "स्वच्छंदतावाद स्थूल रूप से कला अथवा साहित्य में, जीवन को उस रूप में चित्रित करने की प्रवृत्ति जैसा वह वस्तुतः नहीं है—या तो कल्पना का सहारा लेकर वास्तविक जगत को विरूपित करना अथवा रोमांस के धूमिल साम्राज्य में प्रवेश कर उससे (वास्तविक संसार से) पूर्णतया पलायन करना। इसी से स्वच्छंदतावाद सामान्यतः यथार्थवाद के विपरीत है।"

(३) "स्वच्छन्दतावाद की मुख्य विशेषताएं हैं— व्यक्तिवाद, प्रकृति पूजा... स्वतंत्र विचार और धार्मिक रहस्यवाद की ओर प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति, राजनीतिक सत्ता और सामाजिक परम्पराओं के प्रति विद्रोह, शारीरिक वासनाओं का उन्नयन, स्वान्तः सुखाय भावनाओं और उत्तेजनाओं को प्रोत्साहन तथा अलौकिक, दूषित, एकान्तिक और निर्दय के प्रति अविरल आकर्षण।"

(४) "चूंकि स्वच्छन्दतावाद भावात्मक जीवन में जो कुछ विचित्र और रहस्यात्मक है, उसे अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है, वह स्वभावतः अपनी सामग्री का आधार भूत में खोजता है और विशेषतया मध्य युग से सहानुभूति रखता है...अतः अतीत के प्रति सहानुभूति और मानवता के प्रति नवीन रुचि रोमांटिसिज्म के चिन्ह हैं।"

---

१ हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी उपन्यास— डॉ० जौहरी, पृ० ३३-३४

उपर्युक्त सभी लक्षणों में थोड़ा बहुत विरोधाभास दृष्टिगत होता है, परन्तु ध्यानपूर्वक देखने पर कतिपय तत्त्वों में साम्य मिल जाता है। फेल्प्स ने अपने ग्रंथ में स्वच्छंदतावाद की तीन मूल विशेषताएं बतायी हैं— (१) व्यक्तिपरकता (२) सौंदर्य के प्रति प्रेम, और (३) प्रतिक्रिया-वादी-भावना।

प्रथम गुण से लेखक का तात्पर्य कलाकृतियों में निहित एषणा व प्रेरणा से है। दूसरे में, सौंदर्य के साथ अद्भुत का तत्त्व जोड़ा गया है। यहां कवि मणिखचित मीनारों और चंद्रिकायुक्त जल या भयानक घटनाओं का वर्णन करता है। तीसरे तत्त्व का अर्थ यह है कि किसी भी देश में, जो कुछ हुआ है, स्वच्छंदतावादी-आन्दोलन उसकी प्रतिक्रिया के रूप में अवश्य आयेगा। यह आन्दोलन शांतिमय ढंग से (इंगलैंड) या विद्रोह रूप (फ्रांस) में प्रस्तुत हो सकता है। इंगलैंड व फ्रांस के स्वच्छंदतावादी आन्दोलन की चर्चा करते हुए फेल्प्स ने कहा कि फ्रांस में यह आन्दोलन सजग होकर चलाया गया, जबकि इंगलैंड में यह सहज भाव से चला।[1]

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वच्छंदतावाद, विषय की ओर उतना नहीं, जितना प्रणाली की ओर संकेत करता है। वह वास्तविक जगत् के संकुचित तथ्यों से काल्पनिक जगत् की ओर पलायन है; वह परम्परा और नियमों से भी पलायन है और आनंद व आश्चर्य का अद्भुत सम्मिश्रण है।

स्वच्छंदतावाद मनुष्य की अतृप्त-आकांक्षा का प्रतीक है। लेखक अपनी परिस्थितियों व इच्छा-पूर्ति से असंतुष्ट और अतृप्त रहकर ही अवसाद ग्रहण करता है। अतः स्वच्छंदतावाद, मानव की सहज-प्रवृत्तियों व अदम्य लालसाओं का चित्रण करने के साथ साथ मानव-प्रकृति के सम्बंधों का सूक्ष्म-विवेचन भी करता है। इस प्रवृत्ति में अपूर्णता व अनिश्चितता मिलती है, जोश और संघर्ष की प्रवृत्ति और अद्भुत व रहस्यमयी-सृष्टि को व्यक्तिगत स्तर पर देखने और उसे समाजोन्मुख करने की उद्दाम लालसा के भी दर्शन होते हैं।

अतः स्वच्छंदतावाद में भावात्मक उत्तेजना, अनुभूति की चाहना, पलायनवादिता का कोई रूप, परम्परा के शिकंजों से मुक्ति ( विषय, शब्द,

1 The Beginning of the English Romantic Movement, p. 4

छंद सभी में ) और काव्य-शास्त्र में नया आन्दोलन शुरू करने की प्रवृत्ति मिलती है।'[1] अंधानुकरण के स्थान पर सहज-स्वाभाविक आत्माभिव्यक्ति को इसी आन्दोलन में प्रमुख प्रश्रय मिला।

उपर्युक्त बातों के आधार पर स्वच्छंदतावाद की निम्नलिखित विशेषताएं सामने आती हैं:—

( १ ) स्वच्छंदतावाद भावना एवं विचारों से सम्बद्ध है व प्रभविष्णु भी।
( २ ) कल्पना का सहारा व वास्तविक जगत् से पलायन।
( ३ ) व्यक्तिवाद, प्रकृतिपूजा व विचार-स्वातंत्र्य।
( ४ ) रहस्यात्मकता व अतीत विशेषकरमध्ययुग के प्रति आकर्षण।

## स्वच्छंदतावाद के प्रेरक तत्त्व

१७वीं-१८वीं शती में योरप में ऐसी घटनाएं घटीं, जिन्होंने वहां के जन-जीवन को झकझोर कर रख दिया, इनके गर्भ में अनेक ऐसी संभावनाएं निहित थीं, जो कालांतर में नयी शक्ति लेकर सामने उपस्थित हुईं।

१६८८ ई० की 'गौरवपूर्ण-राजक्रांति' की सफलता ने प्रजातंत्र की नींव रखी। जेम्स द्वितीय के पलायन ने इंगलैंड ही नहीं, अनेक देशों को भी संसद-प्रणाली की ओर आकृष्ट किया। जन-जागृति के चिन्ह सब ओर दिखाई देने लगे।

अमेरिका का स्वातंत्र्य-संग्राम, इस जागृति का प्रत्यक्ष प्रमाण था। अमेरिका निवासियों पर ब्रिटिशों द्वारा अधिक करादि लगाया जाना, उस असंतोष की आग में घृत का काम करना था, फलतः सभी करों का भारी विरोध हुआ, और अंत में एक 'महाद्वीपीय समिति' ने स्वतंत्रता का घोषणा-पत्र तैयार किया, जिसमें कहा गया कि 'क्रांति करना जनता का अधिकार है।' इस प्रकार 'संयुक्त राष्ट्र अमेरिका' का जन्म हुआ।

फ्रांस की राजक्रांति में उन युवकों ने भाग लिया जो अमेरिका से प्रेरणा लेकर लौटे थे, इधर लोगों की शोचनीय अवस्था का चित्रण रूसो और वाल्टेयर जैसे साहित्यकार कर रहे थे। नेहरूजी ने लिखा है— 'उसकी ( रूसो की ) पुस्तकों और विचारों ने मनुष्यों के मस्तिष्कों में इस

---

1 The Study of English Literature-Iyengar & Prema, p. 217

प्रकार के वीज-वपन कर दिये, जिससे क्रांति अंकुरित हो उठी।' इस क्रांति के कारण नागरिकों को स्वतंत्रता मिली, वोट देने का अधिकार प्राप्त हुआ व सामंतशाही सदा के लिये समाप्त हो गई। राष्ट्रीयता की लहर फ्रांस से होती हुई योरप के अन्य राष्ट्रों में फैल गई और वंधुत्व, स्वतंत्रता व समानता के नारों से योरप का गगन गूंज उठा।[1]

औद्योगिक क्रांति को भी इसी जागृति का परिणाम समझना चाहिए। इसे सबसे अधिक वल विज्ञान से मिला, जिसने सम्पूर्ण मानव-जीवन का आमूल-चूल परिवर्तन कर डाला। इधर प्रकृति-विज्ञान के विकास ने सारी पुरानी मान्यताओं की जड़ें हिला दीं। यह सारा परिवर्तन बड़ी तेजी से हो रहा था। पुरातनवादियों ने राजनीति, चर्च और साहित्य को हथकड़ियां पहना रखी थीं, किंतु ये वंधन अधिक दिनों तक टिकने वाले नहीं थे। वौद्धिक जगत् में भी इन वातों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। योरप में अभी तक शिक्षा की पुरानी परिपाटी चल रही थी। उसमें प्राचीन रोम और लैटिन-शास्त्रीयता के प्रति आस्था थी। पर धीरे धीरे रूसो आदि के कारण वे भी नई धारा के प्रति सजग हुए। रूसो ने वताया कि कोई अलग अलग राष्ट्र का नहीं है। सव एक-सी अभिरुचि, भावना व आचार-व्यवहार रखने वाले हैं। लैंसिंग ने विकार-ग्रस्त देश-प्रेम को छोड़ने में ही अपनी भलाई समझी। टामस पेन ने तो यहां तक कहा—'विश्व मेरा देश है और मानव मेरा भाई।'

## स्वच्छंदतावाद : स्वरूप-विकास

उपर्युक्त तत्त्वों का प्रभाव सम्पूर्ण विश्व पर पड़ा और सभी देशों में स्वच्छंद-प्रवृत्तियां उभरने लगीं।

(क) जर्मन-स्वच्छंदतावाद—विंकलमन ने सर्वप्रथम ग्रीक कला-कृतियों का अध्ययन करते समय उनमें आत्माभिव्यंजना की खोज की और वताया कि एक कलात्मक-कृति के लिए आन्तरिक और वाह्य, दोनों रूप महत्त्वपूर्ण हैं। कला के माध्यम द्वारा आत्मा ही वाह्य स्थूल रूप धारण करती है। अन्तरात्मा की गहराई से युक्त भावों से कोई भी कृति

---

१ श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व-स्वच्छंदतावादी काव्य—डॉ० मिश्र, पृ० ४११.

भव्य बन सकती है।

सौंदर्य-पक्ष की चर्चा करते हुए जी. ई. लेसिंग ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'लाओकून' में बताया कि 'प्रत्येक कला अपने माध्यमों, साधनों और रचना पद्धतियों की विविधता के कारण दर्शकों और श्रोताओं पर विविध प्रकार के प्रभाव उत्पन्न करती है...प्रत्येक प्रतिभाशाली कलाकार अपने मार्ग का निर्माण स्वयं करता है।'[1]

गेटे ने कहा— व्यक्तित्व कला एवं कविता का सर्वस्व है और व्यक्ति का विकास मानव के रूप में होना चाहिए। काव्य शिक्षाप्रद होना चाहिये परन्तु प्रच्छन्न रूप से। वह पाठक का ध्यान संवेद्य, मूल्यवान विचार की ओर आकृष्ट भर करे, परन्तु उससे शिक्षा पाठक स्वयं ही ग्रहण करे जैसे जीवन से करता है। काव्य-वस्तु की चर्चा करते हुए गेटे ने कहा—'यह संसार इतना विशाल और समृद्ध है और जीवन इतना वैविध्यपूर्ण कि कविता के अवसरों का अभाव नहीं हो सकता।'

शिलर ने मानवता और काव्य का घनिष्ठ सम्बंध बताते हुए लिखा—"कवित्व प्रेरणा अमर है। मानवता के मध्य से उसका लोप कभी नहीं हो सकता। वह तभी लुप्त होगी जब स्वयं मानवता का या मानव में अपने आप को मानव समझने की वृत्ति का लोप हो जाए।" शिलर ने प्रकृति और काव्य के सम्बंध की चर्चा करते हुए कहा कि 'कवि को स्वयं प्रकृति की अभिव्यक्ति बनना है।'

शिलर समाज के बंधनों को किसी भी रूप में स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं थे।

विंकलमन, लेसिंग, गेटे व शिलर ने स्वच्छंदतावाद के तत्वों की ओर संकेत मात्र ही किया, किंतु उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा श्लेगेल बंधुओं द्वारा हुई। अगस्त विल्हेम और फ्रेडरिक श्लेगेल, दोनों भाइयों ने स्वच्छंदतावाद की मूल प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए उसकी स्थापना की। अनुज फ्रेडरिक में मौलिकता अधिक थी। विल्हेम ने कहा स्वच्छंद कला सीमारहित प्रगति है। स्वच्छंद कविता में उस अव्यवस्था के लिए प्रच्छन्न-इच्छा की अभिव्यक्ति मिलती है, जो प्रत्येक व्यवस्थित सृष्टि के गर्भ में निहित है, ताकि नये और

---

१ पश्चिमी आलोचना शास्त्र—डा० वार्ष्णेय, पृ० १३५

श्रेष्ठ रूपों को जन्म दिया जा सके।[1]

फ्रेडरिक ने रोमांटिक कविता को 'प्रगतिशील विश्वव्यापी कविता' 'आधुनिक' व 'रुचिकर' शब्दों से विभूषित किया। 'रोमांटिसिज्म', 'रोमन' शब्द से बना था—जिसका अर्थ था 'नवीन'। फ्रेडरिक के अनुसार स्वच्छंद-रचना का उद्देश्य, काव्य-विभागों को सम्बद्ध करना ही नहीं अपितु कविता को दर्शन व भाषण कला के साथ सम्वद्ध करना है।

स्वच्छंदतावाद काव्य-गुण है, अतः प्रत्येक रचना को रोमांटिक होना चाहिए।

ओमंड का कथन है कि श्लेगेल बंधुओं ने शास्त्रीयवाद के विरुद्ध अपनी आवाजें बुलन्द की थीं। "दोनों ने मध्य-युग की ओर दृष्टिपात किया और राष्ट्रीय गाथाओं को गौरवान्वित। दोनों ने प्रकृति-पूजा में अटूट आस्था व्यक्त की।"[2] फ्रांस में जब स्वच्छंदतावादी वातावरण ठीक प्रकार से व्यवस्थित नहीं हो पा रहा था, इन बंधुओं ने जर्मनी में स्वच्छंदतावाद का भवन-निर्माण करना शुरू कर दिया।

नोवालिस ने 'रोमांटिक' शब्द की व्युत्पत्ति 'रोमन' (एक प्रकार की परियों की कहानी) से मानी है। उसके अनुसार स्वच्छंद-रचना 'किसी वस्तु के परिचित व आकर्षक होते हुए भी, विचित्र बनाने की कला है', और चूंकि प्रत्येक वस्तु विचित्र है, अतः जिसे हम विश्व और भाग्य कहते हैं, उनसे अधिक रोमांटिक कोई चीज नहीं!

टीक ने रोमांटिक शब्द 'सुन्दर या मध्ययुगीन वस्तु' के रूप में प्रयुक्त करते हुए कहा कि प्रत्येक कविता रोमांटिक होती है। अतः 'रोमांटिक और पोएटिक' में अन्तर स्पष्ट करना कठिन है।

जीनपॉल ने स्वच्छंदतावाद का समर्थन करते हुए कहा 'नया स्कूल मुख्यतः ठीक है।' आभिजात्यवाद की पूर्णता व श्रेष्ठता का समर्थन करते हुए वे स्वच्छंदतावादी या संगीत-प्रधान कविता की अपेक्षा ग्रीक या रूपाकारयुक्त कविता को अधिक मान्यता देते हैं। स्वच्छंदतावादी कविता ईसाईयत

---

1 Romantic Poetry...is the expression of a secret longingfor the chaos, which is striving for new & marvelous births which lie hidden in the very womb of orderly creation.
—A History of Modern Criticism, Rene Wellek, p. 58

2 The Romantic Triumph—O. S. Omond, p. 287

का प्रत्यक्ष-प्रमाण है, जिससे वीरता और दरबारी प्रेम का विकास हुआ है।

उलैंड की कविताओं में स्वच्छंद-प्रवृत्ति चरम सीमा पर पहुंची जान पड़ती है। कविताओं में सरलता, कोमलता, मानवता, प्रकृति प्रेम, छंद-विहीनता इत्यादि विशेषताएं वर्डस्वर्थ की कविता की याद दिलाती हैं।

जर्मन दार्शनिकों ने भी स्वच्छंदतावादी विचार-धारा के प्रचार-प्रसार में बड़ा योगदान दिया है। इनमें शैलिंग, कांट आदि प्रमुख हैं।

शैलिंग की विचारधारा से अंग्रेजी स्वच्छंदतावादी बड़े प्रभावित हुए। प्रकृति को वे केवल विचार का माध्यम ही नहीं अपितु दिव्य ज्योति का प्रतीक मानते थे। कवि के लिये यह ( प्रकृति ) आह्लाद की वस्तु है।

कांट ने उस समय लिखा— 'अब तक यह विश्वास रहा है कि हमारा समस्त ज्ञान वस्तु के अनुकूल होना चाहिए, परन्तु अब इस बात पर विचार करने का समय आ गया है कि क्या मानव-उन्नति के लिए ( इसके विपरीत ) यह धारणा श्रेयस्कर नहीं है कि वस्तु को हमारे ज्ञान के अनुकूल होना चाहिए।"

(ख) फ्रेंच स्वच्छंदतावाद–फ्रेंच समीक्षकों में, श्रीमती डे स्टाइल की पुस्तक भी इसी समय प्रकाशित हुई, जब जर्मनी में श्लेगेल की 'ड्रामेटिक लेक्चरस्' पुस्तक प्रकाश में आई। वैसे फ्रांस में नव्यशास्त्रवाद की झंकार अपेक्षाकृत अधिक समय तक गूंजती रही। पर १८३० में हर्नामी की विजय के बाद व इससे पूर्व 'क्रामवेल' की भूमिका लिखते हुए ह्यूगो ने स्वच्छंदता की ओर चरण बढ़ा दिये थे। मैडम स्टाइल ने कविता में भावना की प्रधानता स्वीकार करते हुए कल्पना-प्रधान साहित्य का समर्थन किया। कविता का उद्देश्य मुक्ति, ज्ञान व गुण की ओर मानव को अग्रसर करना है।

मैडम स्टाइल ने स्वच्छंदतावाद का समर्थन करते हुए कहा—क्योंकि अपनी भूमि में जड़े होने के कारण यह अकेला ही विकसित व पल्लवित हो सकता है, यह हमारे धर्म की अभिव्यक्ति करता है; हमारे इतिहास का स्मरण कराता है। प्राचीनों का साहित्य इस देश की धरती से स्वतः अंकुरित नहीं हुआ।[1]

---

1 'The literature of the ancient is with us a transplanted literature, romantic or chivalrous literature is indigenous.'
—A History of Modern Criticism, Vol. II, Wellek, p .229

चेटरञ्रियां ने कहा कि प्राचीनों ने धर्म-पुराणों के आधार पर प्रकृति को नगण्य बना दिया था जबकि नये कवि ने विशालता व सहृदयता से मानव और प्रकृति का सम्बंध स्थापित किया। उन्होंने स्वच्छंदतावाद को मुक्तिवाद के साथ जोड़ा ।

फ्रेंच स्वच्छंदतावादियों में स्टेण्डेल तथा ह्यूगो का नाम साथ साथ लिया जाता है। उनसे पूर्व जावर्ट ने कविता में जोश व कल्पना की प्रधानता स्वीकार करते हुए स्वच्छंद-प्रवृत्ति का विकास किया था। १८२४ में जावर्ट की मृत्यु के बाद 'रोमांटिसिज़्म' शब्द की चर्चा होने लगी। स्टेंडल के अनुसार अच्छी कला पहले स्वच्छंद होती है और बाद में क्लासिक। 'क्लासिक' का अर्थ होता है 'स्थापित महान् रचनायें'।

ह्यूगो ने क्रामवेल' की भूमिका में रोमांटिसिज्म को 'विचित्र' कहते हुए बताया कि ईसाई-धर्म की पाप सम्बंधी धारणा के कारण दुनिया में अवसाद को प्रश्रय मिला, जिसके कारण भयावह व विचित्रता की धारणा को बल मिला। ह्यूगो के 'हंचवैक' में इन दोनों स्थितियों का मिश्रण है।

डे मस्से ने बायरन से प्रभावित होकर स्वच्छंद रचनाओं का सृजन किया, जिनमें सरलता व सौंदर्य पूरी तरह से मिलता है।

(ग) इटली में स्वच्छंद-प्रवृत्ति, डे स्टाइल के लेखों के प्रकाशन के बाद सामने आई। मैंजोनी ने स्पष्ट कहा—"यदि कोई महान प्रतिभा नियमों का उल्लंघन करती है तो इस बात को स्वीकारने का क्या प्रमाण है कि वे प्रकृति पर आधारित हैं और अच्छे हैं।" मैंजोनी ने स्वच्छंदतावाद के दो रूप स्वीकार किये—नकारात्मक और स्वीकारात्मक। प्रथम रूप में वह शास्त्रीय नियमों अनुबंधों व अनुकरणों को अस्वीकारता है, दूसरे रूप में वह सब को नकारने के बाद महत्त्वपूर्ण तथ्यों का ही चुनाव करता है। मैंजोनी ने इस विचार को मिथ्या बताया कि स्वच्छंदतावाद का सम्बंध भूतों चुड़ैलों व अव्यवस्था से है। कविता तो सच्चाई से प्रस्तुत किया गया इतिहास है।

ल्योपार्डी ने स्वच्छंद- प्रवृत्तियों का प्रतिपादन करते हुए कहा कि कवि-कल्पना यथातथ्य विश्व को नहीं देखती। कवि सृजन करता है, तो अपनी सम्वेदनाओं को अभिव्यक्त करता है।

(घ) रूस पर इंगलैंड व जर्मनी का प्रभाव पड़ा। पुश्किन की रचनाओं में सर्व प्रथम शास्त्रीयता की अपेक्षा नवीन भावनाओं के प्रेरक

तत्त्व मिलते हैं। प्रादेशिक समाज को लेकर पुश्किन के अनन्तर गोगल ने महत्त्वपूर्ण कृतियां लिखीं।

(ङ) इंगलैंड में स्वच्छंदतावाद—योरप के अन्य देशों की भांति इंगलैंड में भी धीरे धीरे एक बदला हुआ साहित्य-क्षितिज दृष्टिगोचर होने लगा, जिसके पीछे की पृष्ठभूमि अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।[1]

नव्य-शास्त्रवाद और स्वच्छंद-प्रवृत्तियां—कथ्य की दृष्टि से स्वच्छंद-भावना अपने पूर्वकाल में ही दिखाई देने लगी थी। अनेक नव्य-शास्त्रवादी रोमानी-भावना को अपना रहे थे, यह हम पीछे देख चुके हैं। पोप ने श्रीमती काउपर को लिखा भी था—'बहुत समय से मेरी इच्छा परियों की कथा कहने की थी, जो अतिप्राकृतिक व अजनबी हो।' टामस पार्नेल (१६७९) की रचनाओं में गोस को 'अनजान रोमानी द्वीप' नजर आता था। उनकी 'नाइट पीस' कविता में प्राकृतिक-सुषमा व मध्ययुगीन प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। 'हिम टू कॉन्टेन्टमेंट' की अनेक पंक्तियां स्वच्छंदतावादी-कवियों की सी हैं।[2] एने फिन्च को अनेक समीक्षक रोमांटिकों में प्रथम मानते हैं। यद्यपि यह बात विवादास्पद है, तथापि प्राकृतिक, चित्रण-ग्राम्य-जीवन, गीति, बाह्य-भ्रमण आदि में उनकी कविताएं अपने युग से आगे थी। 'टू द नाइटिंगेल' उनकी प्रसिद्ध कविता है। इसी प्रकार क्राक्साल, एलन रामसे, हैमिल्टनादि की रचनाओं में भी इस प्रवृत्ति के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

शिल्प की दृष्टि से भी नव्य-शास्त्रवादी युग में स्वच्छंद-प्रवृत्तियां उपस्थित थीं। फेल्पस् के शब्दों में—"चूंकि स्वच्छंदतावाद, अन्य साहित्यिक आन्दोलनों की भांति प्रतिक्रिया-रूप में प्रारम्भ हुआ; उसका रूप-विधान··· स्वभावतः प्रचलित विधानों से पृथक था।' नव्य-शास्त्रवादी युग में वीर-छंद का बोलबाला था, पर बाद में उसकी एकरसता के कारण कवि अतुकांत छंदादि की ओर प्रवृत्त हुए, जिनमें कल्पना की उड़ानों के लिये अधिक अवकाश रहता है। डॉ० जानसन ने शायद इसी कारण अतुकांत छंद का विरोध किया था।

---

1 The English Romantic Movement—Phelps, p. 25

2 'The sun that walks his airy way'
'When midnight fairies danced the maze.'
—Hymn to Contentment.

जॉन फिलिप्स ने 'स्प्लैंडिड शिलिंग' में इस छंद का प्रयोग किया। वाद में टामसन ने अपनी अमर कृतियां—'विंटर', 'समर', 'सीजन्स' आदि इसी छंद में लिखीं। यंग, डायर, वार्टन आदि कवियों ने भी इसी छंद को अपनाया। पेरी का विचार है—'निस्संदेह, अतुकांत छंद, दोहे की प्रतिक्रिया-स्वरूप सामने आया। यह कठोर रूप-विधान के विरुद्ध प्रथम विद्रोह का संकेत चिन्ह था।' इसी भांति अष्टपदी व चतुर्दश्पदी (सानेट) ने दोहे को काव्य-क्षेत्र से बाहर कर दिया।

स्पेंसर और मिल्टन का प्रभाव—इन दो कवियों ने स्वच्छंद-वृत्ति के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। स्पेंसर, उन के लिए रोमांस के साम्राज्य का सुनहरा द्वार था, जहां वे योद्धाओं और मृत प्रेमिकाओं की स्मृतियों में लीन हो सकते थे। स्पेंसर की कल्पना-शक्ति, चित्रों की सघनता व तीव्रता, प्रभविष्णु वर्णन-शक्ति आदि का मैथ्यु प्रायर (१६६४) ह्यूगस (१६७७) टामसन आदि कवियों पर विशेष प्रभाव पड़ा। टामसन की 'कैसल ऑफ इंडोलेंस' कविता पर 'फेयरी क्वीन' का स्पष्ट प्रभाव है।

मिल्टन की 'इलपेंसेरेसो कविता ने अवसाद और मध्ययुगीन-भावना को उभारने में विशेष योगदान दिया। जोसफ वार्टन (१७२२) पर मिल्टन और रूसो का प्रभाव था। १८ वर्ष की आयु में उसने 'द एन्थ्यूजिआस्ट' कविता अतुकांत छंद में लिखी, जिसमें 'धूम्र पूर्ण नगरों' के स्थान पर 'गर्म गुफाओं और दूर तक डूबी वादियों' की चर्चा की गई। उसकी कविता में एकांत-प्रियता, अवसाद व प्रकृति-प्रेम जैसी विशेषताएं मिलती हैं। 'ओड्स' की भूमिका में वार्टन ने लिखा—'जनता शिक्षाप्रद कविताओं ...की इतनी अभ्यस्त है कि ऐसी रचना, जिसमें कल्पना का पुट है, शायद पसंद या स्वीकार ही नहीं की जाये।' 'ओड टू फैंसी' में वार्टन ने अवसाद को 'अश्रु-पूरित आँखों की देवी' कहा। फेल्प्स के अनुसार, वह शास्त्रीयवाद से प्रत्यक्ष-रूप से हट गया, और वाहर की ताजी प्रकृति और मध्ययुगीन अवसाद से प्रेरणाएं ग्रहण कर रहा था। वस्तुतः इस शती का यह ही प्रथम सतर्क रोमांटिक कवि कहा जा सकता है।

जॉसेफ के अनुज टामस वार्टन (१७२८) ने 'द प्लेजर्स आफ मेलांकली' में छाया, सघन-वन, विखरे दुर्ग व शांत हृदयों की अवतारणा की है, जो स्वच्छंदतावादियों के प्रिय विषय हैं।

स्वच्छंदतावाद के पूर्व-प्रवर्तकों में जेम्स टॉमसन, काउपर, कोलिन्स और ग्रे का नाम आदरपूर्वक लिया जाता है। उन्होंने कविता को नागरिक-जीवन से हटाकर, उसका उन्मुक्त ग्रामीण प्राकृतिक-सुषमा से साक्षात्कार कराया और क्लिष्ट आलंकारिक शैली के स्थान पर अकृत्रिम सरल शैली को अपनाया। भावना-प्रधान वैयक्तिकता इनकी कविताओं में विशेष रूप से मिलती है। यंग में 'रोमांटिक निराशा का भाव' और 'स्वच्छंदतावाद की अनघड़ धातु' के दर्शन होते हैं।

ग्रे की रचनाओं में वन्य-प्रकृति के विराट दर्शन होते हैं। उसने केवल स्थूल रूप से ही प्रकृति को नहीं निहारा था, अपितु उसकी आत्मा का कोना कोना झांका था। वस्तुतः वह अपने समय से बहुत पहले का कवि था। मिटफोर्ड के शब्दों में—'ग्रे से अधिक महान्, प्रकृति का प्रशंसक कोई नहीं हुआ।' उनकी 'एलेजी' ने डेनमार्क से इटली और फ्रांस से रूस तक—सभी लोगों को प्रभावित किया। 'प्रोग्रेस ऑफ पोयसी' व 'द बार्ड' रचनाओं में भी स्वच्छंद-प्रवृति के दर्शन होते हैं। तीव्र कल्पना-शक्ति भावाभिव्यक्ति और प्रकृति-प्रेम—इन के काव्य की प्रमुख विशेषताएं हैं। फेल्प्स ने ठीक ही कहा है—'युग से प्रभावित होने की अपेक्षा, ग्रे ने युग को अधिक प्रभावित किया; उसने अनुकरण करने के स्थान पर पथ-प्रदर्शन ही किया।'[1]

मध्य-युगीन दृष्टि—प्राचीन काल में स्थापित्य व काव्य-कला के अध्ययन के लिए 'गाथिक' शब्द का प्रयोग होता था। इसके माध्यम से मध्ययुगीन गाथाओं व दृश्यों की ओर रुचि प्रदर्शित की जाती थी। वाल्पोल ने 'स्ट्रानरी हिल' का निर्माण कराया, जो कालांतर में रोमांस-कथाओं का प्रेरणा-स्रोत बना। श्रीमती रेडक्लिफ, लेलैंड, क्लारा रीव व रिचर्ड हर्ड ने 'रोमांटिक' का अर्थ बताया—साहसिक कार्यों की खोज में जाना। हर्ड ने अपनी रचनाओं में योद्धाओं और परियों, स्थापित्य-कला का वैभव व कल्पना की अछूती उड़ानों की चर्चा की, जिस का उपयोग आगे वाल्टर स्काट ने किया। उसने लिखा—'कवि की अपनी दुनिया होती है, जहां कल्पना की निरंतरता की अपेक्षा अनुभूति का काम कम होता है। वह, इसके अतिरिक्त, अतिप्राकृतिक जगत का विस्तार पाता है।'

1 The English Romantic Movement, P. 166

यह सारी पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी, बस विस्फोट की आवश्यकता थी। वह काम वर्डस्वर्थ और कालरिज के 'लिरिकल बैलेड्स' ( १७९८ ) ने पूरा किया।

विलियम वर्डस्वर्थ के आलोचना-सिद्धांत, अंग्रेजी-स्वच्छंदतावादी आन्दोलन की प्रस्तावना और नव्य-शास्त्रवादी युग की समाप्ति के चरण-चिन्ह समझे जाते हैं।[1]

## स्वच्छंदतावाद : सिद्धांत

उपर्युक्त विवेचन से स्वच्छंदतावाद के अनेक सिद्धांतों की परख हो जाती है, फिर भी हम तनिक विस्तार से उनकी व्याख्या यहां प्रस्तुत करते हैं।

विद्रोह की प्रवृति—स्वच्छंदतावाद के प्रायः सभी कवि फ्रेंच-क्रांति से प्रभावित रहे हैं, अतः राजनीति,धर्म, समाज और साहित्य की रूढियों से मुक्त होने की अकुलाहट सभी में मिलती है। वे अपने ही न्याय से प्रेरित होकर लिखने लगे थे। १८वीं शती में कवि पूर्ण स्वतंत्र नहीं था, वह नीतिज्ञ और सामाजिक आदर्शों का उद्गाता-मात्र था। नये युग में विक्टर ह्यूगो की भांति वह लिखने लगा—'मैंने उन सब कड़ियों को भी तोड़ दिया है, जिन्होंने 'जनता' शब्द को बांध रखा था...।'

क्लबों और काफी-घरों की चारदीवारी में बंद जिस साहित्यकार की आत्मा कराह उठी थी, उसे खुली हवा में सांस लेने का अवसर मिला। हिन्दी छायावाद ने भी साहित्यिक-बंधनों के विरुद्ध आवाज उठाकर कवि-वाणी को मुक्त किया था।

शिलर ने स्पष्ट कहा—'यदि हम कविता के विषय में केवल प्राचीन कवियों की कृतियों के आधार पर कोई विशिष्ट विचार बनाना आरम्भ कर दें...परंतु इस तुलना के द्वारा आधुनिकों का अवमूल्यन करने से अधिक भद्दी बात और कोई नहीं होगी।'

स्वच्छंदतावाद ने विवेक-युग की कृत्रिमताओं के प्रति विद्रोह कर यथार्थ के प्रति पूर्ण व भव्य अन्तर्दृष्टि की सजगता दिखाई; भूत और वर्तमान का सम्बंध जोड़ा और कल्पना व आस्था की सत्ता के प्रति विश्वास

---

1 A History of Modern Criticism, Vol II Rene Wellek, p. 180

प्रकट किया।[1] ह्यूम ने कहा था कि स्वच्छंदतावाद का मूल यह है कि मानव, व्यष्टि-मानव, संभावनाओं का अनंत आधान है और जिन विधियों और रीति-रिवाजों ने उसका दमन किया, वे निश्चय ही बुरे रहे होंगे।

ल्यूकस स्वच्छंदतावाद को 'अचेतन का विद्रोह' कहते हैं। उनकी अन्तरात्मा विद्रोह करती है। वे सब प्रकार के विद्रोहियों से प्यार करते हैं।

कतिपय स्वच्छंदतावादियों ने १८वीं शती में नागरिक जीवन के विरोध में काव्य-रचना की और प्रकृतवादिता का नारा लगाया। वे जहां सफल नहीं होते तो काल्पनिक लोक में चले जाते थे और विश्व की विभीषिकाओं से दूर हो जाते थे। अतः उनका पलायनवादी या अतीतोन्मुखी होना स्वाभाविक था। रेले के शब्दों में —'यदि मुझे रोमांस का एकमात्र महत्त्वपूर्ण गुण चुनना पड़े तो मैं दूरंत को चुनूंगा और रोमांस को दूरन्त-जादू कहूँगा। एवरक्राम्बी ने भी रोमांटिक-प्रवृति को 'वास्तविकता से दूर' बताया है।

कल्पना—"यदि हम किसी एक गुण के आधार पर अंग्रेजी स्वच्छंदतावादियों का अठारहवीं शती के कवियों से अंतर देखना चाहते हैं—तो यह उस महत्त्व में मिलेगा, जो वे कल्पना के साथ जोड़ते हैं।"

—सी० एम० बाउरा

स्वच्छंदतावादी स्वीकार करते हैं कि कल्पना के बिना कविता असम्भव है, वही व्यक्ति को कवि बनाती है, उसकी रचना को नव-जीवन प्रदान करती है। वस्तुतः उनकी यह धारणा लॉक के दर्शन की प्रतिक्रिया-स्वरूप सामने आयी। लॉक की धारणा थी कि मस्तिष्क का काम, मात्र प्रभावों का लेखा जोखा रखना है—उसका स्वतंत्र व्यक्तित्त्व नहीं है। वह तो 'बाह्य जगत का एक आलसी दर्शक' मात्र है। ईश्वर भी इस जगत् का एक अंग है। स्वच्छंदतावादियों के लिए धर्म-दर्शन का यह स्वरूप बिल्कुल अपरिचित था। काव्य के सम्बंध में भी लॉक की धारणा बिल्कुल सतही थी—कविता को वह मात्र वैदग्ध्य समझता था, जिसका काम विचारों को जोड़ना और आनन्ददायक चित्र-मात्र तैयार करना था। लॉक ने मस्तिष्क को निष्क्रिय बताया था, पर स्वच्छंदतावादियों ने उसे सक्रिय मानते हुए कल्पना को मस्तिष्क का महत्त्वपूर्ण कार्य बताया। ब्लेक ने इस कल्पनायुक्त

1 Nineteenth Century Studies —Basil Willey, p. 108

विश्व को चिरंतन बताया व कल्पना को दिव्य शक्ति। ब्लेक के लिए कल्पना व ईश्वर में कोई अन्तर नहीं था—ईश्वर ही कल्पना शक्ति के रूप में मानवमन में निवास करते हैं। कल्पना, मानव का आध्यात्मिक गुण है। लगभग यही विचार वर्डस्वर्थ, कॉलरिज व शैली के भी हैं। वे मानते थे कि कल्पना सत्य का उद्घाटन करती है। कल्पना के कारण ही धूमिल वस्तुएं उजागर हो जाती हैं—इसका सम्बंध अन्तर्दृष्टि या सहजानुभूति से है। अन्तर्दृष्टि कल्पना को कार्य-हेतु जगाती भी है और इसके द्वारा स्वयं भी तीव्र बनायी जाती है।[1]

जगत् की विभीषिकाएं भी कई बार इन कवियों को काल्पनिक जगत् में ले जाती हैं। यह संसार, जहां स्थूल पदार्थों में अभिरुचि लेने वाले लोग अधिक हैं, जहां दुखी, बीमार और निराश प्राणी अधिक रहते हैं, जहां प्यार की घड़ियां थोड़ी देर तक भरना कर समाप्त हो जाती हैं—कल्पना ही उन्हें दूसरी दुनिया में ले जाती है। "वे इस जगत् को छोड़ किसी अद्भुत एन्द्रिय जगत् में विचरण करने लगते हैं। उनका मस्तिष्क सूक्ष्म भावों को अधिक तत्परता के साथ ग्रहण करता है और वे सूक्ष्माति-सूक्ष्म भावभीसियों को पकड़कर बड़ी सुंदरता के साथ प्रस्तुत करते हैं। उन्हें साधारण पदार्थों तथा दार्शनिक विचारों में पहले से अधिक अर्थ भरा प्रतीत होता है।"

कल्पना के रंग में रंगे प्रकृति के विविध उपकरण उन्हें नवस्फूर्ति, नवप्रेरणा, आशा व आनंद प्रदान करते हैं—इन्द्रधनुष, पश्चिमी हवा, स्काई-लार्क, नाइटिंगेल सभी उन्हें नये भाव प्रदान कर जाते हैं।

अदृश्य जगत् के प्रति मोह, स्वच्छंदतावादियों को प्रेरणा प्रदान कर उन्हें महान् रचयिता बनाने में समर्थ हो सका। जब तक उन्हें संतोषजनक उत्तर नहीं मिला, तब तक वे काल्पनिक छानबीन करते रहे। कल्पना की दिव्य-ज्योति के सम्मुख उन्हें वैज्ञानिक जगत् निस्सार दृष्टिगत हुआ। वे सामान्य तथ्यों से कल्पना के सहारे विशेष तथ्यों की ओर उन्मुख हुए। डा० जॉनसन ने कहा था—"सामान्य प्रकृति के सही प्रतिनिधान के अतिरिक्त

---

1 'They combine imagination and truth, because their creations are inspired and controlled by a peculiar insight.' —The Romantic Imagination, Bowra, p. 1

कुछ भी, अधिक व्यक्तियों को अधिक समय तक प्रसन्न नहीं कर सकता," किंतु ब्लेक ने इस तथ्य का मजाक उड़ाते हुए कहा था—'सामान्य की ओर उन्मुख होना मूर्ख बनना है।' सभी ज्ञान, विशिष्ट होते हैं। ब्लेक ने ऐसा विचार काल्पनिक जगत् में रहने के कारण बताया। वैसे स्वच्छंदतावादियों की भी ऐसी धारणा रही है।[1] शैली ने तो कविता को 'कल्पना की अभिव्यक्ति' कहा है, इसके माध्यम से बिखरे तत्त्व एकत्र किये जाते हैं। कल्पना के द्वारा ही व्यक्ति अपनी उदात्त शक्तियों को पहचानने की क्षमता रखता है, इसलिये यह व्यक्ति की सर्वोत्तम संकाय है। कवि ही जगत् की औपचारिकता का पर्दाफाश कर सौंदर्य के दर्शन कराता है। कीट्स के अनुसार कल्पना, जिस सौंदर्य का उद्घाटन करती है, उसमें सत्यता अवश्य रहती है—कीट्स के लिये सत्य ही सौंदर्य है और सौंदर्य सत्य।

१७वीं शताब्दी से पूर्व कल्पना और अतिकल्पना (फैंसी) एक ही समझे जाते थे, पर बाद में दोनों में अंतर स्पष्ट होने लगा। नव्य-शास्त्रवादी युग में कल्पना सृजनात्मक नहीं अनुकरणात्मक समझी जाती थी और फैंसी, मानसिक बिम्बों का संश्लेषण कर नव-चित्रों का निर्माण करने वाली मानी जाती थी। धीरे धीरे अतिकल्पना का कार्य हल्के मनोरंजक चित्रों का निर्माण करना और कल्पना का कार्य गंभीर, उदात्त चित्रों का निर्माण करना स्वीकार किया गया। स्वच्छंदतावादी समीक्षकों ने इन दोनों की तुलना कर कल्पना का महत्त्व प्रतिपादित किया।

विवेक और कल्पना, प्रकृति की दो शक्तियां मानी गई हैं। विवेक का काम विश्लेषण कर वस्तुओं की सच्चाई का पता लगाना है, तो कल्पना का का काम वस्तुओं को तोड़ने के साथ जोड़ना भी है। जीवन के किसी महत्तम क्षण में कवि ने किसी ज्योति की झलक देखी होगी, जिसकी कोई विशिष्ट रूपरेखा नहीं—कल्पना, जीवनी-शक्ति लेकर कवि के पास चुपके से पहुँचती है और तत्सम्बंधी भावनाओं के विविध क्षेत्रों में इसका विस्तार करती है।[२] कॉलरिज ने बताया कि कल्पना, विचार और वस्तु के बीच मध्यस्थ बनकर नवनिर्माण का कार्य करती है। उन्होंने उसकी सर्जनात्मक और समन्वयात्मक-शक्ति पर महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रकाश डाला।

---

1 The Romantic Imagination—Bowra, p. 11

२ रोमांटिक साहित्यशास्त्र—डॉ० उपाध्याय, पृ० ७५

कल्पना के सम्बंध में रस्किन का मत है कि यह जाग्रत होकर ऐसे चित्रों का निर्माण करती है जो मानवहृदय को प्रभावित करने में सक्षम होते हैं। 'यही विधायक कल्पना भावक की भावयित्री कल्पना को जगाकर उसे काव्य-रसास्वादन कराती है।' कवि-कल्पना क्षुद्र वस्तु पर नूतन रंग चढ़ाकर, उसे व्यवस्थित व संयोजित कर प्रभावशाली बनाती है। उदात्त भाव व परिस्थिति में कल्पना ही चार चांद लगा देती है।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि स्वच्छंदतावादियों का काम कल्पना-शक्ति के माध्यम से, पल-पल परिवर्तित जगत् के स्वरूप को पहचानना था। कल्पना उनके लिये महत्त्वपूर्ण प्रश्न था, क्योंकि ईश्वर सम्बंधी धारणा का यह एक अंग था।[1]

**स्वच्छंदतावाद के प्रकार और कवि**—अनेक समीक्षकों ने काव्यकृतियों के आधार पर स्वच्छंदतावाद के विभिन्न प्रकार बताये हैं। स्वच्छंद कवि अनेक रूपों में हमारे सम्मुख आते हैं:—

(क) निराशावादी—वे कवि, जो अपनी आन्तरिक अनुभूति को अवसाद के साथ अभिव्यक्त करते हैं।

(ख) आशावादी—वे कवि, जो मानव के उच्चतर मूल्यों व विषमताओं के समन्वय में निरंतर लगे रहते हैं।

(ग) निष्क्रिय—वे कवि जो भावना व कल्पना के सहारे (वाह्य जगत् से उठकर) आन्तरिक जगत में आश्रय ढूंढते हैं। वाह्य घटनाओं की तुलना आन्तरिक जगत के दृश्यों व घटनाओं से करके संतुष्ट रहते हैं।

(घ) सक्रिय—वे कवि, जो आन्तरिक जगत् में रहते हुए भी आशा-निराशा के गीत गाते हुए समाज को सुधारना चाहते हैं या व्यंग्य-गीतों से उस पर प्रहार करते हैं।

इन वर्गों के अतिरिक्त स्वप्निल जगत् में विचरण करने वाले 'फैंटेस्टिक' कहलाते हैं। जो पृथ्वी और मानव-अनुभव की कोई बात नहीं करते, वे 'अजनवी' कहलाते हैं, रहस्यमयी अनुभूतियों का चित्रण करने वाले रहस्यवादी या दार्शनिक कहलाते हैं। इसी प्रकार सामाजिक स्वच्छंदतावादी मानवतावादी आदि भेद भी किये जा सकते हैं।[2]

---

1 Nineteenth Century Studies—Basil Willey, p. 31

2 Early 19th Century English Poetry—Dr. A. N. Kapur, p. 20

स्वच्छंदतावाद ने कवि को नये परिवेश में देखा और उसके महत्व को समझा। कवि की पर्यवेक्षण, वर्णनात्मक और अनुभवात्मक शक्तियों का उद्घाटन पहली बार किया गया।

नव्यशास्त्रवादी-समीक्षक, कवि को अनुकरणकर्ता-मात्र समझते थे, उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व और कृतित्व पर उनकी दृष्टि नहीं गई थी। नये आन्दोलन ने कवि और उसके कर्म पर फिर से विचार किया।

शिलर ने 'प्रकृति का अन्वेषी' और 'प्रकृति-स्वरूप' बताते हुए भावुक और सरल कवि में अंतर बताया। वर्डस्वर्थ ने बताया कि उसकी आत्मा विशाल होती है और उसे मानव-प्रकृति का अधिक गंभीर ज्ञान होता है। वह, कॉलरिज के अनुसार मानव की सम्पूर्ण आत्मा को गतिमान करता है और उसकी विविध शक्तियों को, उनके सापेक्षिक महत्व के अनुरूप, परस्पर सम्बद्ध रखता है। शैली ने उसे चिरंतन, असीम एवं अद्वैत का समभागी बताते हुए उसे संसार के अविहित विधाता की संज्ञा दी, तो कीट्स ने उसके निर्लिप्त व्यक्तित्व की प्रशंसा की।

इस प्रकार स्वच्छंदतावादी कवि ने परिचित तथ्यों की अपेक्षा यथार्थ के उच्च धरातल का संस्पर्श किया है। हम उसकी विचित्रता नहीं उसके विचारों की सत्यता से प्रभावित होते हैं। वह कविता का उत्स दैवी उत्प्रेरणा को मानता है और काव्य को आत्माभिव्यक्ति। काव्य सहज उद्रेक है। काव्यकार का धर्म इसी अवस्था की अभिव्यक्ति करना है, वह अपने आपको दिव्य-द्रष्टा, सत्यदर्शी तथा आदर्शवादी मानता है।[1]

कवि-दार्शनिक का महत्त्व भी प्रतिपादित किया गया। कलाकार ही सत्य के प्रतीक की सृष्टि करता है, वह नयी कलात्मक धारणाओं को सत्यता में परिणत करता है। कॉलरिज ने कहा था कि कोई भी व्यक्ति, महान् दार्शनिक हुए बिना महान् कवि नहीं बन सकता।

काव्य का स्वरूप—जैसा कि लिखा जा चुका है कि नव्य-शास्त्रवादी युग में कविता, वैदग्ध्य से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं समझी जाती थी। नये युग में शिलर ने काव्य को उच्च भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करते हुए कहा—'कविता वस्तुतः मानवता की, यथासंभव उसके समग्र रूप में, अभिव्यक्ति है।' वर्डस्वर्थ ने भावना को कविता का प्राण मानते हुए कहा कि

---

१ मानविकी पारिभाषिक कोश, पृ० २२६

वह 'बलवती भावनाओं का सहज उद्रेक है, शांत अवस्था में भाव के स्मरण से उसका उद्भव होता ।' हैजलिट के अनुसार 'कविता ही भावना का सर्वोत्तम संभापण है। कल्पना के साथ ही भावना की ज्वाला मिलकर बिजली-सी चमक पैदा करती है और हमारी अन्तरात्मा तक को वेध डालती है।' क़ारलाइल के मत में कविता, मनुष्य के सम्पूर्ण अस्तित्व व व्यक्तित्व का संगीत है।

शैली ने अपने विख्यात निबंध 'डिफेन्स ऑफ पोयट्री' में काव्य की महत्ता पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उनकी दृष्टि में, कविता शाश्वत सत्य-रूप में अभिव्यक्ति जीवन का ही प्रतिविम्ब है। वह एक दिव्य-शक्ति है और 'सर्वाधिक सुखी एवं श्रेष्ठतम मनों के श्रेष्ठतम और सर्वाधिक सुखी क्षणों का लेखा-जोखा है।' वह संसार से परिचितता का अवगुण्ठन हटा देती है और अनावृत तथा सुपुत सौंदर्य का उद्घाटन करती है। कीट्स, कविता में संवेदना को विशेष महत्त्व देते हैं तो रस्किन उदात्त भावों को। इस प्रकार काव्य-सौंदर्य का परिचय विस्तृत फलक पर दिया गया।

काव्य में प्रयुक्त विषयों पर भी विचार हुआ। नागरिक-जीवन और श्रेष्ठ समाज की चमक दमक से हटकर वे ग्राम्य-जीवन की ओर उन्मुख हुए। उनको साधारण मनुष्य का साधारण जीवन, उसकी घटनाएं, अनुभव, आदर्श, स्वाभाविकता, शांति और संतोप विषय-रूप में रुचिकर हुए। ग्रामवासियों के सरल जीवन और ग्राम्य-प्रकृति की सौम्यता से वे बड़े प्रभावित हुए और समझने लगे कि चमत्कारपूर्ण घटनाओं और जोश का प्रयोग काव्य को हीन बनाता है और मानव को विक्षिप्त।[1]

काव्य-भाषा के सम्बंध में भी धारणा बदली। भाषा भी ग्राम्य-जीवन के अनुरूप होनी चाहिए। काव्य-परम्परावादी, अलंकृत, समास-युक्त भाषा के प्रयोग के स्थान पर वर्डस्वर्थ ने कहा कि काव्य-भाषा, उसी भाषा से ग्रहण की जानी चाहिए, 'जिस का प्रयोग, मनुष्य वास्तव में बोलचाल में करता है।' उन्होंने स्वीकार किया कि गद्य और पद्य की भाषा में न कोई तात्विक अंतर है और न हो सकता है। शैली ने कहा—'एक अकेला शब्द भी चिर-ज्वलंत विचार का स्फुलिंग हो सकता है।'

---

१ आलोचना : इतिहास तथा सिद्धांत—डॉ० खत्री, पृ० २७०

स्वच्छंदतावाद का अभिव्यक्ति-पक्ष भी अनुभूति-पक्ष की भांति सशक्त एवं महत्वपूर्ण है। 'यह...उस साहित्यिक कृति पर भी लागू होता है, जिसमें रचयिता निर्धारित कलात्मक नियमों की अवहेलना करके अपने व्यक्तित्व को अभिव्यंजित करता है।' अनुभूति की तीव्रता नयी भाषा-शैली की मांग करती है और पुरानी की उपेक्षा। इसलिये स्वच्छंदतावादी-शैली ने नये ढंग से स्वयं को प्रस्तुत किया। एबरक्राम्बी ने ठीक कहा था कि जिस प्रकार स्वच्छंदतावाद किसी समय या संस्कृति विशेष की वस्तु नहीं है, उसी प्रकार वह किसी शैली-विशेष की वस्तु भी नहीं है।[1]

स्वच्छंदतावादी शैली की विद्रोह-भावना ने नयी काव्य-पद्धति का निर्माण किया है। अपने समय की काव्य-भाषा का विशेपज्ञ ही अपने पूर्वजों की अपेक्षा अपने समय की भाषा को अच्छा पहचान सकता है, अतः नये युग में उस कवि की काव्य-भाषा पर उसके समय की भाषा के आधार पर टिप्पणी होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रत्येक शब्द नया संदर्भ-अर्थ रखता है।

छंद-योजना के सम्बंध में मतभेद रहा है। वर्डस्वर्थ ने इसकी अनुपयुक्तता और कॉलरिज ने इसकी उपयुक्तता पर प्रकाश डाला। मानव-मन संगीत और समता पसंद करता है। इसलिये उसे छंदयुक्त कविता अधिक रुचिकर लगती है।

संक्षेप में, स्वच्छंदतावादी साहित्यकार अभिधात्मक शब्दों का अधिक प्रयोग न कर व्यंजनात्मक शब्दों का अधिक प्रश्रय लेता है। सांकेतिकता इस वाद की भाषा का प्रमुख गुण है। इसलिये यहां प्रतीकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया जाता है। सीधी सपाट भाषा के स्थान पर वे ध्वन्यात्मक, प्रतीकात्मक और कभी कभी रहस्यात्मक भाषा का प्रयोग अधिक करते हैं।

वैयक्तिकता : ह्यूम ने कहा था कि रोमांटिसिज्म का सार व्यक्ति-पूजा में निहित है। स्वच्छंदतावादी कवियों ने 'अहं' को विशेष महत्त्व दिया और अपनी रचनाओं में अपनी दृष्टि, रुचि और भावना को प्रधानता दी। उन्होंने

---

1 'Romanticism is not an affair of any particular time or culture : still less of any particular style.'
—Romanticism p,

स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म को महत्व प्रदान करते हुए अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों, वेदनाओं, निराशाओं को वाणी दी। इसलिये उनकी रचनाओं में भावुकता व गहरी संवेदना के दर्शन होते हैं। रोमांटिक रचनाओं के नायक आत्मकेंद्रित व्यक्ति होते हैं, जिन के जीवन में करुणा, अवसाद व निराशा कूट कूट कर भरी हुई होती है। स्वातंत्र्य की अदम्य लालसा से प्रेरित होकर वे, विवेक के स्थान पर भावुकता, यथार्थ के बदले आदर्श व आवश्यकता के बदले आकांक्षा को ही प्रश्रय देते हैं। रोमांटिक कवि भी अपने जीवन में नियमों और रूढ़ियों का पूर्णरूपेण विरोध करते हुए स्वयम्-विचार-प्रवाह और सहजज्ञान या अन्तःप्रेरणा के आधार पर काम करते हैं। इसलिये उनकी लेखन-शैली भी आडम्बर-विहीन व स्वच्छंद होती है। एबरक्राम्बी के अनुसार स्वच्छंदतावादी बाह्य स्थूल नियमों के प्रति विद्रोह करता है।

स्वच्छंदतावाद में व्यक्ति के प्रति विशेष आग्रह व ममत्व मिलता है—उसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने साम्राज्य में पूर्ण स्वच्छद है। [1]

यह स्वच्छंदता इतनी नहीं थी कि कवि अन्य सभी वस्तुओं को भूल जाये। कभी वे अवश्य 'साधारण अनुभव के धरातल से हवा में चढ़ना चाहते थे', पर हर समय यह बात नहीं थी। बाह्य-जगत् से भी उनका सम्पर्क रहा है। 'स्वच्छंदतावादी कवि अपनी वैयक्तिक काल्पनिक अनुभूति के माध्यम से संसार के उन अप्राप्य तथा गोप्य साधनों एवं तत्वों की अभिव्यक्ति करता है, जिनके सुलभ होने से मानव जीवन के श्रेष्ठतर होने की सम्भावना रहती है।'[२] मनुष्य कल्पना व कामना (व्यक्तिगत स्तर पर) करना छोड़ दे, तो उसके जीवन में शेष रह ही क्या जाये? स्वच्छंद-कवि की वैयक्तिकता उनकी सामाजिकता का एक चरण है, पर उसका अपना महत्त्व है। वह निरी कवि की एकांत अनुभूति नहीं होती, बल्कि उसमें सब की रुचियों को प्रभावित करने की क्षमता भी होती है। शास्त्रीय कवि बंधी

---

1 'Romanticism exalted above all else the individual view. Every man was a Byron, seeking to utter the voice of his own heart for good or evil."

—The Romantic Triumph—Osmond, p. 220

२ आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छंद-धारा—त्रिभुवन सिंह, पृ० २५

बंधाई परिपाटी पर चलने के कारण सब की रुचियों को संतुष्ट करने में सफल नहीं हो पाता। केवल परिचित तथ्य को अभिव्यक्त करना और बात है, हृदय की अतुल गहराई से निकली अनुभूतियों को सामने बिखेरना और बात। वर्डस्वर्थ को ही नहीं, प्रत्येक स्वच्छंद-कवि को लगता है कि विश्व हमारे साथ अन्याय कर रहा है। ('The world is too much with us')।

हिन्दी छायावादी कवि भी अपनी ऐकांतिकता के लिये प्रसिद्ध हैं। स्वच्छंद और छायावादी कवियों की तुलना करते हुए श्री दीनानाथ 'शरण' लिखते हैं—'स्वात्मा-सागर में किल्लोलित भावना-लहरियों का लास, कल्पना की झीनी झीनी सुंगधपूर्ण हवा ऐकांतिक चिंतन से उत्थित आध्यात्मिक विचार-स्फुरणों के शुभ्र राजहंसों की मधुमय वाणी की प्रतिध्वनि ही हमें दोनों युग के कवियों की रचनाओं में सुनने को मिलती है। स्वकेन्द्रिता ( Subjectivity ) दोनों युग के कवियों की प्रमुख विशेपता है।"[१]

स्वच्छंदतावादी 'अहं-भावना', निरालाजी की इस पंक्ति में मिलती है—'मैंने 'मैं' शैली अपनाई।' इस प्रकार प्रकृति, मानव और जगत् को आत्म-प्रधान दृष्टि से देखा गया। 'छायावाद' के सम्बंध में कहे गये महादेवी जी के शब्द व्यातव्य हैं—'सृष्टि के बाह्याकार पर इतना लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अभिव्यक्ति के लिये रो उठा।'

स्लॉटनेप्ट ने 'स्ट्रेंज सीज ऑफ थाट' ( १६४५ ) में पहले तो लिखा कि स्वच्छंदतावाद ने व्यक्ति की भावना को प्रतिष्ठित किया, फिर अपने कथन को बदलते हुए कहा कि व्यक्ति की भावना ने स्वच्छंदतावाद को प्रतिष्ठित किया।[२]

प्रकृति—स्वच्छंदतावाद ने प्रकृति को बंधनों से मुक्त किया। इस से पहले का युग प्रकृति के नागरिक और सुव्यवस्थित रूप को सजाने-संवारने में लगा था, पर नये युग में प्रकृति के मुक्त प्रांगण में कवि का मन-मयूर नाच उठा। वह उसके पल पल परिवर्तित रूप को देखकर विहँस उठा। स्वच्छंद-कवियों ने अपने काव्य का सर्वोत्तम पुष्प प्रकृति के चरणों

---

१ छायावाद : विश्लेषण और मूल्यांकन, पृ० ११७

2 British Romantic Poets— Shiv K. Kumar, p. 5

में अर्पित किया। उन्होंने प्रकृति की ऊपरी झलक तक ही स्वयं को सीमित नहीं रखा, अपितु उसे जीवन के साथ जोड़कर देखा। वे केवल फोटो खींचने के लिये प्रकृति का सान्निध्य पसंद नहीं करते थे, अपितु उसके सौंदर्योद्घाटन के हेतु उसके निकट जाते थे। यही कारण है कि प्रकृति का वैज्ञानिक या यथातथ्य चित्रण स्वच्छंदतावादी रचनाओं में कहीं नहीं मिलता।[1]

स्वच्छंदतावादी कवियों ने प्रकृति को स्वतःपूर्ण, जीवंत व ईश्वरीय ज्योति से प्रतिभासित माना। वह मानव को शाश्वत सत्य और मानवता की शिक्षा देती है; नैतिकता और आध्यात्मिकता का पाठ पढ़ाती है। उसके विशाल उपकरणों में मानव-आत्मा के दर्शन होते हैं। शैली को प्रकृति में बौद्धिक सौंदर्य दृष्टिगत होता है तो कीट्स, इसकी अभिव्यक्ति ऐन्द्रियगत सूक्ष्मता और संगीतात्मकता के सहारे करते हैं और उनमें उन्हें अर्द्ध-मानवता और अर्द्ध-देवत्व के दर्शन होते है। बायरन को मनुष्य से भी अधिक प्रकृति से प्यार है।

हिन्दी-छायावादी कवि भी प्रकृति के अणु अणु में आत्मा की हलचल का अनुभव करते हैं। वे प्राकृतिक वस्तुओं में किसी अगोचर-अज्ञात सर्वत्रव्यापी चेतनासत्ता की छाया देखकर चकित रह जाते हैं—[२]

'छिपा छायावन में सुकुमार, स्वर्ग की परियों का संसार'—पंत

स्वच्छंदतावाद ने प्रकृति के अनेक रूपों के दर्शन कराये। बायरन ने प्रकृति के माध्यम से स्वतन्त्रता-सम्बंधी अपनी विचारधारा का परिचय दिया।[3]

सौंदर्य – प्रेम और सौंदर्य, स्वच्छंदतावाद के प्रेरक तत्त्व हैं। सौंदर्यशास्त्रियों के दो निकाय दृष्टिगत होते हैं —आदर्शवादी और रूपवादी। प्रथम वर्ग के लोग सौंदर्य को वस्तु का अखण्ड गुण मानते हैं, दूसरे वर्ग वाले सौंदर्य का सम्बंध वस्तुविशेष के आकृति-विधान से जोड़ते हैं।

स्वच्छंदतावादी कवि, आदर्शवादी सौंदर्य-प्रेमी हैं। वे सौंदर्य और सत्य को, कीट्स की तरह, एक ही मानते हैं। कीट्स का विचार था कि

---

1 History of English Literatiure—A.D. Pant, p. 182-3

२ छायावाद : विश्लेषण और मूल्यांकन—श्री 'शरण', पृ० १२१

3 'Yet Freedom ! yet thy bannar torn but flying,
Streams like the thunder, storm against the wind.'
—Byron

प्रत्येक महान् कवि को सौंदर्य की परख अन्य तत्त्वों की अपेक्षा अधिक होनी चाहिए, क्योंकि सौंदर्यपूर्ण वस्तु सदा के लिये आनंदायक होती है।

हेगल ने बताया था कि सौंदर्य का उत्कृष्टतम रूप रोमांटिक-कला में ही दृष्टिगत होता है। प्रतीकात्मक और क्लासिकल कलाओं में ऐसी वात नहीं है, वे केवल आत्मा के तटवर्ती प्रदेशों में भटकती रहती हैं, जबकि रोमांटिक कला आत्मा या चेतना की गहराइयों में उतर कर एक आध्यात्मिक-क्रिया वन जाती है। वह अन्य कलाओं की भांति सौंदर्य के किसी अंश का मात्र ऐन्द्रिय प्रत्यय नहीं कराती।[1] प्रसादजी भी कहते थे—

'उज्ज्वल वरदान चेतना का, सौंदर्य जिसे सब कहते हैं।'—कामायनी

स्वच्छंदतावादियों का सौंदर्य-वोध प्रकृति के संसर्ग से उद्भूत हुआ है। नारी के सौंदर्य को भी उन्होंने खुली आंखों से देखा था। वायरन ने 'डॉन जान' में अवसादपूर्ण सौंदर्य का एक चित्र दिया है—'शी लुक्ड ए सैडनेस स्वीटर दैन हर स्माइल,' जिसकी तुलना प्रसादजी की इन पंक्तियों से हो सकती है 'ओ लाज भारे सौंदर्य बता दो मौन, वने रहते हो क्यों ?'

**नैतिकता और आदर्श**—स्वच्छन्दतावाद ने अनास्था के विरुद्ध आस्था का जयघोष किया। अठारहवीं शती में अनास्था का वोलवाला था। वे आदर्श-नैतिकता से जुड़े हुए नहीं थे। विवेक की प्रधानता थी। आस्था का स्वर स्वच्छन्दतावाद ने मुखरित किया। उन्होंने बताया कि एक छोटी-सी डाली को मानव भी साधु-संतों से अधिक ज्ञानदान कर सकती है।

स्वच्छन्दतावाद पृथ्वी पर स्वर्ग लाने के सपने देखता है। वह एक 'बिखरे हुए धर्म' की भांति है। विवेकवाद के विकृत वाग्जाल में फंसकर मनुष्य जब अपनी स्वाभाविकता खो वैठता है, तो वह आदर्श का मार्ग ही ग्रहण करता है।

**अवसाद और पलायनवादिता**—स्वच्छन्दतावादी कवि जीवन की विषमताओं से हटकर किसी मनोरम स्थान पर खो जाना चाहते हैं। अतिकल्पनाओं के संसार में बैठकर, संसार को दुख-द्वन्द्व का मूल मानकर—जहां सौंदर्य स्थिर नहीं, जहां निराशा, अवसाद और रुग्णता घर घर व्याप्त है—कवि कल्पना के पंखों पर मनोरम स्थलों में विहार करना चाहते हैं। यही आकांक्षा कीट्स ने 'ओड टू द नाइटिंगेल' में व्यक्त की है और

---

१ सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व—डॉ० कुमार विमल, पृ० ७६

प्रसाद जी ने—'ले चल मुझे भुलावा देकर' में। प्रो० शिवनंदन के अनुसार छायावादी कवि नियति द्वारा जिस दुनिया में रहने को बाध्य है, उस दुनिया की भीषण वास्तविकताएं उसे बर्दाश्त नहीं और जिस सुन्दर और मधुर लोक की वह कामना करता है उसे इस धरती पर उतार लाना उसके वश की बात नहीं, पर वे स्वीकारते हैं कि "इस पलायनवाद के मूल में जवाबदेही या गैर जिम्मेदारी की भावना नहीं है, बल्कि स्वतंत्रता और सामंजस्य की ऐसी उत्कट आकांक्षा है, जिसके अभाव में कवि वर्तमान की वास्तविकता से समझौता नहीं कर सकता है।" रोमांटिक-काव्य पर भी यही बात लागू होती है।

स्वच्छंद कवि में अहंभाव अधिक होता है, अतः आन्तरिक भावनाओं को अभिव्यक्त करते समय निराशा का भाव स्वतः आ जाता है।

अद्भुत का पुनर्जन्म—डा० हेज का मत है कि "रोमांस का सार रहस्य है।" अद्भुत व रहस्यमयी घटनाओं से ही रोमांस को बल मिलता है। अज्ञात वन-प्रांतर के मार्ग, कन्दराएं ही रोमांटिक हैं, जनमार्ग नहीं। खुली सरिता की अपेक्षा गुह्य प्रपात, दिन की अपेक्षा चंद्रिका रोमांटिक है—ये सब प्रेरणा व उत्साह भरने वाले उपकरण हैं, जो स्वच्छंद प्रकृति के कवियों को पसंद हैं।

स्वच्छंदतावाद की अभिरुचि विचित्र, अद्भुत, अतिप्राकृतिक और जादुई वस्तुओं तथा विषयों की ओर रही है। अतिप्राकृतिक और सत्य का मेल; साधारण अनुभूत वस्तुओं में नवीनता की खोज; अद्भुत तत्त्वों का सत्य की कसौटी पर खरा उतारना आदि लक्ष्य इन कवियों के रहे हैं। वर्डस्वर्थ प्रत्येक वस्तु की गहराई में पैठकर उसका रहस्योद्घाटन करते रहे और कालरिज अद्भुत को नये आयामों में प्रस्तुत करते रहे। 'द एन्शियंट मेरिनर' में कालरिज ने केवल भूत-परियों की रहस्यमयी क्रीड़ाओं से हमें चौंकाया ही नहीं है, अपितु उन रहस्यमय तत्त्वों को जीवन की अनुभूत घटनाओं के साथ जोड़कर प्रस्तुत किया है, जिससे संभाव्यता को कोई क्षति नहीं पहुंची। इवान्स ने ठीक कहा है कि 'आधुनिक कविता ने कालरिज के इस रूप का अनुसरण किया है।'

अप्राकृतिक तत्त्वों को साहित्यिक रंग-रूप में प्रस्तुत करना बहुत बड़ी विशेषता है। १८ वीं शती की 'साधारण विश्व' की विचार-धारा की प्रतिक्रिया-स्वरूप इन लोगों ने 'विचित्र और असाधारण' के माध्यम से

अद्भुत तत्त्व की खोज की ओर काव्य में आकर्षण पैदा किया। किप्लिंग ने कहा है—'याद रखो, लाखों में पांच छोटी पंक्तियां भी नहीं हैं, जिनके लिए कोई कहे—यही शुद्ध जादू है।' स्वच्छंदतावाद ने इसी 'शुद्ध जादू' को जन्म दिया। उन्होंने इस तत्त्व को परम्परा के बंधनों से हटा कर आश्चर्य-मिश्रित आनंद की कोटि में रखा। वस्तुतः बालक जैसी सरलता और पवित्रता को हृदयंगम करके ही कवि ऐसा करने में समर्थ हो सकता है।[1]

स्वच्छंद-कवि अज्ञात के रहस्योद्घाटन करने में रत रहता है, दूरंत की रहस्यमयी वस्तुओं को पहचानने की उसमें आकुलता और जिज्ञासा है। वह दिव्य की आकांक्षा नहीं करता किंतु धूमिल व रहस्यमयी वस्तुओं का अवगुण्ठन हटाना चाहता है। इसीलिए पुरातनता के प्रति उसे विद्रोह करना पड़ता है। हिन्दी छायावादी कवि में भी यही भावना विद्यमान है—

'तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूं, उस ओर क्या है?'

पहले वह रहस्यों और विचित्रताओं के कांतार में भटकता है, भावनाएं उसका साथ देती हैं; क़ल्पना उसका पथ-पदर्शन करती है, एक आग-सी सीने में लिये हुए वह नाना प्रासादों व खण्डहरों में झांकता है और अंत में थका-हारा वह जीवन की 'मौन लघु ध्वनि' ('The still small voice') को सुनकर शांति से बैठ जाता है।

इस अद्भुत-तत्त्व के कतिपय परिणाम भी निकले हैं। इस दिशा में उन्मुख होने पर कवियों ने लॉक के यांत्रिक दर्शन का त्याग कर मन की आदर्शवादी प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिया। ब्लेक ने स्पष्ट कहा कि दर्शन हमारा शत्रु है, क्योंकि यह हमारे आनंद और कौतूहल को नष्ट कर देता है। कीट्स ने बताया कि ठंडे दर्शन के स्पर्श-मात्र से सारे आकर्षण भाग जाते हैं।

**मध्ययुगीन प्रवृत्ति**—हम ऊपर कहे चुके हैं कि १८वीं शती में ही लोग युग की बौद्धिकता से ऊबकर मध्य युग की ओर देखने लगे थे, जिसके विविध चित्रों को वालपोल, पर्सी, हर्ड आदि साहित्यकार प्रस्तुत कर रहे थे। इनके प्रभाव-स्वरूप फ्रांस में और इंगलैंड में योद्धाओं, सुंदरियों, दुर्गों व रोमांसों के रोमहर्ष चित्रों की अवतारणा वहां के उपन्यासों में होने

1 The Romantic Imagination--C. M. Bowra, p. 285-89

लगी। स्कॉट के 'ओल्ड मॉरेलिटी', 'रोवराय' आदि उपन्यासों में मध्ययुग सजीव हो उठा है।

कीट्स की 'ला वेल...' और 'ईव आफ सेंट एग्नस' रचनाएं, मध्ययुगीन रोमानी पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। मध्य-युग की कला में सजाने-संवारने की प्रवृत्ति विशेष-रूप से पायी जाती है। कलाकृति की बारीक से बारीक वस्तु की सजावट की जाती है। स्वच्छंदतावादी कवियों ने इन्हीं बारीकियों को अपनी रचनाओं में उतारा है। इसके लिये शेली की 'एडोनिस', कालरिज की 'एन्शियंट मैरिनर', बायरन की 'चाइल्ड हेराल्ड,' विशेषत. द्रष्टव्य हैं। 'चाइल्ड हराल्ड' में ग्रीक के पुराने गौरव को वर्तमान से जोड़ा गया है।[1]

हेन ने स्वच्छंदतावाद को 'मध्ययुगीन कविता का पुनर्जागरण' कहा है। ग्रियर्सन की मान्यता है कि स्वच्छंदतावाद की मध्य-युगीन प्रवृति अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच सभी आन्दोलनों में लक्षित होती है, और यह प्रवृत्ति तत्कालीन युग के जीवन और गंभीर विचारों को प्रतिविम्बित करने के कारण रोचक नहीं, अपितु इस कारण से है, कि उसमें मानव-स्वप्नों का प्रतिनिधित्व हुए बिना नहीं रह सकता। मध्ययुगीन शौर्य और उदारता की पुनरावृत्ति करने वाला कवि जानता है कि वह स्वप्नदर्शी हो गया है।[2]

अतीत की ओर देखने की प्रवृत्ति होते हुए भी स्वच्छंदतावादी आन्दोलन की दृष्टि स्पष्ट ज्ञान की ओर ही रही है। ज्ञान की उपलब्धि के लिए उसने अतीत की ओर देखा, किंतु रूढ़ियों के बंधन हटा कर ही। किसी प्रकार की औपचारिकता व पूर्वाग्रहों को उसने स्वीकार नहीं किया। उनके लिए प्राचीन इतिहास की धारणा पवित्र धर्म के समान थी, जिसमें वीर-योद्धा, धर्म-रक्षा हेतु कटिवद्ध रहते हैं। ईसाई-धर्म भी इस आन्दोलन को प्रभावित किये हुए था।

मध्ययुगीन प्रवृत्ति को स्वच्छंदतावाद का मूलमंत्र मानते हुए बीयर्स ने कहा कि मध्ययुग के जीवन और विचारों का आधुनिक कला और विचारों में पुनः प्रस्तुतिकरण ही स्वच्छंदतावाद है।[3]

निष्कर्ष — उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वच्छंदतावाद एक

1 English Romantic Poetry—Dr. R. B. Sharma, p. 189
2 The Background of English Literature—Grierson. p. 290
3 A History of Romanticism—Beers, p. 16

महत्त्वपूर्ण साहित्य—सिद्धांत है। इसका प्रयोग मुख्यत: दो रूपों में हुआ है—(१) मस्तिष्क, कला और व्यक्तित्व की वह सामान्य और स्थायी विशेषता जो सभी कालों और संस्कृतियों में विद्यमान है, (२) कला और विचारों का महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक आन्दोलन, जो १८वीं शती के उत्तरार्द्ध और १९ वीं शती के पूर्वार्द्ध में योरप और अमेरिका में प्रकट हुआ। कला और विचार के आन्दोलन को राजनीतिक, आर्थिक या धार्मिक क्रांतियों से अलग कर के नहीं देखा जा सकता।

मोर्स पेक्हाम ने अपने निबंध 'टूवर्डस ए थ्योरी ऑफ रोमांटिसिज्म' में स्वच्छंदतावादी सिद्धांत के खरे उतरने के लिये दो निकष प्रस्तुत किये हैं—कि इसे प्रमाणित करना होगा कि वर्डस्वर्थ, बायरन, गेटे, चेटब्रियां सभी व्यक्ति, उस सामान्य योरोपीय साहित्यिक-आन्दोलन के ही अंग थे, जो संगीत, चित्रकला, स्थापत्य-कला, दर्शन, धर्म आदि में प्रस्फुटित हुआ। दूसरे, इन रचनाओं के अन्तर्तल तक हमें प्रविष्ट कराने में समर्थ हो। इस दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट सिद्धांत है, क्योंकि यह इन निकषों पर खरा उतरता है।[1]

स्वच्छंदतावाद, महान् क्रांति का एक अंग रहा है और इसने योरप के बुद्धिजीवियों को निश्चितता की अभिलाषा और इच्छा की अपेक्षा परिवर्तन की अभिलाषा और इच्छा की ओर प्रेरित किया। इसने, रेने वेलेक के अनुसार, कविता के लिये कल्पना, विश्व के लिये प्रकृति की आंगिक धारणा और काव्यात्मक शैली के लिए प्रतीक और मिथ प्रदान किये। लवजाय स्वच्छंदतावाद के मूल तत्वों में आंगिकवाद, गतिवाद और पृथकतावाद की गणना करते हैं। पेक्हाम ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा कि प्रथम दो को 'गतिशील आंगिकवाद' के अन्तर्गत रखा जा सकता है, क्योंकि अवयवों का विकसित होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। पृथकतावाद, अवश्य एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, क्योंकि वस्तुओं की विभिन्नता और विचित्रता ही भूत, वर्तमान और भविष्य में नूतनता लाती है। संक्षेप में, स्वच्छंदतावाद—चाहे दार्शनिक हो, अध्यात्मवादी हो या सौंदर्यवादी, योरपीय मस्तिष्क में स्थिर-यांत्रिक विचारों के विरुद्ध एक आन्दोलन और मस्तिष्क को गतिशील आंगिकवाद की ओर पुनःप्रवृत्त करने की प्रवृत्ति

1 British Romantic Poets—Shiv. K. Kumar, p. 2

है। इसके मूल्य हैं—परिवर्तन, अपूर्णता, वृद्धि, विभिन्नता, सर्जनात्मक-कल्पना और अचेतनता।[1]

## स्वच्छंदतावाद: ह्रास और सीमाएं

१८३० के बाद साहित्य के इतिहास में अन्तराल आया। स्वच्छंदतावाद के पोषकों का या तो देहान्त हो चुका था या वे दूसरी ओर मुड़ चुके थे। जर्मनी में हेगल के शिष्यों में वादविवाद उठ खड़ा हुआ। आर्नल्ड रूज ने स्वच्छंदतावाद की कटु आलोचना शुरू की और मार्क्स व एन्जिल्स के विचारों ने साहित्य की अपेक्षा राजनीति में अधिक हलचल पैदा की। धीरे धीरे स्वच्छंदतावादी रहस्यात्मकता व जीवन की सौंदर्यमूलक दृष्टि की अवेहलना होने लगी। 'यंग जर्मनी' के नाम से जो आन्दोलन चला, वह स्वच्छंदता के विरुद्ध था। हाइन के व्यंग्यों ने उसे पूर्णतया समाप्त कर दिया।

इस प्रकार मैजिनी के नेतृत्व में इटली में भी प्रगतिशील विचारों को बल मिला। डेसेंक्टिस जैसे स्वच्छंदतावादी भी इस प्रवाह को न सम्भाल सके।

हैजलिट व कालरिज की मृत्यु के बाद इंगलैंड में भी स्वच्छंद-प्रवृति का ह्रास होने लगा। वहां अतिवाद की अपेक्षा उसका अन्त वृद्धावस्था के कारण हुआ।[2] कारलायलव डेक्वेंसी ने नये विचार देने का विफल प्रयास किया। आलोचना के क्षेत्र में नैतिकता आदि को प्रधानता मिली। १८६० में मैथ्यू आर्नल्ड के विचारों ने स्वच्छंद-प्रवृत्ति को बिलकुल समाप्त कर दिया। डायसन तक आते आते स्वच्छंदतावाद बहुत थक चुका था। क्षीण-तटस्थ आंखों से वह पटाक्षेप और बन्द होते दरवाजों को देख रहा था।

इंगलैंड में इस प्रवृति के अंतर्गत जीवन और काव्य का विरोध दृष्टिगत होने लगा। कल्पना-जगत् और वस्तु-जगत् में जो अंतर पड़ गया था, उसने काव्य को विशिष्टता देते हुए भी उसे जन-साधारण के लिए अग्राह्य बना दिया। कवि के स्वप्न, आकांक्षाएं, वैयक्तिक कल्पना-चित्रादि ही काव्य के विशिष्ट अंग बन गये। आदर्शवाद, सौंदर्यवाद, कल्पना और स्वच्छंदता—इन विशिष्टताओं को बुद्धिवाद, विज्ञानवाद, नैतिकता और

---

1 Ibid, p. 11

2 The Decline & Fall of the Romantic Ideal—p. 128

सामाजिक रूढ़िवाद ने खोखला कर दिया।[१]

फ्रांस में भी स्वच्छंद-प्रवृत्ति का ह्रास बड़ी जल्दी हुआ। सेंत व्यव ने अपनी मान्यताओं को हटाकर जैविक दृष्टि से साहित्य की आलोचना प्रस्तुत की। तेन ने वैज्ञानिक दृष्टि से साहित्य की आलोचना प्रस्तुत कर नये आयामों का विकास किया। इधर यथार्थवादी और प्रतीकवादी प्रवृत्तियों ने भावना-प्रधान स्वच्छंदतावाद की जड़ें हिला दीं।[2]

रूस में वेलिस्की ने स्वच्छंद-प्रवृत्ति के स्थान पर कला और सामाजिकता के सम्बंधों का प्रतिपादन किया। उन्होंने लिखा—"कला को जनसाधारण की सेवा करने का अधिकार न देने का अर्थ है—कला को निराधार बना देना।" आगे उन्होंने लिखा—"कवि केवल स्वप्नों के ही संसार में अधिक नहीं रह सकता। वह समकालीन वास्तविकता के साम्राज्य में एक सामाजिक प्राणी भी है। समाज उसे केवल लोक-रंजक रूप में देखना नहीं चाहता वरन वह उसे आध्यात्मिक आदर्श-जीवन के सच्चे प्रतिनिधि के रूप में देखना चाहता है—एक ऐसे देवता के रूप में, जो जटिल से जटिल समस्याओं (प्रश्नों) का उत्तर दे सके।"[३]

इस प्रकार की मार्क्सवादी धारणाओं ने स्वीडन, अमेरिका, स्पेनादि देशों में भी स्वच्छंद-प्रवृत्ति पर तीव्र प्रहार किये।

स्वच्छंदतावाद ने कवि और उसके व्यक्तित्व को अत्यधिक महत्त्व दिया और विषय-वस्तु की उपेक्षा करते हुए अनुभूति और प्रभाव को अधिक महत्त्व दिया। फलतः वैयक्तिकता के स्थान पर 'निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत' प्रतिपादित होने लगा।

टी० ई० ह्यूम ने 'स्पैक्युलेशन्स्' में लिखा कि कवि का काम व्यक्तिगत अनुभूतियों की नहीं, अपितु शिल्प की अभिव्यक्ति करना है। उसका मुख्य उद्देश्य वस्तु-स्थिति का यथातथ्य चित्रण करना है, चाहे वह कोई वस्तु हो अथवा मस्तिष्क से प्रसूत कोई विचार। उन्होंने बताया कि व्यक्ति-पूजा में रत होने के कारण स्वच्छंदतावाद, व्यक्ति की असीम इच्छाओं का पोषण करता है और व्यक्ति, कल्पना-शक्ति के कारण ईश्वर तक बनने का स्वप्न ले

---

१ आलोचना, अप्रेल' ५६,' प्रतीकवाद'—डॉ० रामरतन भटनागर, पृ० ३१

2 A History of Modern Criticism—Rene Wellek, p. 340

३ आलोचना, अक्टूबर १९५३, पृ० १९७-९८

सकता है। अतः कल्पना-तत्त्व का विरोध करना चाहिए।

एजरा पाउंड ने कहा कि कवि की दृष्टि वस्तु-परक होनी चाहिए। काव्य में रूप-विधान का ही सर्वाधिक महत्त्व है। महान् साहित्य वस्तुतः अर्थगर्भित भाषा का ही दूसरा नाम है। पाउंड की दृष्टि में कवि भी वैज्ञानिक की भांति निर्वैयक्तिक होता है। कविता, गणित-विज्ञान की भांति है, जो मानव-भावनाओं का समीकरण (equations) प्रस्तुत करती है। टी० एस० इलियट ने निर्वैयक्तिकता के सिद्धांत का प्रतिपादन 'परम्परा और वैयक्तिक प्रज्ञा' (१९१९) में किया। उनके अनुसार कवि को अतीत की चेतना का विकास करना चाहिए। 'कलाकार की प्रगति एक अनवरत आत्म-समर्पण की, व्यक्तित्व के सतत तिरोभाव की, प्रक्रिया होती है।' वे बताते हैं कि इस व्यक्तित्व-उत्सर्ग में कला, विज्ञान की स्थिति के निकट पहुंचती कही जा सकती है। उदाहरणार्थ, जब आक्सीजन और सल्फर डाइमाक्साइड वाले कमरे में प्लेटिनम के टुकड़े को रखकर, दोनों गैसों को मिलाया जाता है तो उनसे सलफ्यूरस एसिड बनता है, किंतु नये बने हुए एसिड में प्लेटिनम का लेशमात्र नहीं होता और न ही उसमें कोई परिवर्तन होता है। इलियट के शब्दों में—'कवि का मन इस प्लेटिनम के टुकड़े की भांति होता है। व्यक्ति के अनुभव को वह अंशतः अथवा पूर्णतः प्रभावित कर सकता है, परंतु कलाकार जितना सिद्धहस्त होगा, उतने ही उसमें भोक्ता-मानव और स्रष्टा-मन परस्पर पृथक् रहेंगे और उतनी ही सुष्ठु रीति से मन अपनी उपादान-रूप वासनाओं को आत्मसात् और रूपान्तरित करेगा।'[1]

इलियट का विचार है कि कवि के पास अभिव्यक्त करने के लिए कोई 'व्यक्तित्व' नहीं होता, एक विशिष्ट माध्यम होता है। हो सकता है कि व्यक्ति के लिए जो प्रभाव व अनुभूतियां महत्वपूर्ण हों, वे काव्य में कोई स्थान न लें और जो काव्य में महत्वपूर्ण हो जायें, उनका योग व्यक्तित्व में नगण्य हो। कवि की विशिष्टता उसके व्यक्तिगत भावों पर आश्रित नहीं होती। कवि का काम नये भाव खोजना नहीं है, अपितु साधारण भावों का उपयोग करके उन्हें काव्य-रूप देने की प्रक्रिया में ऐसी भावनाएं व्यक्त करना है, जो वास्तविक भावों में बिल्कुल भी विद्यमान न हों।

---

१ पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा—डॉ० सावित्री सिन्हा, पृ० २८७,

इलियट ने वर्डस्वर्थ के काव्य सम्बंधी सूत्र कि यह 'शांत अवस्था में अनुस्मृत भाव' है, की आलोचना करते हुए कहा कि 'यहां न तो भाव है, न असुस्मृति और—यदि अर्थ को तोड़े मरोड़े नहीं तो—न शांति।' संवेदना एवं भावना, जो कवि-मस्तिष्क से प्रसूत होती हैं, कविता में अभिव्यक्त संवेदना और भावना से पृथक होती हैं। वस्तुतः कविता लिखने में बहुत कुछ ऐसा होता है जो सचेतन और सायास होना चाहिए। वैयक्तिकता की ओर कुकवि, इसलिए बढ़ते है, क्योंकि वे सही स्थिति को पहचान नहीं पाते। यहां पर इलियट काव्य सम्बंधी अपनी धारणा प्रकट करते हैं, कि 'कविता भाव को उन्मुक्त रूप से प्रवाहित कर देना नहीं, भाव से पलायन है; कविता व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, उससे मुक्ति का नाम है।'[1] इस प्रकार इलियट के अनुसार कला का भाव निर्वैयक्तिक है और इस लक्ष्य तक पहुंचने के लिये कवि को कार्य के प्रति पूर्णरूपेण आत्म-समर्पण करना पड़ता है।

इलियट का 'वस्तु-समीकरण का सिद्धांत' भी अपनी वस्तुपरक-दृष्टि के कारण स्वच्छंदतावादी सिद्धांतों के विरुद्ध पड़ा। इलियट का कथन है—'कला में भाव प्रदर्शन का एक ही मार्ग है और वह यह है कि उसके लिए वस्तुनिष्ठ समीकरण को प्रस्तुत किया जाय।' अर्थात् ऐसी वस्तु संघटना, स्थितियां और घटनाएं प्रस्तुत की जाएं तो भावोद्रेक हो सकता है। कलाकार अपनी अनुभूतियों और संवेदनाओं को मूर्त रूप देने के लिए वस्तुमूलक चिन्हों का प्रयोग करता है जिससे अमूर्त भावनाएं मूर्तरूप में प्रस्तुत होती हैं। इस प्रकार सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूल का अधिक महत्त्व यहाँ स्वीकारा गया है, जो स्वच्छंदतावादी चेतना के बिल्कुल विपरीत पड़ता है। कवि भी मानों 'केन्द्रच्युत हो गया था और केवल मात्र कल्पना के पंखों पर उड़कर सौंदर्य के अतीन्द्रिय देश तक पहुंचना अब उसके लिए असम्भव बात थी।'

विंटरस ने स्वच्छंदतावाद की कटु आलोचना न केवल इसकी अंधकारपूर्ण अनिश्चितता के कारण, अपितु नैतिक गलतियों के कारण की। भावानुभूति ही कविता का प्राण नहीं, विवेक-अंकुश उस पर होना आव-

---

1 'Poetry is not a turning loose of emotion but an escape from emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality.'—*Selected Essays*, p. 10

श्यक है। विंटरस ने स्वच्छंदतावादी व्यंग्य को शास्त्रीय व्यंग्य से निम्न स्तर का बताते हुए कहा कि पोपादि का वैदग्ध्य दूसरों पर प्रहार करने के लिए था, जब कि रोमांटिक व्यंग्य में दृढ़ता का अभाव था, जो स्पष्टतः कवि के भावों की अस्पष्टता का परिचायक था। इससे कथ्य व शिल्प की धूमिलता झलकती है --अस्पष्ट विचार, अस्पष्ट लेखन को जन्म देते हैं। ऐसी रचना को रद्दी की टोकरी में डाल देना ही अधिक उपयुक्त है।[1] कविता में भावुकता का कोई स्थान नहीं, कविता तो एक विशेष प्रकार का अभिभाषण है। विंटरस को ये आरोप मैथ्यू आर्नल्ड के 'असंख्य उलझाव', व 'अभिव्यक्ति की अतिशयता' का स्मरण कराते हैं।

एबरक्राम्बी का मत है कि स्वच्छंदतावादी समीक्षा दायित्वहीनता को प्रश्रय देती है। गोइटे का विचार है कि 'यह एक विकृत छाया की भांति है। जहां आवश्यकता नहीं होती, वहां उन अंगों में रस की अतिशयता कर दी जाती है, और जहां आवश्यकता है, उन अंगों से उसको निकाल दिया जाता है।' उनकी दृष्टि में 'स्वच्छंद' और 'विकृत-कार्य' एक ही बात है।

श्री सी० एम० बाउरा ने अपने ग्रंथ 'द रोमांटिक इमेजिनेशन' में स्वच्छंदतावाद के कतिपय खतरों की ओर संकेत किया है—स्वच्छंदतावाद वैयक्तिकता पर इतना अधिक बल देता है कि इससे एक दोष तो यह उत्पन्न होता है कि कलाकार बाह्य-जगत् को विस्मृत कर केवल अपनी दुनिया तक ही सीमित हो जाता है। वह अपनी विधि दूसरों पर भी थोपने का आकांक्षी हो जाता है, जिससे कला के क्षेत्र में अराजकता की सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। स्वच्छंदतावादी-चेतना को अधिक स्वच्छंदता मिल जाती है तो वह विष का कार्य करती है।[2]

स्वच्छंदतावादी अपनी मान्यताओं को पूर्णरूपेण लागू करने के लिए तत्पर रहते हैं। यह बात व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत दृष्टि व प्रेरणा का पूरा लाभ उठाने को बाध्य करती है। इसके लिए परम्परा का कोई

---

1 Winters...recommends 'the waste basket and a new beginning—Literary Criticism—Wimsatt & Brooks, p. 673.

2 'The Romantic spirit may be a dangerous poison, when it is allowed to work too freely'.

—The Romantic Imagination, p. 274.

महत्त्व नहीं है और इसका विश्वास उन रूपों व शिल्पों में कतई नहीं है, जिन्हें उनसे पूर्व प्रचलित किया गया था। वाउरा के शब्दों में—"यदि वे भली भांति स्थापित परम्परा के अनुयायी होते तो परिणाम भिन्न होता, क्योंकि परम्परा, एक कवि को अपनी शक्तियों की रक्षा करने और जब वह अपने स्रोतों से कुछ भी करने में असमर्थ हो जाता है, तो उसकी शक्ति को अन्य मार्गों में कार्यान्वित करने योग्य बनाती है।" किन्तु स्वच्छंदतावादी केवल अपनी सीमित शक्तियों पर, जो दूसरों से सर्वथा भिन्न थीं विश्वास करते रहे। फलतः उन पर केन्द्रित होने के कारण वे उन्हें चुका बैठे और उनके स्थान पर कुछ भी करने को शेष न रहा।

स्वच्छंदतावादियों से तीसरा खतरा था—उनका परालोक (beyond) में विश्वास। दूसरा लोक, जिसे कल्पना-शक्ति से निर्मित किया गया था, किन्तु उसका स्वरूप सर्वथा धूमिल था। इस अस्पष्टता के कारण वे अपनी संवेदनाओं को प्रेषित करने में सफल नहीं हो पाये। स्वच्छंदतावादी कविता में संगीतात्मकता लाने का जहां जहां प्रयास हुआ है, वहां कर्ण-प्रियता होने के बावजूद भी एक प्रकार की कमजोरी दृष्टिगत हुई है, जिसकी आशा हम महान् कविता में नहीं करते।

अस्पष्टता, स्वच्छंदतावाद का बहुत बड़ा दोष रही है और कहीं कहीं यह बुद्धिहीनता का लक्षण बन गई। पलायनवादिता की प्रवृत्ति के कारण पो की कविता में धूमिलता और अधकचरापन दृष्टिगत होता है। इसी प्रकार एडवर्ड लियर की कविताएं अवसाद का चित्रण करती हुई भी कुछ कहने में असमर्थ हैं, और वाउरा के शब्दों में, उसकी रोमांटिक अनिश्चितता, सुंदर ढंग में बेहूदगी से परिणत हो जाती है और उसकी प्रारम्भिक पीड़ा मूर्खता की दिव्य-ज्योति में लीन हो जाती है। यह दोष वहीं उत्पन्न होता है, जहां स्वच्छंदतावादी कवि 'शब्दार्थ से भी अधिक कहने का प्रयास करते हैं।'

श्री वाउरा ने [1] स्वच्छंदतावाद की एक सीमा यह मानी है कि उस काव्य में धर्म-विशेष को कोई स्थान नहीं मिला। 'दिव्यता' की चर्चा अवश्य हुई किंतु अतिवैयक्तिकता ने उन्हें एकमत नहीं होने दिया। इसी प्रकार 'लोकेतर' की चर्चा भी व्यक्तिगत सिद्धांतों तक ही सीमित रही। वे रहस्यानुभूति की तह तक न पहुंच कर उसका उल्लेख मात्र करते रहे। कारण यह

1 The Romantic Imagination, p. 282

भी था कि वे जिस रहस्यानुभूति से सम्बद्ध थे, वह आस्था की चीज न होकर कल्पना की चीज थी।

दूसरी सीमा यह रही कि स्वच्छंदतावादी कवियों का, जो काव्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत करने के आकांक्षी थे, सौंदर्य सम्बंधी दृष्टिकोण अत्यंत संकुचित था। उनका विचार था कि सौंदर्य, यथार्थ का अंतिम गुण है, जो केवल दृश्यमान-वस्तुओं द्वारा स्पष्ट होता है। उन्होंने अपनी एकांत-प्रियता व विचित्रता के प्रति अधिक मोह होने के कारण, यथार्थवादी काव्य-सृजन नहीं किया।

तीसरी सीमा यह थी कि स्वच्छंदतावादी-कवि एक निश्चित दृष्टिकोण व धारणा से बंधे हुए थे। अपने समय के दर्शन और प्राकृतिक-विज्ञान को नकारने के कारण वे सामयिक विचारधारा से पिछड़ गये। जो शक्ति और प्रवल विचारधारा ग्रीक कवियों में मिलती है, वह इनमें उपलब्ध नहीं हो सकी।

ल्यूकस का मत है कि स्वच्छंदतावाद मात्र अभिजात-विरोधी नहीं है, न ही यह मध्ययुगीन प्रवृति है, न 'प्रेरणा' है, न 'आश्चर्य' है, और न ही इस प्रकार की कोई प्रवृति है, अपितु मस्तिष्क के कम चेतन स्तरों की मुक्ति-मात्र है। स्वच्छंद-कल्पना का नशा, उचित वस्तु की ओर होने वाले अत्यधिक नियंत्रण को दूर करता है। किंतु स्वच्छंदतावादी, जो वहुत अधिक नशा कर लेता है, जो अचेतन के आगे सब कुछ समर्पित कर देता है और वच्चे की भांति व्यवहार करने लगता है, वह उस उन्मादी वचकाने युवक की भांति हो जाता है, जो जीवन का मुकावला नहीं कर पाता और दो उम्रों के वीच उसका पतन हो जाता है।[1]

स्वप्निल संसार में रहते रहते स्वच्छंदतावादी वास्तविक जगत् से दूर हो जाता है, सपनों के संसार में भटक कर उस उन्मादी व्यक्ति की तरह हो जाता है, जो वचपन में भूत-प्रेतों से डरता रहा हो। इस कारण स्वच्छंदतावाद में मानसिक व भावात्मक रूप से ईमानदारी नहीं आ पाती और वह कुण्ठित व रुग्ण हो जाती है।[2]

---

1 The Decline & Fall of the Romantic Ideal, p. 277.

2 'Much Romantic work has been mentally or emotionally dishonest, much has been, though genuine, yet morbid and hysterical' —Ibid, p. 150.

स्वच्छंदतावाद ने सदा दूरत्व को ही पसन्द किया है—उसका शब्दचयन, भाषा, छंद आदि सभी में यही दूरी नजर आती है क्योंकि 'दूरत्व की भावना ही सपनों से जुड़ी है और फिर दूरी ही सपनों को सरल कर देती है—नग्न सत्य से टकरा जाने में कम खतरा रहता है।' यह दूरत्व स्थल और मस्तिष्क के अनखोजे देशों का हो सकता है। अपने हृदय-विश्व का भ्रमण किसने पूरी तरह से किया है ?

'शुष्क प्रकाश अधिक अच्छा है, पर इतना शुष्क भी जीवन नहीं होना चाहिए कि निरर्थक हो जाय, कम से कम कल्पना के क्षेत्र में। १८वीं शती में शुष्कता चरमसीमा तक पहुँच चुकी थी। स्वच्छंदतावादी प्रतिक्रिया स्वस्थ थी, परन्तु सभी प्रतिक्रियाओं की भांति, उसकी अति हो गई और इसलिए वह 'अस्वास्थ्यकर' हो गई। नशा बढ़ने पर वह खोता जाता है, सांसारिक आदमी की वुद्धि व शालीनता इत्यादि। अपने प्रति मोह स्वच्छंदतावादी में अहं के ऐसे अतिरेक के रूप में पनपता है, मानों वह चीटियों की बड़ी चींटी-रानी हो, जो उर्वरा तो हो पर जघन्य भी। यह है स्वच्छंदतावाद जो कि शृंखलाबद्ध आत्मा को एक करने वाला है, पर जो अति की सीमा तक अपने अनुयायियों के लिए नई और गुरुतर शृंखलाएं तैयार करता है, जिसने एक के बाद एक जीवन को तोड़ा है, और फिर भी विश्व को बहुत अधिक समृद्ध किया है।[1]

उन्मद स्वप्नदर्शन व आत्मोन्माद प्राय: अस्वास्थ्यकर हो जाता है, पर स्वच्छंदतावाद कोई 'रोग' नहीं है। और फिर, सदैव ही स्वच्छंदतावाद तर्क के विरुद्ध भावना का विद्रोह नहीं है, तर्क के विरुद्ध कल्पना का भी विद्रोह नहीं है—वह दोनों ही प्रकार का विद्रोह हो सकता या किसी एक प्रकार का। जिन अत्याचारियों के विरुद्ध विद्रोह होना है—वे हैं यथार्थ की भावना और समाज की भावना।

स्वच्छंदतावादी लेखक शिशु के भोलेपन पर लिखते लिखते स्वयं भी बचपना करने लगते हैं। स्वयं में इतने मग्न हो जाते हैं कि इससे अनेकों दूषित प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिलने लगता है जैसे दूसरों को दुख देकर सुख पाने की प्रवृति (sadism)। पो का भयानकवाद व बौदलैर का शैतानवाद इसी की उपज है। शैतान ही व्यक्ति का अंग बन जाता है। स्वच्छंदतावादी मात्र विद्रोहियों को प्यार करने लगते हैं—

1 The Decline & Fall of the Romantic Ideal, p. 54

'पाप की पुस्तक के सम्बंध में मुझ से बात न करो
क्योंकि मित्र ! सच्चाई यह है
कि वही पुस्तक मैं लिखना चाहूंगा
जो यौवन से परिपूर्ण है।'[1]

स्वच्छंदतावादी शैली ने जिस काव्य-पद्धति का निर्माण किया वह विद्रोहात्मक व अराजकतापूर्ण थी। 'यह अत्यंत अनियमित पद्धति एक संयम रहित प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है। काव्य में भावना के अतिरेक से जो असंयम आता है, वही स्वच्छंदतावाद का अतिवादी छोर है।'[२] ग्राम्य भाषा और छंदों के सम्बंध में प्रकट किये गये विचारों पर स्वच्छंदवादी भी एकमत नहीं हो पाए।

स्वच्छंद-भावना अतिवादिता तक पहुंच कर कुण्ठा की भावना को जन्म देती है, जो निश्चित रूप से अस्वस्थ व पतनोन्मुख है। तब मन को केन्द्र बनाने के बजाय—जहां से स्वस्थ भावनाएं निसृत हो सकें—मन स्वयं अपने क्षेत्र में केन्द्रित होकर बायरन के नायक की भांति भीतर ही भीतर लावा उगलता रहता है।[3] इसीलिये शायद ब्रयूनिशियर ने कहा था कि स्वच्छंदतावाद 'साहित्यिक अहम्वाद या अहंकार की ऊंची लहर है।'

इस प्रकार चेतन लक्ष्य की अपेक्षा भावानुभूति को अधिक महत्त्व देने के कारण, बुद्धि या तर्क को काव्य-प्रक्रिया में स्थान न देने के कारण—जिसके कारण उन्हें सहज काव्य-स्फूर्ति के नष्ट होने की संभावना थी—कलाकारिता को उपेक्षा की दृष्टि से देखने के कारण और आकृति-सौंदर्य के अभाव के कारण—स्वच्छंदतावाद की अनेक त्रुटियां स्पष्ट दिखाई देने लगीं।[४]

## स्वच्छंदतावाद : उपलब्धियाँ

स्वच्छंदतावाद ने अपने प्रारम्भिक रूप के 'अद्भुत-भावात्मक रहस्यात्मक', अर्थ से लेकर 'प्राकृतिक दृश्यावली, सौंदर्यबोध' और 'प्रगतिशील आंगिकवाद' तक इसके अनेक अर्थ बदले हैं।

स्वच्छंदतावादी साहित्यकार ने 'मुक्ति', 'समानता' व बंधुत्व' के

1 The Decline & Fall of the Romantic Ideal, p. 110
२ आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छंद-धारा—डॉ० त्रिभुवन सिंह, पृ० ९०.
3 Principles of Literary Criticism—Dr. D.N. Ghosh, p. 206
४ आलोचना, अप्रेल '५६—'प्रतीकवाद'—डॉ० भटनागर, पृ० २९

साथ मानवता का विराट रूप विश्व के सम्मुख रखकर एक महान् कार्य किया है। गलित परम्पराओं और रूढ़ियों के छिलके उतार कर उनमें पनपती उभरती नवीन प्रतिभाओं और आस्थाओं को सम्मुख रखकर इन लोगों ने नये सौन्दर्य-बोध को प्रस्तुत किया। उन्होंने प्रत्येक वस्तु का चित्रण ईमानदारी और सत्यता के साथ किया। वे आदर्शवादी थे और जीवन के प्रति सच्ची लगन और आस्था रखते हुए भी वे जीवन को स्वप्निल जगत् में विचरण करता हुआ देखना चाहते थे।

स्वच्छंदतावाद ने प्रकृति सम्बंधी अमूल्य रचनाएं दीं। पिछली शताब्दियों से अधिक प्रकृति सम्बंधी रचनाएं इन दो दशकों में लिखी गईं। कवियों के सामने प्रकृति केवल रहस्यमयी या शिक्षा प्रदान करने वाली ही नहीं थी—अपितु अतुल सौन्दर्य का निधान भी थी।

जर्मन स्वच्छंदतावादी गॉरेस के अनुसार प्रकृति-काव्य सरल किन्तु भव्य है—आत्मा और शरीर की भांति इसके रूप स्वतः प्रस्फुटित होते हैं। जिस प्रकार प्रकृति, पशुओं और पौधों का विकास करती है, उसी प्रकार महान् कलाकृति स्वाभाविक रूप से प्रकाश में आती है। ग्रिम का भी मत था कि कला-काव्य के लिए तैयारी की आवश्यकता पड़ती है, जबकि प्रकृति-काव्य स्वतः निर्मित होता है। इस आलोचना ने विचार किया कि साहित्य में संवेदनाओं और विचारों; आन्तरिक और वाह्य प्रकृति; इतिहास और नियमों का संगम किस प्रकार होता है। जर्मन स्वच्छंदतावाद वस्तुतः विज्ञानवाद को एक उत्तर था और मनुष्य तथा प्रकृति के उखड़े सम्बंधों तथा मानवीय चेतना-खण्डों में पुनर्स्थापन का एक काव्यात्मक कार्यक्रम था।[1]

रोमांटिक कवि की विद्रोह-प्रवृति ने बड़ा अच्छा काम किया। १८वीं शती की कविता जो ड्राइंग-रूम की शोभा बन गई थी, उसे गांव की ओर लाने का स्तुत्य प्रयास किया गया, जहां निम्न व मध्यवर्गीय लोग रहते थे। वे बुद्धि की संकुचित धाराओं से उसे छुड़ा कर भावना के सुरम्य स्थल पर ले आये।

यह प्राचीन शास्त्रीय पद्धति के प्रति विद्रोह नहीं था, यह विद्रोह था उस कविता के प्रति जो अत्यधिक बौद्धिक व भौतिक होती जा रही थी यह विद्रोह था उस व्यक्ति के प्रति जो मानव-मूल्यों को भुलाकर रूढ़ि का शिकार हो रहा था—यह विद्रोह था उस समाज और राज्य के प्रति जिसकी

1 Literary Criticism—Wimsatt & Brooks, p. 370.

पद्धतियां व्यक्ति को स्वतंत्रता न देकर नियमों के शिकंजे में जकड़ती जा रही थीं। इस प्रकार स्वच्छंदतावाद का जन्म ही असंतोष से हुआ-नियामकों के प्रति विद्रोह किया और नयी विधियों की खोज की।

आर० ए० फोयकेस ने 'कमिटमेंट टू मेटाफर' शीर्षक निबंध में स्वच्छंदतावाद की परीक्षा आधुनिक आलोचना के संदर्भ में की है। उनका विचार है कि आधुनिक काव्य और अत्यंत प्रभावशाली आधुनिक आलोचना, स्वच्छंदतावादी परम्परा के ऋणी हैं।[1]

स्वच्छंदतावादी कला के आंगिक-सिद्धांत ने ही काव्यात्मक बिम्बों के प्रति अभिरुचि उत्पन्न की है। साथ ही काव्य के उचित मूल्यांकन के लिए अचेतन मन की महत्ता को समझा गया। कारलाइल ने कहा कि 'अचेतना ही सृजन का चिन्ह है।' काव्य-सत्य को वैज्ञानिक-सत्य से पृथक मानने के कारण उसकी महत्ता पर नया प्रकाश पड़ा। महान् कवि उसे माना गया जिसने अनुभूति के क्षेत्रों पर अधिक व्यापक रूप से अधिकार किया हो। रूपक-तत्त्व के प्रति प्रतिबद्धता आज के काव्य की विशेषता है, जो प्रकारांतर से स्वच्छंदतावाद की देन है।

यदि काव्य में चित्रमयता का कोई भी महत्त्व है तो स्वच्छंदतावादियों की प्रशंसा करनी पड़ेगी। इन्होंने चित्रकला व काव्यकला की बारीकियों को परस्पर सम्बद्ध किया। इन्होंने कल्पना व बिम्ब का जो अपूर्व विधान किया, वह नव्य-शास्त्रवादियों की पहुँच के बाहर की चीज थी। कीट्स व शेली इस सम्बंध में बेजोड़ थे। उनकी रचनाओं में प्रकृति, चित्र-कला, मूर्तिकला, स्थापत्यकला व स्वप्निल जगत् की सभी वस्तुएं एक ही स्थान पर उपलब्ध हो जाती हैं। स्वच्छंदतावाद ने, साहित्य को नये चित्रों, नयी कल्पना-शक्ति के साथ नयी भाषा दी। नव्य-शास्त्रवादियों ने भाषा और कथ्य को एकरस बना दिया था। वर्डस्वर्थ को नया बिम्ब प्रकृति से मिला; कॉलरिज को यात्रा-पुस्तकों व आल्पाइन की दृश्यावली से; शेली की बिम्बात्मकता इटली के पर्वत नदियों व मैडिटैरेनियन सागर की लहरों व चारणों के गीतों के माध्यम से अभिव्यक्त हुई; और कीट्स को ग्रीक, इंगलिश, फ्रेंच व मध्ययुगीन चित्र व मूर्तियां ही प्रेरणाएं प्रदान करती रहीं। प्रतीक योजना ने स्वच्छंद-रचना को विशेष रूप से आकर्षक बनाया है। स्वप्न-

1 British Romantic Poets—Shiv K. Kumar, p. 22

साहित्य की बिम्ब-सम्पन्नता इसी कारण हुई है।

नव्यशास्त्रवादी-वक्रोक्ति के स्थानपर सांकेतिकता का प्रयोग हुआ।[1]

यह कहना गलत होगा कि स्वच्छंदतावाद के पास कोई आदर्श नहीं था और वह शास्त्रीयवाद का विरोध-मात्र करने के लिये उठ खड़ा हुआ था या सिर्फ विचित्रता व नवीनता से विश्व को चकाचौंध करना ही उसका अभीष्ट था। वह मानवीय संवेदनाओं व शक्तियों से परिपूर्ण था और उसकी नींव मानव जीवन की अतुल की गहराइयों में स्थिर थी। अतः वह केवल चमत्कार न होकर मानव-प्रकृति का एक सुनिश्चित विकास था। आदर्शमय व आध्यात्मिक जीवन जीने का एक ढंग था। नीरस व नीरव जीवन-प्रणालियों की अपेक्षा इसमें सरसता व सजलता का बाहुल्य था।

स्वच्छंदतावाद ने जिस सीमित क्षेत्र में काम किया—वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। वे कविता के क्षेत्र में केवल दृष्टि, अद्भुत व कौतूहल के तत्त्व ही नहीं लाये अपितु कुछ और भी—जो उनकी निजी विशेषताएं थीं। वे ऐन्द्रिय वस्तुओं पर दिव्यज्योति का प्रकाश डालकर उन्हें आश्चर्यजनक बनाने में समर्थ हो सके। साधारण से साधारण वस्तु भी उन्हें क्षणावेग में इतनी प्रभावित करती थी कि वे उस की साधारणता व असाधारणता को तुरंत पहचान लेते थे। अपनी विलक्षण कल्पना-शक्ति के लिये वे काव्य को अत्यंत रमणीय बनाते हुए पाठकों को लोकेतर जगत में ले जाते थे—ब्लेक के शब्दों में :—

"परंतु वह जो भागते आनन्द का चुम्बन लेता है
अमरता के सूर्योदय में जीवित रहता है।"

स्वच्छंदतावादी कविता का सारतत्त्व ही आनंद के उन भागते क्षणों को पकड़ने में है, जो दिव्य जगत् के द्वार खोल देते हैं।[2]

बाउरा का मत है कि यदि कोई ऐसा समाज हो, जो अपनी उपलब्धियों में ही संतुष्ट हो और अधिक मांगने की इच्छा न रखता हो तो उसे इससे अधिक आराम नहीं मिल सकता, जो स्वच्छंदतावादी प्रदान करना चाहते हैं। उन लोगों के लिये स्वच्छंदतावादी-चेतना एक प्रेरणा है, जो वर्तमान व्यवस्था से असंतुष्ट है। असंतुष्टि ही उदात्त अवस्था की ओर उन्मुख करती है।

1 The English Romantic Poetry—Dr. R. B. Sharma, p. 228
2 Romantic Imagination—Bowra, p. 290.

स्वच्छंदतावादी कवि जो कुछ भी करता है वह हमें अनील करता है। वह केवल तटस्थ दर्शक मात्र ही नहीं रहता अपितु जीवंत अनुभूतियों का चित्रण कर नये भाव-बोध व यथार्थता का संदेशवाहक भी बन जाता है। स्वच्छदतावादियों ने अवसाद की कविता लिखी है, जो मिठास से युक्त है और दुख के चित्र भी मदहोश करने वाले संगीत से सम्बद्ध हैं।

कल्पना-शक्ति के माध्यम से स्वच्छंदतावादियों ने वस्तु जगत के अनेक रहस्यों का उद्घाटन करके, उसके सौन्दर्यपूर्ण स्वरूप को हमारे सम्मुख रखा। सुन्दर वस्तु को देखकर हमारे दिल की धड़कनें क्यों बढ़ जाती हैं ? प्रेमानुभूति से विश्व की समस्त वस्तुएं क्यों चंचल बनी दीखती हैं ? उन्होंने बताया है कि यह चेतना की सत्ता है। वे तर्क में नहीं अंतः-प्रेरणा में, बुद्धि में नहीं आनन्द में और प्रेरणाप्रद आत्मा में आस्था रखते थे, जो मस्तिष्क व भावनाओं में स्वतः हलचल मचा देती है। इस दृष्टि से वे धार्मिक व्यक्ति थे, यद्यपि उनमें कट्टरता लेशमात्र भी नहीं थी।[1]

वे जानते थे कि उनका कार्य सृजन करना है और सृजन के माध्यम से मनुष्य की समस्त भावनाओं व चेतना को प्रकाशवान करना है, उसकी कल्पना को वास्तविकता के लिए जाग्रत करना है, जो परिचित वस-तुओं के भीतर या पीछे निहित है, रीति-नीति की भीषण नियमितताओं से जगाकर चेतना को अमापक दूरियों तक ले जाना है। उसे इस बात का पता देना है कि केवल बुद्धि ही पर्याप्त नहीं है, उसे तो प्रेरणाप्रद सहजानु-भूति की आवश्यकता है। उन्होंने मनुष्य और कविता दोनों को १८वीं शती के बुद्धिवादी पूर्वजों से अधिक उदारवादी दृष्टि से देखा, क्योंकि उनका विश्वास था कि मनुष्य की सम्पूर्ण आध्यात्मिक प्रकृति का ही महत्त्व है।[2] इस प्रकार कल्पना के स्वरूप और उद्देश्य पर जो मौलिक विचार प्रकट किए गये, वे आज भी मान्य हैं।

स्वच्छन्दतावाद की विजय की घोषणा करते हुए टी० एस० ओमंड लिखते हैं—"आधुनिक साहित्य जो आज है, उनका (स्वच्छन्दता-वादियों का) बनाया हुआ है। उन्होंने प्रत्येक संघटना में शक्तियां प्रेषित कीं,

---

1 'They were too, *in their own way, religious in their sense* of holiness of reality.' —Romantic Imagination, p. 23

2 Ibid, p. 24

जिन्होंने हमारे साहित्य को आकार दिया•••केवल इस कारण से उनके कार्य सराहनीय हैं।" जब हम उनके व्यक्तित्व व कृतित्व की महानता पर दृष्टिपात करते हैं, हमारा आदर, आश्चर्य के साथ मिलकर गहरा हो जाता है। वे महान थे और महानतम साहित्य का उन्होंने सृजन किया। उनकी महानतम रचनाएं अमर हैं, जिनकी पूरी प्रशंसा एकाध वाक्य या वाक्यांशों में नहीं की जा सकती। उनकी कविता का महान् तत्त्व व गुण 'मानवता' रहा है। सम्पूर्ण स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन मानवता के कल्याण हेतु दृढ़ संकल्प लिये रहा और विषय-केन्द्र भी मनुष्य को मनुष्य के रूप में ही बनाया।[1] हमारा दर्शन, हमारा अर्थशास्त्र, सामाजिक प्रयोग, यहां तक कि हमारी धार्मिक धारणाएं भी इस केन्द्र से प्रारंभ होती हैं—आधुनिक विचार व शोध का यही महत्त्वपूर्ण विषय है। स्वच्छंदतावादी युग में यही विचार सारे योरप की साहित्यिक चेतना के अणु-परमाणु में व्याप्त रहे।

ल्यूकस के अनुसार, स्वच्छन्दतावादी लेखक आनंद के अंगूरों से छक कर अपने वाक्यों और बिम्बों के संगीत में अधिकाधिक चमत्कार और ओज का समावेश करता है; अपनी अनुभूतियों और अपनी कल्पना की स्पष्ट तीव्रता में और उस वातावरण के निर्माण में, जिसे केवल भावोन्माद ही जन्म दे सकता है, वह बहुत प्रभावशाली होता है। वह एक आकर्षक साथी हो सकता है।

समीक्षा के क्षेत्र में भी स्वच्छन्दतावाद एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में सामने आया। एक ओर जहां उसने नव्यशास्त्रवाद के सिद्धांतों को तोड़ा, लैटिन परम्पराओं को तोड़ा और कविता को 'भावनाओं का सहज उद्रेक करने वाली' विधा के रूप में स्थापित किया, वहां दूसरी ओर उसने प्रतीकवादी काव्य को जन्म दिया।

स्वच्छन्दतावादी आलोचना के कतिपय मानदंड सेन्सबरी ने इस प्रकार बताए हैं:—

(१) साहित्य के सभी कालों का अध्ययन किया जाना चाहिये और आलोचकों को उनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

(२) साहित्य का एक काल दूसरे का पूरक नहीं, प्रत्येक के अपने नियम हैं।

(३) बिना आवश्यकता के नियमों में वृद्धि नहीं की जानी चाहिये।

---

1 The Romantic Triumph—T. S. Omond, p. 400

(४) साहित्य का मूल्यांकन घटनाओं के आधार पर होना चाहिये।
(५) साहित्य का उद्देश्य आनन्द प्रदान करना है, कल्पना इसकी आत्मा है और शैली इसका शरीर।[1]
(६) आलोचक के लिये पहली अनिवार्यता यह है कि वह प्रभाव ग्रहण करने में सक्षम हो और दूसरी, वह उन्हें अभिव्यक्ति देने में प्रवीण हो।

स्वच्छन्दतावादी आलोचना इस बात पर बल देती है कि सौंदर्य के अस्तित्व को कोई चुनौती नहीं दे सकता। उसकी सार्थकता स्वयं उसी में निहित है। हम सभी सौंदर्य से प्रभावित होते हैं।[2] संस्कृत साहित्य शास्त्र में आनन्दवर्धन ने भी इसी बात पर बल दिया है।

स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव पूरी १९वीं शती में योरप, विशेषत: इंगलैण्ड में, बना रहा। विक्टोरियन-युग के कवियों ने रोमांटिक काव्योद्भावनाओं और विचार-सरणियों के सूत्र का ही विकास किया। टेनीसन तो कीट्स के मानस-पुत्र थे ही, ब्राउनिंग ने भी रोमांटिक-व्यक्तित्व का विकास किया। मैथ्यू आर्नल्ड अवश्य क्लासिक सिद्धांतों को पुनर्जीवित करने में लगे रहे। स्वच्छन्दतावाद की अगली दिशा, 'प्री-रेफलाइट' काव्यधारा में दिखाई देती है। रॉजेटी के अनुसार इस काव्यधारा का अर्थ 'यथार्थवाद, भावप्रवरण किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म' था। रॉजेटी के काव्य में सौंदर्य के प्रति ऐन्द्रिय-आसक्ति, मॉरिस में मध्ययुगीनता और स्विनबर्न में संगीतात्मकता जैसी स्वच्छन्दतावादी विशेषताएं मिलती हैं।

किसी आधुनिक समीक्षक ने कहा था—'जीवन में स्वच्छन्दतावाद की चर्चा हो सकती है, पर साहित्य में उसका कोई स्थान नहीं है।' ऐसा कहना स्वच्छन्दतावादी शानदार प्रवृत्तियों को झुठलाना है। इसकी अमर रचनाएं सारे विश्व के पुस्तकालयों से अपना संदेश प्रसारित कर रही हैं। इस निद्रा-मग्न सुंदरी को नींद अवश्य आ गई है, पर मृत नहीं हुई।[3]

स्वच्छन्दतावादी साहित्य का एकछत्र राज्य आज भी कायम है।

---

1 'The object of literature, is Delight, its soul is Imagination, its body is Style.'—A History of Modern Criticism, p. 410

2 Highways & Byways of Literary Criticism in Sanskrit
—S. Kuppuswami Sastri, p. 67

3 'The Sleeping Beauty sleeps again, she is not dead.'
—The Decline & Fall of the Romantic Ideal, p, 155

# शास्त्रीयवाद और स्वच्छंदतावाद

'शास्त्रीयवाद और स्वच्छंदतावाद—ये इतिहास में मानव-हृदय के सिकुड़ने और फैलने की क्रियाओं की भांति रहे हैं।' —ग्रियर्सन

ओलिवर एल्टन ने इन्हें 'बुद्धि भ्रमित करने वाले शब्द' बताया है, तो आर्थर लवजॉय ने इन्हें 'साहित्येतिहास और समीक्षा का षड्यंत्र' की संज्ञा दी है। इन दो शब्दों की जितनी अधिक व्याख्या और इनके स्पष्टीकरण का जितना प्रयास हुआ है, उतनी ही इनसे उलझनें बढ़ी हैं। इसी लिए शायद, तंग आकर किलरकोच ने इन दो शब्दों को शब्द-कोष से हटाने की मांग की।[1]

पिछले अध्यायों में हम इन वादों के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाल चुके हैं। यहां संक्षेप में दोनों की तुलनात्मक विशेषताओं का उल्लेख किया जायेगा। अब तक यह स्पष्ट हो चुका है कि शास्त्रीय-रचना के पीछे एक निश्चित आदर्श होता है, विधि होती है और अनुशासन की छाया में इसका विकास होता है, जबकि स्वच्छंद-रचना बिना किसी बंधन या नियम के चलती है; उसमें अधीरता और मुक्ति की लालसा होती है। यदि स्वच्छंदतावाद विद्रोह है तो शास्त्रीयवाद रूढ़ि है।[2]

विद्वानों ने कथ्य और शिल्प—दोनों दृष्टियों से इनमें विभेद दिखाने की चेष्टा की है।

गोइटे (गेटे) ने इस विवाद को उठाते हुए कहा—'मैं क्लासिक को स्वस्थ और स्वच्छंद को रुग्ण मानता हूं।...अधिकांश आधुनिक रचनाएं रोमानी होती हैं, इसलिये नहीं कि नयी हैं, अपितु इसलिये कि वे दुर्बल, विकृत एवं रुग्ण होती हैं, और पुरानी कृतियां...प्राणवान, ताजी आह्लादकारिणी एवं स्वस्थ होती हैं।" उन्होंने शास्त्रीय-रचना को वस्तु-परक तथा स्वच्छंद को व्यक्ति-परक स्वीकार किया।

गोइटे ने लिखा है—"शास्त्रीय व स्वच्छंद कविता में भेद के विचार का—जो आज सारे संसार में फैल गया है और जिसके कारण

---

1 The Study of English Literature
—Dr. Iyengar & Prema, p. 213

2 Early 19th Century English Poetry
—Dr. A. N. Kapur, p. 20

अनेक कलह एवं विग्रह होते हैं—सूत्रपात मैंने तथा शिलर ने किया था··· प्रत्येक व्यक्ति आज शास्त्रीयवाद और स्वच्छंदतावाद की चर्चा करता है, जब कि पचास वर्ष पूर्व इसके विषय में कोई सोचता भी न था।"

विल्हेम श्लेगेल के अनुसार शास्त्रीय-रचना में विषय की पवित्रता पर बल दिया जाता है, जबकि स्वच्छंद-रचना में समस्त काव्यात्मक तत्त्वों का सम्मिश्रण होता है। शास्त्रीयवादी कविता रूपाकार और शिल्पयुक्त होती है और आधुनिक कविता (स्वच्छंदतावादी) चित्रमय। स्वच्छंदतावादी कविता निस्संदेह शास्त्रीय कविता की अपेक्षा हमारे मस्तिष्क व हृदय के अधिक निकट है। वे इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि विभाजन प्रकृत नहीं है क्योंकि प्रत्येक के तत्त्व भिन्न रूपों में दोनों में ही उपलब्ध हो जाते हैं। उन्होंने रूसो का समर्थन किया कि प्राचीनों के सिद्धान्त ताल और गति पर आधारित रहे हैं और नयों के संगीत पर। हेमस्टह्यूस का उद्धरण देते हुए श्लेगेल ने बताया कि प्राचीन चित्रकार, मूर्तिकार अधिक थे और आधुनिक मूर्तिकार ही चित्रकार अधिक हैं। इसलिए स्वच्छंद-कविता शास्त्रीय से प्रकृति व कला, कविता व गद्य, स्मृति व अन्तःकरण, अध्यात्म व ऐन्द्रियता—सब दृष्टि से भिन्न है। पुरानी कविता में वस्तुओं के शाश्वत विचारों की अभिव्यक्ति करने वाले एक सुन्दर, संतुलित व व्यवस्थित विश्व की घोषणा है, इसके विपरीत स्वच्छंद कविता में अव्यवस्था की अभिव्यक्ति है। ग्रीक-कला, सरल स्पष्ट और प्रत्येक रचना स्वतःपूर्ण है, जबकि स्वच्छंद-रचना अपने बिखरे रूप में दृष्टिगत होती हुई भी विश्व की रहस्यानुभूति के अधिक निकट है। ग्रीक-नाटक, मूर्तिकला के अधिक निकट थे और आधुनिक नाटक, चित्रकला के। दोनों में अन्तर है—प्रत्यावस्था व जैविक स्थिति का, रूप-विधान व चित्रमयता का, निश्चित व अनिश्चित का, सम्पूर्ण व असीम का, प्रगतिशील काव्यों-रूपों की एकरसता व मिश्रण का और सरल व जटिल का। उन्होंने सच्ची आलोचना की सार्वभौमिकता—स्वच्छंदता—के प्रति सहानुभूति प्रकट की है।

शिलर का मत था कि कवि या तो प्रकृति-स्वरूप (नाईव) होता है, अथवा वह प्रकृति की चाहना (सैंटिमेंटल) करता है। ग्रीकों में भावात्मक अभिरुचि बहुत कम थी, वे अपनी सीमाओं में महान् थे और नये अपनी अनंतता में।

हेगल ने 'ललितकला दर्शन' के अन्तर्गत प्रतीकात्मक, शास्त्रीय व स्वच्छंद कलाओं की चर्चा की। प्रतीकात्मक कला में विचार और सामग्री में तादात्म्य स्थापित नहीं होता। शास्त्रीय और स्वच्छद कला में मुख्य अंतर यह है कि स्वच्छंद-कला में शास्त्रीय की अपेक्षा सौंदर्य कम और शक्ति अधिक होती है। शास्त्रीय-कला में ग्रीक देवी-देवताओं को ही मुख्य विषय बनाया जाता है, जबकि स्वच्छंद-कला में प्रभु ईसा, मेरी, साधु आदि धार्मिक पात्र ही प्रमुख रहते हैं। इसलिए ग्रीक-धर्म शास्त्रीय है और ईसाईयत स्वच्छंदवादी है। शास्त्रीय-कला स्पष्ट है किंतु उदात्त नहीं, और स्वच्छंद-कला यथार्थ की अभिव्यक्ति है, यद्यपि प्रकृति का यथातथ्य अनुकरण नहीं है।[1]

इस प्रकार जर्मन समीक्षकों ने शास्त्रीय-कला को सरल, वस्तुगत और प्रकृति-निष्ठ कहा तथा स्वच्छंद-कला को गहन, व्यक्ति-निष्ठ व स्पष्ट कहा। उन्होंने कहा कि प्रकृति का बाह्य-रूप ही अभी तक चर्चा का विषय रहा है, किंतु अब आभ्यांतरिक प्रकृति के संवारने का समय आ गया है। उन्होंने शास्त्रीय कला को 'सौंदर्य' और स्वच्छंद-कला को 'शक्ति' कहा। उनके अनुसार शास्त्रीय-कला सार्वभौमिक व आदर्श थी तथा रोमानी व्यक्तिगत एवं चरित्र-प्रधान। शास्त्रीय-कला, मूर्तिकला की भांति मूर्त, स्थिर व शुद्ध थी और रोमानी-कला, चित्र-कला की भांति अमूर्त, अस्थिर और मिश्रित।[2]

ह्यूम की दृष्टि में, स्वच्छंदतावादी धारणा यह है कि मनुष्य स्वभाव से अच्छा है, परिस्थितियां उसे बिगाड़ती हैं। शास्त्रीयवाद के अनुसार मनुष्य स्वभावतः सीमित होता है, और परम्पराएं एवं व्यवस्था के अनुशासन से उसे अच्छा बनाया जा सकता है। अतः स्वच्छन्दतावाद के अनुसार मनुष्य असीम सम्भावनाओं का भंडार है और उन सम्भाव्यों के यथार्थ-रूप लेने पर ही प्रगति की संभावना हो सकती है। शास्त्रीयवाद के अनुसार मनुष्य स्थिर और सीमित प्राणी है और अनुशासन व परम्परा में ही वह अपना विकास कर सकता है।

डे स्टेंडल, जो फ्रेंच स्वच्छंदतावाद के प्रवर्तकों में से हैं, इन दोनों प्रवृत्तियों का अंतर स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि स्वच्छंदतावाद प्रगति,

---

1 A History of Modern Criticism, Vol. II, Wellek, p. 327

2 Literary Criticism—Wimsatt & Brooks, p. 368

मुक्ति, मौलिकता और भविष्य के प्रति आस्था के लिये तथा शास्त्रीयवाद अधिकारी, अनुकरण व भूत की प्रवृति के लिये प्रयुक्त होता है।[1] स्वच्छंदतावाद उन साहित्यिक रचनाओं को प्रस्तुत करने की कला है जो अधिकाधिक आनंद प्रदान करने में सक्षम है और शास्त्रीयवादी रचनाएं वे हैं जो पितामहों को आनंद प्रदान कर चुकी हैं।

वाल्टर पेटर ने इन दोनों की तुलना अपने ही ढंग से की है। वे इन दोनों प्रवृत्तियों को नैसर्गिक मानते हैं—"कुछ जन्मजात शास्त्रीयवादी होते हैं जो रूप आकार से आरम्भ करते हैं, जिनके लिए कला और साहित्य में प्राचीन चिरंतन एवं चिरपरिचित रूपों का आकर्षण सर्वोपरि होता है। दूसरी ओर हैं जन्मजात स्वच्छंदतावादी, जो मौलिक और अछूती सामग्री से आरम्भ करते हैं, जिनका रूप अभी स्थिर न हुआ हो जो उसका बड़े जीवन्त रूप से भावन करते हैं..."[2] वस्तुतः शास्त्रीय कवि वस्तु की सुन्दरता का स्पष्टीकरण इस ढंग से करता है कि वह हमें चिरपरिचित-सी लगती है, उसमें नव्यता व भव्यता का बोध बाद में नहीं रहता, या फिर सुनते-सुनते हम उसे 'अच्छी' कहने के आदी हो जाते हैं; किन्तु जब उसमें सौन्दर्य के साथ विचित्रता व अजनबीपन बढ़ा दिया जाता है तो उसका रूप कुछ निराला हो जाता है। स्वच्छंद प्रवृत्तियों में संगीत का गुण स्वतः आ जाता है पर बन्धनधारी परिपाटी में यह गुण आना कठिन है।

बेसिल वर्डस्फोल्ड का विचार है कि साहित्य में दो विरोधी प्रवृत्तियां अवश्य पायी जाती हैं। इनमें से एक प्रवृत्ति का कार्य अधिकारी विद्वानों द्वारा निर्देशित आदर्शों का अनुकरण करना है और दूसरी का काम समसामयिक जीवन की वास्तविकता के निकटस्थ होने के लिये, इन आदर्शों का उल्लंघन करने की सजग इच्छा व्यक्त करना है। प्रथम प्रकार की शास्त्रीय-प्रवृत्ति में वह पूर्ण साहित्यिक अभिव्यक्ति मिलती है, जो महान् कलाकारों और बुद्धिजीवियों के कारण संभव हो सकी है, दूसरी—रोमांटिक प्रवृत्ति—में 'नये' की जिज्ञासा बनी रहती है, जो जाति की प्रगति की

---

1 '...Romanticism stands for progress, liberty, originality and the spirit of the future. Classicism for conservation, authority, imitation, and the spirit of the past.'

—A History of English Romanticism—Beers, p. 11

2 Appreciations—Walter Pater, p. 254

दिशा-सूचक भी है। शास्त्रीय-प्रवृत्ति का खतरा यह है कि वह नये युगबोध को समझने में अक्षम और केवल सांचों और प्रणालियों से चिपके रहने के कारण अपनी प्राण शक्ति खो देती है; और रोमांटिक-प्रवृत्ति, विगत युग के स्थायी मूल्यों का परित्याग करती हुई, वर्तमान पाठकों को संतुष्ट कर सकती है किंतु भविष्य के लिये उसकी महत्ता संदिग्ध हो जाती है।[1]

स्कॉट जेम्स ने 'क्लासिक एन्ड रोमांटिक', निबंध में दोनों का महत्त्वपूर्ण अन्तर बताया। उन्होंने लिखा कि अठारहवीं शती के अन्त तक पुरानी मान्यताओं व साहित्यिक मानदण्डों की नींवें हिलने लग गई थीं और उनके स्थान पर नये प्रकार के विचार, भाषा, साहित्य यहां तक कि समाज भी नये रूप में प्रस्तुत हुआ था। इस परिवर्तन का बहुत बड़ा श्रेय रूसो को दिया जा सकता है। उसके लेख घिसी-पिटी विश्व-व्यवस्था के विरुद्ध थे।

दोनों वादों की तुलना करते हुए जेम्स ने लिखा—"रूप विधान, वाह्य रूप-विधान ही शास्त्रीयवाद का प्रथम महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और इसके साथ यह वाह्य-सौन्दर्य—जो संतुलन व्यवस्था, तर्क आदि तत्त्वों से युक्त है—की भित्ति पर स्थिर है, और इसके विपरीत स्वच्छंद उस चेतना पर बल देता है, जो रूपाकार से परे है।"[2]

दोनों के कल्पना-जगत् की चर्चा करते हुए स्कॉट जेम्स ने लिखा—"प्रथम (शास्त्रीयवाद) 'इस संसार' के परिचित सौन्दर्य पर बल देने का प्रयास करता है और दूसरा (स्वच्छंदतावाद) 'दूसरे संसार' पर। पहले के लिए मानवता का उचित अध्ययन मनुष्य ही है, जबकि दूसरा आत्मा की खोज में जाते हुए विचित्र व अनजान स्थानों, प्रकृति के वनस्थली दृश्यों की ओर देखता है—"उच्च रोमांस के लिए विशालकाय नीरदीय प्रतीक"—इसी बात को अपने ढंग से समझाते हुए श्री लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने लिखा है—"सामंजस्य, सानुपातिकता सहित वाह्य-रूप··· क्लासिकल रचनाओं के अपरिहार्य अंग थे और यद्यपि स्वच्छंदतावादियों में सौंदर्योपासना का अभाव नहीं था, तो भी सौंदर्य के साथ साथ उसके सम्बंध में सूक्ष्म रहस्यानुभूति और कुतूहल अपनी विशेषताएं हैं। दोनों में

1 Judgment in Literature—W. Basil Worsfold, p. 90
2 The Making of Literature, p. 167

क्रमश: वस्तुपरकता और आत्मपरकता का भेद है। स्वच्छंदतावादी बाह्य-सौंदर्य तक सीमित न रहकर उसकी अन्तरात्मा को देखना परखना चाहते हैं। एक में पार्थिवता है, दूसरे में अपार्थिवता।"[१] स्टॉक जेम्स ने दोनों के आन्तरिक-तत्त्वों की विभिन्नताओं का उल्लेख करते हुए लिखा कि शास्त्रीय सरलता की ओर आकृष्ट होता है और स्वच्छंद, अतिशयता की ओर। शास्त्रीय को शांति पसंद है, स्वच्छंद को एडवेंचर। पहला परम्परावादी है और दूसरा नवीनता का प्रेमी।[2] शास्त्रीयवाद में सुदृढ़ता, औचित्य, संतुलन, रोकथाम, पुरातनता, अधिकार, शांति, अनुभव, शान जैसे गुण दोष मिलते हैं; जबकि स्वच्छंदतावाद में उत्तेजना, शक्ति, बेचैनी, आध्यात्मिकता, कुतूहल, पीड़ा, प्रगति, स्वतंत्रता, प्रयोग व हलचल करने वाली प्रवृत्तियां मिलती हैं।

रैले की दृष्टि में शास्त्रीय लेखक वह है, जो साहित्य में शालीनता की चिर-प्रतिष्ठा करने का और उसका शाश्वत आवास बनाने का प्रयत्न करता है और स्वच्छंदतावाद लेखक वह है, जो केन्द्रापगामी प्रवृत्तियों से अपना नाता जोड़ लेता है और परिवर्तन-रथ के लहराते हुए ध्वज के साथ साथ बढ़ता है। वह साहित्य में आत्म की प्रतिष्ठा का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि शास्त्रीयवाद कलाकार यह चाहता है कि साहित्य विश्वजनीन सभ्यता का चरम प्रतीक हो; किंतु शास्त्रीय-आदर्श की शांति, मरण की शांति होती है और स्वच्छंदतावादी जीवन की गतिशीलता और परिवर्तन का हामी होता है। शास्त्रीयवादी की परिभाषा है—'एक मृत स्वच्छंदतावादी।'[3]

ग्रियर्सन के शब्दों में 'शास्त्रीय कला में आस्थावान समाज का संतुलन अभिव्यक्ति पाता है, स्वच्छंदतावादी कला का जन्म आध्यात्मिक मंथन के युग में होता है जब नये रक्त का संचार प्रारम्भ हो रहा हो।' वे आगे कहते हैं—'शास्त्रीय-कला में तो तर्क और भावना का संतुलन होता है पर स्वच्छंदतावादी-कला का पूर्ण विकास तर्क के सजग प्रतिरोध से होता

---

१ पश्चिमी आलोचना शास्त्र, पृ० १३३

2 'Repose satisfies the Classic, adventure attracts the Romantic. The one, appeals to tradition, the other demands the novel. —The Making of Literature, p. 167

३ पाश्चात्य काव्य-शास्त्र : सिद्धांत और वाद, पृ० १९

है...महान् स्वच्छंदतावादी कलाकार जानता है कि वह जो कुछ है, तर्क के कारण नहीं, बल्कि आस्था के कारण है।" स्वच्छंदतावादी कवियों में प्रेरणा-तत्त्व प्रमुख रहता है, किन्तु शास्त्रीय कवियों में प्रेरणा-तत्त्व का अभाव लक्षित होता है।

स्टोडर के अनुसार काव्य की शास्त्रीय पद्धति का सूत्रपात वैधानिक है। इसका परिपोषण अनुशासित वाक्यों से होता है, इसके आदर्श ज्ञात होते हैं। शास्त्रीय कवि अपरिवर्तनवादी होता है। स्वच्छंदतावाद का प्रमुख भाव स्वीकृति नहीं अस्वीकृति है। स्वच्छंदतावादी इतिवृत्ति की उपेक्षा करता है और अन्योक्ति की शरण लेता है। प्रत्यक्ष को छोड़कर वह परोक्ष की जिज्ञासा करता है। यह निर्णीत को त्याग कर गहन तत्त्व का अनुसंधान करता है। स्वीकृत विधान के प्रति असंतोष में स्वच्छंदतावाद का जन्म होता है। यह निरन्तर सजग होकर एक ऐसी नवीन व्यवस्था की खोज करता है, जो पुरानी और मान्य व्यवस्था का अतिक्रमण कर सके। अतः परम्परावादी कवि की तुलना में स्वच्छंदतावादी कवि, अनुपात, संतुलन एवं परिष्कार के गुणों की न्यूनता लेकर आता है। शास्त्रीयवाद शालीन स्वीकृति है, जबकि स्वच्छंदतावाद उद्दाम आकांक्षा है।[1]

हर्बर्ट रीड के शब्दों में—'स्वच्छंदता व्यक्तिगत मूल्यों की अभिव्यक्ति है, शास्त्रीयवाद विश्वजनीन मूल्यों की अभिव्यक्ति।'

एम० आर० रिडले के अनुसार क्लासिक-प्रकृति अवश्यम्भावी को भी स्वीकार करती है, संतुलन में उसे विश्वास है, सम्पूर्ण के लिए बिखराव का त्याग करती है, सरलता में विश्वास है। इसके विपरीत रोमांटिक-प्रकृति विद्रोही है, भावनाओं को असंयत तरीके से अभिव्यक्त करती है, रहस्यमयी बातों से उसे प्रेम है, शिल्प की दृष्टि से वह रूपाकार पर भी बल देती है, विस्तार व व्यापकता में उसे अविश्वास है।

इरविंग बैबिट के अनुसार शास्त्रीय लेखक, रचना के रूप और शिल्प पर अधिक ध्यान देता है और स्वच्छंदतावादी लेखक, सूक्ष्म, गहन और आकर्षक ब्योरों की ओर अधिक ध्यान देता है। शास्त्रीय-रचना में वस्तु तो रूप-आकार में ही समाहित होकर अर्थवती हो जाती है, जबकि स्वच्छंद-रचना में विस्तार के कारण वस्तु और रूप-आकार हमें आश्चर्य-चकित करते हैं।

---

१ श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व-स्वच्छंदतावादी काव्य—पृ० ३७

इस बात को समझते हुए डॉ० आयंगर ने लिखा है कि जैसे श्रीराम का जीवन, अनेक बाधाओं के बावजूद भी सरलता और सहजता की ओर अग्रसर हुआ और श्रीकृष्ण का जीवन चंचलता और कौतुक-प्रियता के कारण हमें आश्चर्यचकित करता रहा। श्रीराम और श्रीकृष्ण, शास्त्रीय और स्वच्छंद-वृत्ति के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं।[1]

टी० एस० इलियट के अनुसार दोनों में वही अंतर है जो पूर्ण और अपूर्ण, वयस्क और नाबालिग तथा व्यवस्थित और अव्यवस्थित में होता है।

जे० एम० कोहन ने राबर्ट ग्रेव्स की कविता पर टिप्पणी करते हुए स्वच्छंदतावादी व शास्त्रीयवादी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार रोमांटिक कविता में उत्तेजना होती है और शास्त्रीय में विश्लेषण; एक में विचित्र अनुभूति होती है तो दूसरे में सामान्य कथन। ग्रेव्स की कविता में ये दोनों बातें पायी जाती हैं।

इस प्रकार स्वच्छंदतावाद में आत्मपरकता, आन्तरिक अनुभूति, व्यक्तिगत-मूल्य, अपूर्णता की भावना, निराशावादिता की प्रवृत्ति, विद्रोह की चेतना, मुक्ति की प्यास और शास्त्रीयवाद में वस्तुपरकता, बाह्यानुभूति सार्वभौमिक मूल्य, प्रचलित नियमों के प्रति स्वीकृति का आग्रह, तटस्थता का भाव, शांति, संतुलन व समता का भाव इत्यादि प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं।[2]

डब्लू मैक्नील डिक्सन के अनुसार क्लासिक कलाकार, विश्व को उस रूप में ग्रहण करता है, जिस रूप में पाता है, वह उसमें कोई व्यक्तिगत समस्या नहीं रखता, कतिपय नैतिक और बौद्धिक समस्याओं की चर्चा अवश्य करता है, किन्तु स्वच्छंद कलाकार, वर्तमान व दृश्यमान् जगत् को कलाक्षेत्र के बाहर की चीज समझता है, और ऐसे विश्व का निर्माण करता है जो उसके आदर्शों,भावनाओं और आकांक्षाओं का प्रतिरूप होता है। स्वच्छंदतावाद, जगत् के भावात्मक व आध्यात्मिक दृश्यों के परिवर्तित रूपों में आनन्द लेता है और शास्त्रीयवाद आत्मा की निराशावादी समस्याओं व भावना पर विवेक की विजय और बौद्धिक कार्यों की प्रस्तुति में आनन्द

1 The Study of English Literature, p. 225
2 The Study of English Literature—Iyengar, p. 222

लेता है।

डिक्सन के अनुसार स्वच्छंदतावादी, संगीतात्मकता को महत्त्व देते हैं। संवेदनात्मक सांकेतिकता में जब काव्यार्थ खो जाता है तो कविता (गीति काव्य) की सम्पूर्णता सामने आती है।[1]

कैलेट के अनुसार 'जोश' ही शास्त्रीयवाद की अपेक्षा स्वच्छंदतावाद की पूरी विशेषताओं को अभिव्यक्त करता है। स्वच्छंदतावाद उत्तेजना को खुला छोड़ देता है और शास्त्रीयवाद उसे रोकने का प्रयास करता है।[2]

सिडनी काल्विन ने दोनों वादों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा : 'शास्त्रीय रचना में प्रत्येक प्रत्यय मस्तिष्क के सम्मुख यथासंभव नग्न रूप में प्रस्तुत होता है, साथ ही स्पष्टतः भी, इसके विपरीत स्वच्छंद-रचना में सभी वस्तुएं रंगीन वातावरण में प्रदर्शित की जाती हैं।' शास्त्रीय लेखक वस्तुओं के सम्बंध में निश्चित व दृढ़ धारणाएं रखता है और स्वच्छंदतावादी लेखक, चौंकाने वाली अस्पष्टता व अनिश्चितता लिए हुए रहता है।[3]

'एनसायक्लोपीडिया आफ अमेरिकना' (१९४५) में दोनों प्रवृत्तियों का अंतर इस प्रकार मिलता—शास्त्रीयवाद के मुख्य चिन्ह हैं—सरलता, स्वाभाविकता, गरिमा तथा रचना में पूर्णता। कला की क्लासिकल रचना में कहीं भी भावों एवं माध्यम में सामंजस्य की कमी देखने को नहीं मिलती और न किसी ऐसी अभिव्यक्ति का, जो व्यक्त न हो सके, संकेत या प्रस्ताव मिलता है अर्थात् उसकी अभिव्यक्ति विषय की पूर्ण स्पष्टता होती है। परिणामस्वरूप कलाकार के व्यक्तित्व का प्रदर्शन नहीं होता, वह अपनी उस रचना में खो जाता है जो व्यक्ति-निरपेक्ष होती है। वह हमें विषय के प्रति अपना दृष्टिकोण, अपना भावात्मक संघर्ष तथा जीवन की झांकी नहीं देता। दूसरी ओर रोमांटिक कलाकार, स्वयं को रचना में सम्मिलित करता है अर्थात् अपने व्यक्तित्व को क्लासिक कलाकार की तरह रचना में डुबो नहीं देता। वह केवल उस सौंदर्य की निष्पक्ष भावना की अभिव्यक्ति नहीं, अपितु स्वयं के व्यक्तित्व, एषणाएं, आशाएं, आदर्श व

1 An Apology for the Arts, p, 105
2 The Whirligig of Taste, p. 119
3 A History of English Romanticism—Beers, p. 17

उस आत्मा को भी, जो असीम की ओर प्रेरित होने के कारण स्वयं को कभी सीमित व वस्तुनिष्ठ माध्यम द्वारा व्यक्त नहीं करती, अभिव्यक्ति देना चाहता है।

"शास्त्रीयवाद सदैव सुनिश्चित, वस्तुनिष्ठ एवं पूर्ण होता है, जबकि स्वच्छंदतावाद सदैव चेतन से स्पंदित होता है, और इस प्रकार उसमें अपूर्णता की सूचना होती है जिसका कारण यह है कि वह आत्मा या भावना के रहस्य को प्रकट करना चाहता है, जिसके लिये कोई वस्तुगत माध्यम पर्याप्त नहीं होता। इसलिये वह केवल प्रतीकात्मक और अस्पष्ट रूप में ही सूचित किया जाता है।"[1]

रूप-विधान—बहुधा यह कहा जाता है कि शास्त्रीय-रचना में रूप के प्रति गहरी आसक्ति और मोह है, जब कि स्वच्छंद रचना, मौलिकता व सौंदर्य के प्रति अधिक जागरूक होने के कारण रूपाकार की अपेक्षा वस्तु-सामग्री को ही अधिक महत्त्व देती है।

गिल्बर्ट मरे ने दोनों रचनाओं के अंतर को स्थापत्य-कला के आधार पर समझाया है। उनके अनुसार—'यदि आप ग्रीक पारथीनन का आनंद लेना चाहते हैं, तो वहां सौंदर्य का पूर्ण व महान् विस्तार मिलेगा, जिसका अध्ययन आप खाली समय में कर सकते हैं। पूरे भवन में इसका कलात्मक-सौंदर्य इसको पूर्णतया देखने से ही मिलता है। पर यदि आप गौथिक कैथरडल का आनंद लेना चाहते हैं तो इसका विशेष आनंद, जिज्ञासा प्रधान उत्तेजक ब्योरों को देखने व चारों ओर चक्कर काटने में ही उपलब्ध होगा। इस बात का समर्थन करते हुए रिडले भी स्वीकार करते हैं कि पारथीनन में 'शानदार सादगी', 'सीधी रेखाओं का सामंजस्य' दृष्टिगत होता है और गौथिक कला में 'शानदार उलझाव' पर साथ ब्योरों की विविधता से प्राप्त अद्वितीय समृद्धि का पूर्ण प्रभाव भी दृष्टिगत होता है।

शास्त्रीय लेखक, संतुलन व अनुपात में आस्था रखता है अतः वह स्पष्ट व सपाट अभिव्यंजना शैलियों को ग्रहण करता है और अपनी बात सरल सहज ढंग से अभिव्यक्त कर देता है, किंतु स्वच्छंदतावादी सौंदर्य-प्रसाधन के अनेक सहज वक्र तरीके अपनाता है। स्पष्टवादिता व संतुलन उसका लक्ष्य नहीं है, अतः उसकी शैली अधिक अभिव्यंजक व वक्र होती है।

---

१ श्रीधर पाठक और हिन्दी का पूर्व-स्वच्छंदतावादी काव्य, पृ० ३६

वह मस्तिष्क की अज्ञात राहों में भटकता है इसलिये उसके विम्ब व प्रतीक इसी उलझाव के द्योतक होते हैं। शास्त्रीय लेखक विम्बों आदि का उपयोग नहीं करता क्योंकि वह दुरुहता का हामी नहीं है. वह तो किंचित् नियमों व उद्देश्यों से बंधा हुआ है. किंतु स्वच्छंदतावादी लेखक के लिये कोई बंधन नहीं है, विम्बों के क्षेत्र में स्वच्छंदता से विचरण करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि क्लासिक कवि अपने विम्बों के अनुयायी होते हैं तो विम्ब ही स्वच्छंद कवि के अनुयायी होते हैं।[1]

सिडनी काल्विन कथन है कि शास्त्रीय लेखक की शैली में प्रस्तुतिकरण की स्पष्टता, शक्ति व न्याय का गुण रहता है.जबकि स्वच्छंद लेखक की शैली में ध्वन्यात्मकता व प्रभविष्णुता का प्राचुर्य रहता है। स्वच्छंदतावादी लेखक में आत्मसंयम की अपेक्षा उग्रता व जोश अधिक रहता है, फलतः उसकी शैली में संतुलन व अनुपात का अभाव पाया जाता है। अतः शैली की गरिमा उसमें नहीं मिलती जो शास्त्रीय लेखक में मिलती है। काल्विन ने लैंडर व कीट्स की रचनाओं के आधार पर अपने मत की पुष्टि भी की है।[2]

रूप-विधान की दृष्टि से अंतर वताते हुए कतिपय समीक्षक, तीन आयामों वाली मूर्ति को शास्त्रीय और दो आयामों वाली चित्रकला को स्वच्छंदतावादी वताते हैं। किलरकोच के अनुसार शास्त्रीयवादी में रंग संवेदन-शक्ति की अपेक्षा रूप-संवेदन शक्ति और स्वच्छंदतावादी में रूप-संवेदना शक्ति की अपेक्षा रंग-संवेदन-शक्ति अधिक होती है, वह अछूते कथ्य की ओर अधिक आकृष्ट होता है। भारतीय लेखकों ने भी दोनों की तुलना करते हुए अपने मत स्थिर किये हैं। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी के अनुसार शास्त्रीयवादी, रूप का प्रेमी होता है और स्वच्छंद-कवि अज्ञात परिपूर्णता का अभिलाषी। क्लैसिक-कवि परिपूर्णता की कल्पना साकार मूर्ति के सौंदर्य में करता है। रोमांटिक अरूप और अनंत की भावना में रमता है।

इन दोनों काव्य पद्धतियों में जो अंतर निर्देश कर दिये गये हैं, उनका सर्वथा लोप होना असंभव है। 'क्लैसिसिज्म में प्रमुख विशेपता साधारण से ऊंचे पात्रों का चित्रण करने में देखी जाती है, उसकी चित्रण

1 Inclinations—Edward Sachville West, p. 133
2 A History of English Romanticism–Henry. A. Beers p. 18

शैली में भी असाधारणता रहा करती है।......रोमांटिसिज्म में वस्तु का उदात्त होना आवश्यक नहीं। साधारण से साधारण वस्तु में भी काव्यात्मक चित्रण बनने की क्षमता है।' सारांश यह है कि इस शैली में अधिक व्यापक और भावात्मक प्रवृति पायी जाती है। इस काव्य-पद्धति के अनुसार काव्य में प्रयुक्त होने वाली भाषा का भी कोई बंधन नहीं माना गया है, वस्तु तथा शैली में यह कोई तात्त्विक भेद नहीं मानती। दोनों को कवि की भावव्यंजना का अभिन्न आधार समझती है।

वाजपेयीजी के शब्दों में 'रोमांटिक वर्ग के कवि और समीक्षक भावना को काव्य की मुख्य वस्तु मानते हैं। वे अन्य सभी उपादानों को अन्तर्गत समाविष्ट कर लेते हैं, जबकि क्लैसिक वर्ग के कवियों और समीक्षकों के लिये वस्तु और शैली दो पृथक् सत्ताएं हैं, दोनों का अलग अलग सौंदर्य है।[1]

श्री डी. एन. घोप की मान्यता है कि शास्त्रीय लेखक रूप-विधान, प्रत्यय सौंदर्य, क्षणस्थैर्य को विशेष महत्त्व देते हैं—वे निश्चित प्रतिमानों पर ही अपने साहित्य का निर्माण करते हैं। यही बुद्धि-तत्त्व अनुभूति की सामग्री का चयन व समन्वय करता है। किंतु स्वच्छदतावादी लेखक अपने ही स्वप्निल-जगत् में कल्पना के सहारे सोया और खोया रहता है। उसका व्यक्ति शास्त्रीय समाज का विरोध करता है।[2]

शास्त्रीय लेखक जहां विवेक और वक्रोक्ति के सिद्धांतों का सहारा लेते हैं, वहां स्वच्छंद लेखक स्मृति व कल्पना की शरण में जाते हैं।

श्री लीलाधर गुप्त, इन को 'दो विपरीत वृत्तियां' मानते हुए लिखते हैं—'प्रकृतता और नियमबद्धता शास्त्रीय-वृत्ति को निश्चित करती है; जैसे कल्पनात्मकता और मुक्तता रोमांसिक-वृत्ति को निश्चित करती है।' वे मानते हैं कि धार्मिक क्षेत्र में प्रचलित विश्वास और पूजा-पद्धति को स्वीकार कर लेना और परम्पराधिकृत नीति से व्यवहार करना शास्त्रीयता है। इसके अतिरिक्त, विश्वास और पूजा-पद्धति की स्वतंत्रता और आचरण को ऐसी सद् विवेक बुद्धि से नियमित करना, जिसने जीवन-मूल्यों की परीक्षा करके उनका समन्वय किया हो, रोमांसिकता है। वे आगे लिखते हैं कि

---

१ आधुनिक साहित्य, पृ० ४१६–१९

1 Principles of Litevary Criticism, p. 202

राजनीति और समाज के क्षेत्र में स्थिति-पालन, पदाविकार और परम्परा का सम्मान शास्त्रीय-वृत्तियां हैं, तथा उदारता, योग्यता, मौलिकता और व्यक्तित्व का आदर रोमांसिक वृत्तियां हैं।

माइकेल रोवर्टस के विचारों का विश्लेषण भी किया गया है। रोवर्टस मानते थे कि शास्त्रीय मनुष्य अवैयक्तिक आदर्श का आधार लेता है, चरित्र विकसित करता है और स्वच्छंदतावादी मनुष्य अपने अन्तर्वेगीय निर्णय पर ही भरोसा करता हुआ व्यक्तित्व का विकास करता है। फलतः ऐसी व्यवस्था, जो शास्त्रीय मनुष्य अपने जीवन में प्रदर्शित करता है, यांत्रिक होती है और ऐसी व्यवस्था, जो स्वच्छंदतावादी अपने जीवन में प्रदर्शित करता है, आंगिक होती है। शास्त्रीय-कला की मुख्य विशेषता वाह्य-रूप के सौंदर्य की खोज औरस्‍ वच्छद-कला की मुख्य विशेषता आध्यात्मिक सौंदर्य की खोज मानी गई है। इसलिए ये दोनों मनोवृत्तियां एक दूसरे का वर्णन नहीं करतीं।[1]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य में दो विरोधी मनोवृत्तियां पाई जाती हैं, जिनके संघर्ष में कलाकृति का सृजन होता है। जब चेतन आदर्श, अंदर से उमड़कर आई हुई प्रतिमाओं पर विजय पा जाता है, तो शास्त्रीय-कला का सृजन होता है, और जब आन्तरिक प्रतिमाओं का प्रचण्ड कोलाहल, किसी चेतन आदर्श से व्यवस्थित नहीं हो पाता, तो रोमांटिक-कला का जन्म होता है। अतः शास्त्रीयता जीवन से सम्बद्ध है और स्वेच्छा से जीवन के अभावों को स्वीकारती है, जबकि स्वच्छंदता, जीवन के अभावों से ऐसे संसार को पलायन है, जहां स्वेच्छा और मूल-प्रवृत्तियों का निरंकुश शासन है।

जुंग के अनुसार मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—वहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। वहिर्मुखी लोगों की मान्यता यह है कि 'सत्य का परिचय न तो केवल अन्तःकरण से होता है और न केवल इन्द्रियों से। सत्य का ज्ञान होने के लिये दोनों की ही आवश्यकता पड़ती है। यह समन्वय-भावना शास्त्रीय मार्ग का मूल है।' अतः शास्त्रीयवादी वहिर्मुखी होते हैं।

अन्तर्मुखी लोगों की धारणा है कि 'सत्य का स्वरूप अपेक्षाकृत सूक्ष्म होता है। इसलिए अन्तःकरण की अनुभूति, इन्द्रियजन्य-ज्ञान से

---

१ पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत, पृ० १८६–८७.

प्रबल होती है।' इस प्रकार संसार का अनुभव प्राप्त करने की अपेक्षा वैयक्तिक अनुभूतियों पर आश्रित रहना अधिक श्रेयस्कर होता है। स्वच्छंदतावादी, व्यक्तिगत अनुभूतियों के चित्रण के कारण अन्तर्मुखी हैं।[1]

इसी आधार पर हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि शास्त्रीयवादी की प्रबंध-काव्य या जीवन के वर्णनात्मक या विषय-प्रधान काव्य की ओर अभिरुचि अधिक रहती है और स्वच्छंदतावादी कवि की गीति काव्य जैसी आत्माभिव्यंजक या विषय-प्रधान कविता के प्रति आकर्षण अधिक रहता है।

श्री आयंगर ने अपनी पुस्तक में इन दोनों वादों का अंतर इस प्रकार की सारणी से स्पष्ट किया है।[2]

| रोमांटिक | क्लासिक |
|---|---|
| विषय वस्तु की दृष्टि से :— | |
| १ व्यक्तित्व व उसके महत्त्व से परिपूर्ण साहित्य। | १ आत्मचेतनारत लघु समाज का साहित्य। |
| २ आन्तरिक अनुभूतियां—अचेतन की खोज। | २ वाह्य अनुभूतियां—सत्य का यथातथ्य चित्रण। |
| ३ अवास्तविक व परिवर्तनशील कथ्य। | ३ वास्तविक व अपरिवर्तनशील धरातल। |
| ४ अस्तित्ववादी स्वर व बल-- भावनाओं व संवेदनाओं की अभिव्यक्ति। | ४ विधि नियम—बौद्धिकता की अभिव्यक्ति वासनाओं से परे। |
| ५ असीम व्यापक व अतिशय बुनावट। | ५ कम बुनावट। |
| रूपाकार की दृष्टि से:— | |
| ६ रूपाकार विषयवस्तु पर अवलम्बित, विविध काव्य-रूपों का प्रकाशन, छंदों की विविधता। | ६ रूपाकार पर आश्रित कथ्य, निश्चित विधाओं में विश्वास, सीमित छंद-योजना। |
| ७ ब्योरों की विविधता व व्यापकता। | ७ कसाव व विषय का चुनाव। |

१ घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा, पृ० २२०

2 The Study of English Literature, p. 227-28

| | |
|---|---|
| ८ चौंकाने वाला रूप विधान। | ८ सरल व स्पष्ट रूप-विधान। |
| ९ चित्रकला के निकट—कलात्मक व रूपात्मक से अधिक रंगीन। | ९ मूर्तिकला के निकट, रंगों से अधिक रूपात्मक। |
| १० जीवन की जटिलता व उलझाव की व्यापक अभिव्यक्ति रूपविधान द्वारा—व्यक्तिगत अनुभूति पर बल। | १० जीवन की सरल स्पष्ट अभिव्यक्ति अधिक गहराई—विश्वजनीनता की सूचना। |

प्रभाव की दृष्टि से:—

| | |
|---|---|
| ११ समुदाय के विरुद्ध व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा व निर्वाह। | ११ विश्वजनीनता पर बल, व्यवस्थित समाज की परम्पराओं की मान्यता। |
| १२ भूत व भविष्य के प्रति स्वप्निल जिज्ञासाएं। | १२ वर्तमान में विश्वास व आस्था। |
| १३ अनजानी अनसोची राहों की खोज। | १३ सदा साथ रहने वाली गौरवमयी व सुन्दर परम्पराओं में विश्वास। |
| १४ प्रत्येक अच्छी कविता अपने समय में रोमांटिक थी, क्योंकि इसने अपने युग-बोध को सही ढंग से अभिव्यक्त किया। | १४ युग-संवेदनाएं जब मानव संवेदनाओं का अंग बनकर रह जाती है तो स्वच्छंद रचना अभिजात बन जाती हैं। |
| १५ बुरे रूप में यह रोग है और सर्वोत्तम रूप में अस्तित्ववादी वरदान है। | १५ निकृष्टतम रूप में मरघट की शांति की भांति है, सर्वोत्तम रूप में यह संगीतमय व्यक्ति का स्वास्थ्य है। |

निष्कर्ष—डगलस बुश के अनुसार शास्त्रीय विवेक से ऐन्द्रियता, सभ्यता से नवीनता; मध्ययुगीनता से स्वाभाविकता; नागरिक समाज से ग्राम्य-जीवन; मानव-प्रकृति से वाह्य-प्रकृति; वास्तविकता से रहस्य; व्यंग्य से मिथक, ग्रहीत नैतिक सत्य से सौंदर्य-बोध; वस्तुओं के यथातथ्य चित्रण से प्रगति, ईश्वर व पाप के प्रति आस्था से मानव और अच्छाई; स्थापित धार्मिक-दार्शनिक मान्यताओं से व्यक्तिगत भावनाओं और कल्पनाओं; निराधार से आधार; वस्तुपरकता से आत्मपरकता; सामाजिक विषय से

विषयिगत विषय, औपचारिक सुधारवादिता से व्यक्तिगत अभिरुचि; संतुलन से सघनता; गद्यमयी कविता से बिम्ब और प्रतीक; काव्यगत भाषा से जन-साधारण की भाषा और आत्मचेतनायुक्त परम्परावाद से आत्मचेतनायुक्त मौलिकता की ओर प्रयाण ही स्वच्छंदतावाद है।

संक्षेप में, स्वच्छंद और शास्त्रीय रचना में वैयक्तिकता वस्तु-परकता; आन्तरिक अनुभूति—वाह्यानुभूति; व्यक्तिगत मूल्य—विश्वजनीन मूल्य; अपूर्णता की भावना—सम्पूर्णता की भावना; घोर अहंवाद—तटस्थता का भाव; अवसाद—शांति; विद्रोह की भावना—स्वीकार्य की भावना; मुक्ति—बंधन; चेतनता—जड़ता इत्यादि का स्पष्ट अंतर है। एक की आस्था मनुष्य और प्रकृति में है तो दूसरे की नैतिकता, आदर्श व शक्ति में।[1]

**शास्त्रीयवाद और स्वच्छंदतावाद : मिलन-विन्दु**

ऊपर के विवेचन से ऐसा जान पड़ता है कि दोनों विचारधाराएं परस्पर घोर विरोधी हैं—६३ न होकर ३६ हैं, किंतु ऐसी बात नहीं है। दोनों में पर्याप्त मेल भी है।

एवरक्राम्बी ने स्पष्ट कहा था कि दोनों परस्पर विरोधी नहीं, शास्त्रीयवाद में स्वच्छंदतावाद का तत्त्व भी निहित रहता है, क्योंकि बिना अंतरंग अनुभूति के कोई भी काव्य उत्पन्न ही कैसे हो सकता है? दोनों में केवल संतुलन का अंतर है। संयम और उद्वेग के बीच असंख्य स्तर हो सकते हैं और अन्तरंग और वाह्यानुभूतियों के बीच सामंजस्य स्थापित करने वाली सामग्री भी उपलब्ध हो सकती है।

ग्रियर्सन स्वीकार करते हैं कि दोनों एक ओर व्यवस्था की, समन्वय की आवश्यकता तथा विचार, भावना और कर्म के नियमों की आवश्यकता का प्रतिनिधित्व करते हैं तो दूसरी ओर वे अधिक मुक्त, अधिक न्यायनिष्ठ और अधिक उदार जगत् के लिए भी प्रयत्नशील हैं।

डाइसन व बट महोदय भी इस समन्वय को स्वीकारते हुए कहते हैं कि सभी कविताएं, कल्पना प्रधान साहित्य की सभी रचनाएं, स्वच्छंद व शास्त्रीय दोनों होती हैं। एक कविता लिखना, शब्दों के माध्यम से निजी अनुभूतियों की विचित्रता व विश्वजनीनता को प्रकट करना, स्मृत्यानुसार

---

1 Essays & Studies in English Literature—Prof. Sharma etc. p. 106-8

महत्त्वपूर्ण क्षणों को प्रेषित करना, निजी एकांतमयी प्रसन्नता, उल्लास आदि को व्यक्त करना—एक स्वच्छंद वृत्ति है, किंतु इस अभिव्यक्ति व प्रेषण को चरमोत्कर्ष तक पहुंचाने के लिये परिश्रम करना—एक शास्त्रीय आदर्श है। आकार के लिये प्रयास करना स्वच्छदता है और इसकी पूर्ति शास्त्रीयता है। कविताएं जहां तक चेतना की विचित्र सजगता को व्यक्त करती हैं, स्वच्छंद हैं, और जब इस प्रेषण को सफल रूप-विधान मिल जाता है, वे शास्त्रीय कहलाती हैं। दूसरे शब्दों में, जो कविता अमरता पाने को इच्छुक है वह रोमांटिक है और जिसने इसे पा लिया है वह शास्त्रीय है।[1]

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी मानते हैं कि 'भावना की अराजकता रोमांटिक काव्य का आतिवाद है और वाह्य-रूप की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पाबदी क्लैसिकल काव्य का आतिवादी रूप है। एक में काव्यगत भाव की उपेक्षा है, दूसरी में भावना की अत्यंत अराजक स्थिति है।' फिर भी वे मानते हैं कि 'दोनों में समीपता और समन्वय की भी सम्भावना है।'[२]

डा० देवराज उपाध्याय के अनुसार 'रोमांटिक और क्लासिक साहित्य में विभिन्नता दिखाई पड़ती है, वह वाह्य-रूप-विधान की उतनी नहीं, जितनी वह स्पिरिट की, दृष्टिकोण की तथा प्रेरणा की है।'

शास्त्रीय और रोमांटिक मनोवृत्तियां एक काल में भी हो सकती हैं, यद्यपि प्रधानता एक की ही होगी। जब स्वच्छंदतावादी के अन्तर्वेगों का निर्देश सीमा लांघ जाता है, तो उन्हें अनुशासित करने की आवश्यकता पड़ती है, कहीं वह सामाजिक-व्यवस्था को छिन्न भिन्न न कर दें, ऐसी दशा में स्वच्छंदता, शास्त्रीयता का मार्ग प्रशस्त कर देती है। इसी प्रकार जब नियम और अनुशासन कट्टरता से लागू होने लगते हैं, तब मनुष्य उनके अत्याचार से अपनी मूल प्रवृत्तियों के आश्वासन में मुक्ति पाते हैं, ऐसी दशा में शास्त्रीयता, स्वच्छन्दता के लिये मार्ग प्रशस्त कर देती है। इस प्रकार दोनों प्रवृत्तियां एक दूसरे के अतिरेक को ठीक करती रहती हैं।[3]

एबरक्राम्बी इस धारणा को 'अनुचित' मानते हैं कि स्वच्छंदतावाद और शास्त्रीयवाद परस्पर विरोधी हैं, वस्तुतः दोनों 'सर्वथा भिन्न तत्त्व' हैं।

---

1 Augustans and Romantics, p. 85-86

२ आधुनिक साहित्य, पृ० ४१६

३ पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत—श्री लीलाधर, पृ० १८७

स्वच्छंदतावाद कला का एक संघटक तत्त्व है और शास्त्रीयवाद तत्त्वों के संघटन की एक विधि है। शास्त्रीयवाद में स्वच्छंदतावादी और यथार्थवादी तत्त्व भी मिलते हैं, जो उसके 'स्वास्थ्य' के लिए आवश्यक हैं।

यह वात हमें स्वीकारनी पड़ेगी कि 'क्लासिकल प्रवृत्ति के कलाकार की प्रशंसा इस वात में है कि वह ज्ञेय पदार्थों का अपनी प्रतिभा से याथार्थ्य ग्रहण करे और उसकी प्रभविष्णु अभिव्यक्ति कर सके, पर रोमांटिक प्रवृत्ति के कलाकार की श्रेष्ठता यह है कि उसकी आत्मा स्फुरित होकर अपनी ऐसी अभिव्यक्ति दे कि यह जादू का सा कार्य करे',[1] तभी दोनों सच्चे अर्थ में साहित्य की सेवा कर सकते हैं। स्टेंडल तो दोनों में कोई विरोध न मानकर दोनों को एक सिक्के के दो पहलुओं के समान समझते हैं।

ल्यूकस ने भी कहा था कि जीवन और साहित्य, सनातन रूप से गतिशील हैं। इनमें संतुलन की आवश्यकता है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि क्लासिक या रोमांटिक, तो निश्चित उत्तर है—'दोनों'। शास्त्रीय कला युगों के थपेड़े खाकर लोगों को स्थायी आनंद प्रदान करती है और स्वच्छंद-रचना में प्राचीन स्मृतियों को सजाया जाता है; इस प्रकार स्वच्छंद-रचना ही नियमवद्ध होकर कालांतर में क्लासिक वन जाती है।[2]

अतः दोनों के सम्वंध में अधिक वाद-विवाद की गुंजाइश ही कहां है?

## स्वच्छंदतावाद और यथार्थवाद

ल्यूकस की राय में "शास्त्रीयवाद, स्वच्छंदतावाद और यथार्थवाद में मुख्यतः मात्रा का ही अंतर है···यथार्थवादी लेखक में अपने यथार्थ-वोध के लिये सव कुछ वलिदान कर देने की प्रवृत्ति होती है। क्लासिक लेखक, जहां एक ओर 'परिष्कृत भावना' के नाम पर कतिपय अयथार्थ रूपों के प्रति निर्मम होता है, वहां दूसरी ओर 'परिष्कृत रुचि' के नाम पर अन्य रूपों का सविस्तार विकास करता है और उसकी अन्त:प्रेरणाओं और कल्पनाओं

१ घनानंद और स्वच्छंद काव्य-धारा—डॉ० गौड़, पृ० २२८

2 'In fact, all good art is first Romantic, then become Classic.'

—The Decline & Fall of the Romantic Ideal, p. 9

पर परिष्कृत सभ्य वर्ग के प्रभाव से निर्मित सामाजिक आदर्श का अधिक शासन होता है।"[1]

स्वच्छंदतावाद जिस प्रकार शास्त्रीयवादी पद्धति के विरुद्ध उठा था—उसके नियमों व रूढ़ियों की बंधनकारी प्रवृत्ति का विरोध करने के लिये; उसी प्रकार स्वच्छंदतावादी भावुकता, कल्पना व अतिवैयक्तिकता के विरुद्ध यथार्थवाद ने अपनी आवाज बुलंद की थी। श्री नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—"उन्नीसवीं शताब्दी में, विशेपकर फ्रांस के कलाकारों ने रोमेन्टिसिज्म की कल्पनाशीलता के विरुद्ध यथार्थ और वास्तविकता की पुकार उठाई।"

यथार्थवाद पहले कथा साहित्य के माध्यम से सामने आया—फिर कविता व अन्य विधाओं में यह फैलता गया।

स्वच्छंदतावाद विज्ञान के सामने टिक नहीं सका—जिन नये क्षितिजों को नापा गया, उनके लिये तर्क, बुद्धि व भौतिक दृष्टि की अधिक आवश्यकता थी, जिन के सामने स्वच्छंदतावादी कल्पना, भावुकता व आध्यात्मिकता का टिके रहना कठिन ही नहीं, असम्भव भी था। यथार्थवाद, वस्तु जगत की वैज्ञानिक व तार्किक भित्ति पर टिका हुआ था। वस्तुत: अपने युग की प्रवृत्तियां-विशेष ही किसी वाद के प्रचलन या ह्रास में सहायक होती हैं।

डारविन के विकासवाद ने रोमानी-भावनाओं पर बड़ा निर्मम प्रहार किया और यथार्थवादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया। साहित्य में प्रकृतवादी प्रवृत्तियां भी उभरीं। प्रकृतवाद और स्वच्छंदतावाद में मूल भिन्नता यह है कि मनुष्य के प्रकृत जीवन में प्रथम, केवल उसकी पाशववृत्तियों को ही स्थायी और प्रबल मानता है, जबकि दूसरा, मानव में जन्मजात सद्वृत्तियों को भी सत्य समझकर उन पर ही अधिक विश्वास करता है। प्रकृतवाद मानव को पशु-धरातल के निकट ले आता है और स्वच्छंदतावाद मनुष्य को पशु से कहीं अधिक उच्च मानवता के धरातल पर प्रतिष्ठित करता है।[2]

---

1 The Decline & Fall of the Romantic Ideal, p. 23

२ हिन्दी के स्वच्छंदतावादी उपन्यास—डॉ० कमल जोहरी, पृ० ७५

स्वच्छंदतावाद मनुष्य को आदर्श-रूप में चित्रित करता है और यथार्थवाद उसको यथातथ्य रूप में। स्वच्छंदतावाद जीवन का आदर्शीकरण प्रस्तुत करता हुआ, आन्तरिक अनुभूतियों पर विशेष बल देता है, जबकि यथार्थवाद बाह्यानुभूति का ही सहारा लेता है। इन्द्रियों को प्रतीत होने वाले जगत् का चित्रण फ्लॉवर्ट, जोला, डिकिन्स आदि ने किया है। यह बात सही है कि स्वच्छंदतावादी कवि काव्यात्मक-न्याय को ध्यान में रखते हैं, जबकि यथार्थवादी कवि तुच्छ से तुच्छ अवस्थाओं का भी चित्रण करने में जरा भी नहीं हिचकते हैं। 'रोमांस अपनी पुष्टि धर्म से, व्यक्तयर्थ प्राधान्यवाद से और अनुभवातीत तत्त्व-ज्ञान से लेता है; यथार्थ अपनी पुष्टि विज्ञान से, मानवहित प्राधान्यवाद से और चेष्टा प्रधान मनोविज्ञान से लेता है। रचना-कौशल के विचार से, रोमांस चरित्र चित्रण को अधिक महत्त्व देता है और यथार्थ कार्य-प्रदर्शन को।' स्वच्छंदतावादी अपने ब्यौरों से विषय की ओर आता है और यथार्थवादी अपने विषय से ब्यौरों की ओर। [1]

स्वच्छंदतावाद व्यक्ति-प्रधान सिद्धांत है। वह व्यक्ति की स्वच्छंदता व स्वतत्रता में अधिक विश्वास करता है; वह सामाजिक बंधनों को तोड़ने के लिये बाध्य है। रूसो ने कहा—'मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है किंतु सब जगह वह बंधनों में जकड़ा हुआ है।' स्वच्छंदतावाद इसी व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चर्चा करता है।

इसके विपरीत यथार्थवाद व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व देता है। व्यक्ति भी सामाजिक गतिविधियों के आधार पर परखा जाता है। उस के अन्तर्मन का इतना महत्त्व नहीं, जितना उसके बाह्य कार्य-कलापों का, जो समाज के लिये हितकारी हैं।

स्वच्छंदतावादी का जगत् सौंदर्य, सत्य और शिव का जगत् है, जिसे वह कल्पना-शक्ति से सजा-संवार कर प्रस्तुत करता है। यथार्थवादी का जगत् सत्य का जगत् है, जहां भौतिकवादी जीवन-दर्शन की प्रधानता है। राल्फ फाक्स के अनुसार मार्क्सवाद में वस्तु जगत (विशेषकर आर्थिक) को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है और दृश्यमान बाह्य जगत् को प्रधान स्थान। उन्होंने सुझाव दिया कि काल्पनिक साहित्य की सृष्टि करने वाला

---

१ पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत—श्री लीलाधर गुप्त, पृ० १८९

लेखक जीवन के प्रति वस्तुवादी दृष्टि भी अपनाये।

स्वच्छंदतावाद ने वस्तुवादी दृष्टिकोण को हेय समझते हुए भाव-जगत को महत्त्व दिया, जिसे यथार्थवाद ने महत्त्वहीन समझा और कल्पना-जन्य जगत की अपेक्षा अनुभवजन्य जगत् को मान्यता प्रदान की। सत्य के सम्बंध में यथार्थवादी दृष्टि संकुचित है। वह बौद्धिक व ऐन्द्रिय-पकड़ के भीतर के सत्य को पूर्ण समझती है, संवेदना और अनुभूति के मिश्रण से प्रसूत सत्य को अपूर्ण। यथार्थवादी लेखक समाज की अच्छाई-बुराई का ध्यान न रखकर केवल फोटोग्राफर की तरह यथातथ्य-अंकन कर देता है, जबकि स्वच्छंदतावादी लेखक भावना के सत्य को पूर्ण मानता है, क्योंकि इसका सम्बंध अजर अमर आत्मा से है। वह इसे दार्शनिक-रहस्यमय रूप में प्रकट करता है।[1]

यथार्थवाद 'लघु' के प्रति महत्त्व रखता है तो स्वच्छंदतावाद विराट के प्रति। इसलिये यथार्थवाद कुरूप, वीभत्स और घृणित सभी वस्तुओं को अपनाता है, उसे नंगी डाल पर बैठा कौआ भी सुन्दर लगता है, जबकि स्वच्छंदतावाद को कमनीय व असाधारण रूप ही ग्राह्य हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वच्छंदता और यथार्थ में विरोध है। किंतु यह विरोध भी 'साहित्य की विकासमान अविच्छिन्न-धारा के विभिन्न सोपान ही हैं।' स्वच्छंदतावादी कवि, यथार्थ-भावना से एकदम कटे नहीं थे। आचार्य नंददुलारे ने लिखा है कि 'प्राचीन दृश्यों और घट-नाओं का यथातथ्य चित्र उपस्थित करने' के कारण कीट्स जैसे कवि यथार्थवादी ही माने जाते हैं। विक्टोरियन कवियों में स्वच्छंद-धारणा का अभाव नहीं है। अतः जिस प्रकार शास्त्रीय साहित्य को जन-जीवन से दूर कर, मृत्यु की ओर ले जाने वाली कमजोरियों से मुक्त करने के लिये स्व-च्छंदतावाद का प्रादुर्भाव हुआ था, उसी प्रकार स्वच्छंदतावाद को भौतिक संसार से दूर करने वाले नशे से मुक्ति दिलाने के लिये यथार्थवाद का जन्म हुआ। 'ये सब साहित्य में जुड़ने वाली विभिन्न कड़ियां हैं, जो एक लम्बी शृंखला का निर्माण करती हैं।'[2] □

---

१ हिन्दी के स्वच्छंदतावादी उपन्यास—डॉ० कमल जौहरी, पृ० ८५

२ वही, पृ० ८२

# ४ | प्रतीकवाद

'भाषा का प्रयोजन, यथार्थ का अनुकरण करना नहीं, अपितु उसे प्रतीकात्मक रूप देना है।' —कास्सिरेर

'जीवन के प्रति प्रतीकवादियों का दृष्टिकोण अनिवार्यतः धार्मिक होता है—यह जैसे रहस्यवादियों की ध्यानावस्था का आधुनिक रूप है।'
—स्पेंडर

'कवि की भाषा एक अवगुण्ठन है, जिसके अंदर से क्षण भर के लिए कवि के अन्तर्जगत की स्पष्ट झलक मिल जाती है और दूसरे ही क्षण आश्चर्यजनक इंगितों में उसका आभास मिलता रहता है।' —व्हेरलेन

* * *

फ्रांस में 'तृतीय रिपब्लिक' की स्थापना के बाद प्रजातंत्र का जन्म हुआ, किंतु अनेक दुर्घटनाओं – जैसे जर्मनी का आक्रमणादि - के कारण स्थिरता नहीं आ पाई। समाज दो वर्गों में विभक्त था, एक ओर अभिजातवर्ग था, जो धर्म के नाम पर जनसाधारण पर नियंत्रण किये हुए था, दूसरी ओर जनसमाज था, जो इस पुरोहितवाद ( Clericalism ) को पहचानने लग गया था और नयी शिक्षण संस्थाओं के नये शिक्षक उनकी विकृतियों को सामने लाने लग गये थे। फलतः अभिजातवर्ग ने धार्मिक स्कूल खुलवाये इस प्रकार दो वर्गों की विचारधाराएं विभिन्न मार्गों पर अग्रसर हो चली थीं। एक ओर था जनतंत्रवाद दूसरी ओर पुरोहितवाद। राजनीति के जनतंत्रवाद और पुरोहितवाद साहित्यिक सांचे में ढलते ढलते 'प्रकृतवाद' और प्रतीकवाद में रूपान्तरित हुए; रूपातंरकार थे–जोला तथा मालार्मे। जोला ने साहित्य में भौतिक विज्ञान को ढाला और मालार्मे ने सौंदर्यशास्त्र की प्रतिष्ठा की। एक ओर स्थूल, यथार्थवादी प्रकृतवादी प्रवृत्तियां सचेष्ट हुईं और दूसरी ओर सूक्ष्मतापरक आदर्शवादी, प्रकृतवाद विरोधी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ।[१]

---

१ आलोचना—अक्तूबर '५३, 'प्रतीकवाद की स्थापना', पृ० १७०

उन दिनों फ्रेंच साहित्य, यथार्थवादी प्रवृत्तियों से आक्रांत होने लगा था, जिनके कारण जीवन की सघन अनुभूतियों और रहस्यों की चर्चा प्रायः नगण्य-सी हो चली थी। इसी समय ( १८८६ ई० ) वहां 'फिगारो' नामक पत्रिका में वैज्ञानिक पद्धति एवं सूझबूझ का कतिपय लेखकों ने विरोध किया और प्रतीकवादी सिद्धांत की घोषणा की। इसके अनुसार साहित्य में अभिधार्थक के स्थान पर प्रतीकात्मक शब्दों के प्रयोग का समर्थन किया गया। 'साहित्य के क्षेत्र में शब्दों का धर्म निश्चित वस्तु अथवा अमूर्त विचार को सूचित करना नहीं वरन् मन:स्थिति की ओर इंगित करना है'''इस कविता में मूर्त प्रतीकों द्वारा अमूर्त रहस्यों की ओर संकेत किया जाता है और मूर्त-अमूर्त तथा दृश्य-अदृश्य का समन्वय उपस्थित किया जाता है।"[1]

इस आन्दोलन के नेता श्री जां मोरे ने बताया कि वे (प्रतीकवादी) शाश्वत प्रतीक व शुद्ध धारणा की शोध के द्वारा सौंदर्य की रचना कर रहे हैं।

यह धारणा पारनेशनिज्म और रियलिज्म के विरुद्ध थी। इस विचारधारा पर हीगेल और शोपेनहावर की विचारधारा का भी प्रभाव पड़ा था। रहस्यवृत्ति और अस्पष्टता का तत्त्व इसमें वहीं से आया। इस धारा के लेखक मानते हैं कि 'दृश्य जगत् वास्तविक सृष्टि का मिथ्या रूप-मात्र है। वास्तविक सृष्टि अलौकिक और शाश्वत है। उस सृष्टि के लिए कुछ भी कहने के लिए रहस्य और अस्पष्टता का सहारा लेना पड़ता है, किंतु जिन रचनाओं में दृश्य-जगत् की बात कही जायगी, उनमें दुर्बलता, निराशा और कुत्सा का प्रवेश हो जायगा।'[2] इस प्रकार प्रतीकवाद— स्वच्छंदतावाद और यथार्थवाद, दोनों से अलग थलग पड़ता था।

## स्वच्छंदतावाद और प्रतीकवाद

स्वच्छंदतावाद का आगामी चरण ही प्रतीकवाद है। प्रतीकवाद और यथार्थवाद का तो मौलिक विरोध है, किंतु स्वच्छंदतावाद और प्रतीकवाद के बीच एक क्षीण संबंध है, चाहे वह दूर का ही हो। मारिस सेव्ह, तेओफील, ह्यूगो, बौदलैर में भी स्वच्छंद-प्रवृत्ति भी पाते

---

१ मानविकी पारिभाषिक कोश—साहित्य खण्ड—पृ० २४५

२ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ४७४

हैं ।[1]

स्वच्छंदतावाद की भांति यह बुद्धि के विरुद्ध आत्मा, वस्तुपरकता के विरुद्ध आत्मपरकता तथा मुक्ति का आन्दोलन है। दार्शनिक और सौंदर्य-वादी दृष्टि से प्रतीकवाद भी रहस्यमयी व आदर्शवादी परम्परा में गिना जाता है।[2] प्रतीकवादी कवि भी स्वच्छंद-कवियों की भांति निजी भाव-नाओं का ही सम्प्रेषण करते रहे हैं।

प्रतीकवाद का सम्बंध फ्रेंच रोमांटिक काव्यधारा से भी है, जिसके दो रूप हमें मिलते हैं। एक में भावुकता की प्रधानता है और दूसरे में कलात्मक प्रयोगों और सुन्दर शब्द - चित्रों की। ह्यूगो में दोनों रूप मिलते हैं। इनके 'ले ओरियंतेले' के आधार पर गातियर ने जिन सिद्धांतों की रचना की, उनमें प्रतीकवाद के अन्य चिन्ह मिल जाते हैं।

स्वच्छंदतावाद स्थूल वस्तुओं के सौंदर्यपूर्ण चित्रण तक सीमित था, अन्तस के विशद भावों के सौंदर्य की ओर उसने कम ध्यान दिया था। इन्द्रिय-गोचर सौंदर्य के अनेक चित्र उसने अवश्य दिये। गातियर ने स्वच्छंद-आत्माभिव्यजना के स्थान पर निर्वैयक्तिकता और भावोन्मूलक धारावाहि-कता के स्थान पर स्थूलता और आयास-सिद्ध सज्जा को महत्त्व दिया। नयी काव्यधारा ने काव्य को जीवन से समीकृत करने की चेष्टा की।[3]

प्रतीकवाद जहां शास्त्रीयवाद के बुद्धितत्त्व को नकारता है, वहां वह स्वच्छंदतावादी भाव-प्रवणता का भी विरोध करता है। 'स्वच्छंदता-वादी के निकट आत्म और अनात्म, मनुष्य और प्रकृति परस्पर विरुद्ध होते हैं, आभिजात्यवादी में वे विच्छिन्न हैं और ब्रह्म का संहरण हो जाता है, प्रतीकवादी में वे संगलित हो जाते हैं।'[4]

प्रतीकवादियों ने उन सार्वजनिक और राजनीतिक विषयों का भी परित्याग किया, जो स्वच्छंदतावादियों को प्रिय थे। आदर्श-सौंदर्य में तल्लीन इन कवियों के लिये राजनीति बाहरी और अनात्मीय वस्तु थी।

इसके अतिरिक्त प्रारम्भिक स्वच्छंदतावादियों की अपेक्षा प्रतीक-

---

१ फ्रेंच साहित्य का इतिहास—श्री भूपेंद्रनाथ सान्याल, पृ० २४७

2 Dictionary of French Literature–Sidney Brawn, p. 330

३ आलोचना, अप्रेल '५६, 'प्रतीकवाद'—डॉ० भटनागर, पृ० ३३

४ पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धांत और वाद, पृ० २३३

वादी कवि अपनी विचित्र संवेदना के भीतरी क्षेत्रों को हरा भरा करने में अधिक सजग रहता है और काव्यात्मक आत्माभिव्यक्ति के शृंगार-हेतु प्रतीकों की प्रच्छन्न प्रणालियों पर अधिकतर निर्भर करता है।[1]

इस प्रकार दोनों वाद मानव-जीवन को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखते हैं।

### यथार्थवाद और प्रतीकवाद

यथार्थवादी धारणा के विरुद्ध प्रतीकवाद ने आवाज बुलंद की। दोनों में बड़ा अंतर है—यथार्थवाद जहां सामाजिक वस्तुचित्रण की वास्तविकता की ओर उन्मुख हुआ, वहां प्रतीकवाद ने कल्पना और सौंदर्य का दामन पकड़ा। यथार्थवाद वस्तुगत वाद है और प्रतीकवाद शैलीगत वाद। वैसे वस्तु के अभाव में शैली श्रीहीन हो जाती है, अतः प्रतीकवाद, यथार्थवाद से अनुप्राणित भी होता है। जब भी प्रतीक-विधान यथार्थता से हटा है, उसके अस्तित्व पर खतरा उपस्थित हुआ है।[२]

यथार्थवादी कवि स्पष्टवक्ता होता है, वह कटु सत्य कहने में भी हिचकिचाता नहीं, जब कि प्रतीकवादी अपनी समस्त भावनाओं को एक मोहक आवरण के भीतर प्रस्तुत करता है। दोनों ही जीवन को अलग अलग दृष्टियों से देखते हैं।

## प्रतीकवाद : स्वरूप-विश्लेषण

प्रतीक शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के प्रतिअंच शब्द के आधार पर मानी जाती है, जिसका अर्थ है प्रतिस्थान या किसी एक वस्तु के लिए दूसरी की स्थापना। इसके लिये 'उपलक्षण' शब्द का प्रयोग हुआ है। उपलक्षण उसे कहते हैं, जब कोई वस्तु अपने समान गुणों वाली वस्तु का भी भान करा दे, किंतु इस शब्द का प्रचलन नहीं हो पाया। सिम्बल संज्ञा की व्युत्पत्ति जिस ग्रीक क्रिया से हुई, उसका अर्थ था ('throwing to-gether', union intention) किंतु संस्कृत और ग्रीक दोनों के अर्थ आज समाप्त हो गये हैं।[३]

---

1 The Study of English Literature—Dr. Iyengar, p. 230.

२ आधुनिक हिन्दी काव्य में यथार्थवाद—डॉ० परशुराम शुक्ल, पृ० ३४२

३ जायसी की बिम्ब-योजना—डॉ० सुधा सक्सेना, पृ० ९७

प्रतीक का सामान्य अर्थ 'चिन्ह,' 'संकेत,' 'प्रतिरूप' आदि समझा जाता है। तिलकजी ने 'गीता रहस्य' में इसकी व्युत्पत्ति बताई है। प्रतीक ( प्रति+इक ), प्रति—अपनी ओर; इक—झुका हुआ।' जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर हो और फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो, तब उस भाग को प्रतीक कहते हैं। इस नियम के अनुसार सर्वव्यापी परमेश्वर का ज्ञान होने के लिए उसका कोई भी प्रत्यक्ष चिन्ह, अंश रूपी विभूति या भाग प्रतीक हो सकता है।[1] तिलकजी के शब्दों में —'इस संसार में दिखाई देने वाले सब पदार्थ या गुण परमेश्वर के ही रूप यानी प्रतीक हैं।'

भाषा हमारे भावों को अभिव्यक्त करने का साधन है। प्रतीक जहां एक ओर वक्ता के आशय को श्रोता तक पहुंचाते हैं, वहां श्रोता के लिए वे उन विचारों के सूचक भी होते हैं। शब्दार्थ मिलने से जो भाव स्पष्ट होता है, वह शब्दों की पहचान पर अवलम्बित रहता है। प्रतीक में, शब्दों के अन्तरंग में पैठकर उसके मर्म को समझने के साथ उसमें नये अर्थों की उद्भावना भी संभव होती है।[2] वास्तव में 'एक सत्य के स्तर पर उससे मिलते-जुलते दूसरे सत्य का उल्लेख ही प्रतीक है।'

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी प्रतीकों का प्रयोग संयत व स्वाभाविक है। मनुष्य अनेक मुखौटे धारण किये हुए जीवन-यापन करता है। वह अपनी अनुभूतियों को स्पष्ट सरल रूप में अभिव्यक्त करने में संकोच करता है और प्रकट करता भी है तो हजारों पर्दों के भीतर, जिन्हें समझना आसान नहीं होता; उसकी चेष्टाएं उसकी अनुभूतियों को स्पष्ट करने में सहायक होती हैं। फ्रायड ने अन्तर्मन को बहुत महत्त्व दिया है. अतः हमारी आन्तरिक अनुभूतियां अधिकतर प्रतीक के रूप में प्रकट होती हैं। 'अक्लमंद को 'इशारा' काफी होता है।' बिहारी के नायक नायिका 'भरे भौन में करत हैं नैनन ही सों बात।' आर्थर साइमन के शब्दों में—"प्रतीक के सहारे मनुष्य ज्ञात या अज्ञात अवस्था में जीवित रहता है, काम करता है और अपने अस्तित्व को बनाये रखता है।"

हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में भी 'प्रतीक' पूरी तरह से छाये हुये हैं। जीवन के अनेक संस्कारों, उत्सवों, त्योहारों के साथ-साथ

---

१ सौंदर्य शास्त्र के तत्त्व—डॉ० कुमार विमल, पृ० २४५

२ आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद—डॉ० चन्द्रकला, पृ० ३

शासन द्वारा परिचालित अनेक चिन्ह या रंग ( टिकट. सिक्के, झंडे आदि ) प्रतीकात्मक रूप में ही हमारे सामने आते हैं। पूरी भाषा ही प्रतीक है। धर्म, कला, विज्ञानादि के संकेत या गुर प्रतीक-विधान के अन्तर्गत आते हैं। धार्मिक पुस्तकें, मन्त्रतंत्र, उपासना, भक्ति आदि का स्वरूप भी प्रतीकात्मक है।

इसका क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। प्रतीकों की खोज का काम निरंतर चलता रहता है। डॉ० देवराज के शब्दों में—"कलाकार को एक अनुभूति होती है और उसके प्रकाशन के लिये वह ऐसे प्रतीकों की खोज करता है जो कुल मिलाकर वही या उस जैसी अनुभूति उत्थित कर सके। जब दूसरी अनुभूति पूर्वानुभूति के समान नहीं होती, तो वह पुनः अन्य प्रतीकों की खोज करता है। इस प्रकार उसका प्रतीकों का अन्वेषण चलता रहता है, जब तक कि वह पूर्वानुभूति के तुल्यार्थक प्रतीक न पा ले।"

साहित्य-जगत् के व अन्य जगतों जैसे विज्ञान, दर्शनादि—के प्रतीकों में बड़ा भारी अंतर होता है। साहित्यिक प्रतीक कवि मानव की सृष्टि होते हैं और प्रत्येक कवि के अनुरूप उनमें अर्थ-परिवर्तन होता रहता है और पाठक भी उन्हीं के अनुरूप समझने की चेष्टा करते रहते हैं, पर इसके विपरीत वैज्ञानिक प्रतीक सदा के लिये अपना निश्चित अर्थ बना लेते हैं, उनमें अर्थ-परिवर्तन नहीं होता, जैसे—अंक गणित के प्रतीक—×, ÷, —, + इत्यादि।

'साहित्यिक प्रतीक स्वच्छंद और भावसत्ता से सम्बद्ध होते हैं, जबकि अन्य क्षेत्रों में प्रयुक्त प्रतीक रूढ़, परम्परागत और सांकेतिक अर्थ-मात्र को ध्वनित करते हैं।' साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग मानव-जीवन में होने वाले प्रयोगों की भांति सहज व स्वाभाविक है। कभी कभी साहित्यकार अपने मानस के भावों को आच्छन्न रखने की चेष्टा करता है तो भाव और भाषा की गोपनीयता पाठक के सम्मुख आ जाती है। देशकाल और वातावरण के अनुरूप प्रतीक-योजना बनती रहती है, कभी अत्यंत गुह्य रूप में सामने आती है और कभी हल्के आवरण में लिपटी हुई, पर कवि इसका मोह नहीं छोड़ सकता। अनुभूति की सूक्ष्मता के लिये ऐसा करना अनिवार्य है। सांस्कृतिक वासना से आवेष्ठित शब्द 'प्रतीक' रूप में उपस्थित होते हैं। प्रतीकों के स्वरूप में कुछ न कुछ ऐसी व्यंजना रहती है, जिनमें भावनाओं के विश्वास करने में संकेत

मिल जाते हैं ।[1]

अभिधा, लक्षणा व व्यंजना में से प्रतीकात्मक शब्दों का सम्बंध लक्षणा व व्यंजना से है। प्रतीकात्मक प्रयोग दो प्रकार के हो सकते हैं। प्रथम वे जो परम्परा-सम्मत होने के कारण प्रायः अवैयक्तिक हो गये हैं। रथ, सूत्र, आलोक, रात्रि आदि शब्दों की लाक्षणिक एवं व्यंजक शक्तियां इन शब्दों के इतिहास तथा परम्परागत प्रयोगों का अंग हो गई हैं, दूसरे प्रयोग जो अतिवैयक्तिक हैं, प्रतीकवादी कविता का आधार हैं।[2]

ह्वाइटहैड के अनुसार अनुभव से प्राप्त ज्ञान और प्रतीकात्मक ज्ञान में स्पष्ट अंतर है—आनुभविक ज्ञान, अनुभूति या प्रत्यक्ष के अनुरूप ही होगा किंतु प्रतीकात्मक ज्ञान को अपनी अपनी सूझबूझ के अनुरूप ही ग्रहण किया जाता है।

स्टीफन स्पेंडर के अनुसार 'प्रतीक किसी अन्य वस्तु को लक्ष्य करे, यह आवश्यक नहीं, किंतु इसके महत्त्व की अतुल गहराइयां ही सब कुछ हैं।' एडिंगटन के अनुसार, 'भौतिक संसार का ज्ञान प्रतीकात्मक है। अणु, एलेक्ट्रोन, प्रोटोनादि प्रतीक , नियम हैं।'

ऑडिन के शब्दों में—'प्रतीक का अर्थ उसकी अपनी अनुभूति के आधार पर स्पष्ट होता है, उसका अर्थ निश्चित नहीं होता। कोई भी दो व्यक्ति एक ही प्रतीक के दो भिन्न भिन्न परिणाम निकाल सकते हैं।'

यीट्स ने भी लगभग यही बात कही थी कि सच्ची कला सांकेतिक और प्रतीकात्मक होती है। उसका प्रत्येक आकार, भाव, ध्वनि, वर्ण किसी अवर्णनीय तत्त्व का संकेत होता है, पर उसकी निश्चयात्मकता गणित जैसी निश्चित नहीं होती।

जार्ज वैली की दृष्टि में प्रतीक, सुविधा के लिए काव्य में उस प्रधान वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है जो काव्य में प्रमुख और विशेष अर्थवान होती है, और इस रूप में प्रतीकात्मक विशेषण काव्य की परिपक्वता को प्रकट करता है।

आर्नल्ड हाउसर के अनुसार प्रतीकात्मक भाषा वह है जिसमें बहिर्लोक—अन्तर्लोक का, हमारी आत्मा और मन का प्रतीक होता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर स्पष्ट है कि 'प्रतीक किसी

१ काव्य में अभिव्यंजनावाद—श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', पृ० १२८
२ मानविकी पारिभाषिक कोश—साहित्य खण्ड—पृ० २४४-४५

अदृश्य या अमूर्त सत्ता का मूर्तिकरण है, जो अपने सम्बंध या परम्परा द्वारा आकार ग्रहण करता है। प्रतीक अरूप मानवीय अनुभूतियों को व्यक्त करने का एक मूर्त माध्यम है, जो धीरे धीरे व्यापक प्रयोगों में आवृत्ति के द्वारा निश्चित अर्थ ग्रहण करता है।'[1]

किसी अन्य स्तर की समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है। साधारण तौर पर कहा जा सकता है कि प्रतीकों के माध्यम से किसी विषय का प्रतिनिधान करना है। जैसे, ईश्वर का प्रतिनिधान उनकी मूर्ति करती है।[2]

प्रतीक और मिथ—इन दोनों में स्पष्ट अंतर है। मिथ में धर्म की भांति विश्वास की व्यवस्था रहती है। उसमें देव-चरित्रों व कार्य-कलापों का लेखा-जोखा रहता है। इसमें मिथ्यातत्त्व होता है, जो बाद में प्रसिद्ध होकर समाज की परम्पराओं से सम्बद्ध हो जाता है। उसमें छिपी कोई न कोई 'कथारूढ़ि' अवश्य होती है जब कि प्रतीकों में ऐसी बात नहीं होती। मिथ में अनेक प्रतीकों की योजना होती है, एक से काम नहीं चलता। 'अनेक अनुसरणशील प्रतीकों (धार्मिक और पारम्परीय) के गुच्छ को ही हम मिथ कहते है।' मिथ का ग्रीक अर्थ है—'मुंह से निकला हुआ'। मिथ, मनुष्य की सामूहिक चेतना की उपज है और प्रतीक व्यक्ति-चेतना की। मिथ को कपोल कल्पना के रूप में अधिक ग्रहण किया जाता है।[3]

प्रतीक और बिम्ब—बिम्ब ही कालांतर में प्रतीक का रूप धारण करते हैं। बिम्ब ही सर्वप्रथम एक रूपक के रूप प्रयुक्त होते हैं, पर निरंतर निश्चित अर्थों में आते रहते हैं और प्रतीक का रूप ले आते हैं। किसी वस्तु को अभिव्यक्त करने के लिए कवि एक उपमान चुनता है और वस्तु (उप-मेय) व उपमान दोनों का वर्णन करता है। बाद में अर्थ निश्चित होने पर जब केवल उपमान का उल्लेख होता है तो वही प्रतीक बन जाता है। 'पद्मावत' की इन पंक्तियों में 'भ्रमण, 'कमल' का आरम्भ में बिम्बगत प्रयोग हुआ है—

'हीरामन जो कमल बखाना, सुनि राजा होइ भंवर भुलाना'

---

१ जायसी की बिम्ब-योजना—डॉ० सुधा सक्सेना, पृ० १०१

२ हिन्दी साहित्य कोष—पृ० ४७१

३ सौंदर्य शास्त्र के तत्त्व—डॉ० कुमार विमल, पृ० २५२

इनका प्रतीकवत प्रयोग देखिए—

'भंवर जो पावा कंवल, कह वहु चिता वहु केलि'[१]

यीट्स ने वताया कि शैली के काव्य में गुफाएं और गुम्वद पहले विम्ब रूप में, वाद में प्रतीक-रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

एडवर्ड सेकविले वैस्ट के अनुसार कविता, आकस्मिक प्रकाश के पुंज की भांति है जो आंखें वंद करने पर भी कुछ क्षण तक आंखों की पुतलियों पर चमकता रहता है। इसमें मानसिक व वौद्धिक दोनों प्रक्रियाएं शामिल हैं। प्रतीक की प्रक्रिया आंगिक है किंतु विम्व की मानसिक। इस दृष्टि से प्रत्येक विम्व किसी वस्तु का पुन: निर्माण ही नहीं करता अपितु अनुभूति के संदर्भ में उस वस्तु को लेता है। डे लुईस के अनुसार सफल विम्व वह है जो वास्तविकता के अधिक निकट हो—जैसे हम चाहें तो टैलीग्राफ पोल की अनुभूति काव्यात्मक ढंग से भी हो सकती है।[2]

कास्सिरेर के अनुसार विम्व स्वत:सम्भवी होते हैं जव कि प्रतीकों की रचना करनी पड़ती है, पर वह रचना विम्वों के माध्यम से ही होती है और इस निर्माण में वुद्धि का विशेष योगदान होता है।

विम्व-विधान में इन्द्रियग्राह्यता व चित्रोपमता विशेष रूप से होती है पर प्रतीक में ऐसा आवश्यक नहीं है, उसमें प्रभाव साम्य को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है क्योंकि 'प्रतीक विधान में पदार्थ या दृश्य सत्य का चित्र नहीं, उसकी व्यंग्य विशिष्टता अथवा सूक्ष्म प्रभाव का संकेत अभीष्ट रहता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विम्व का अधिक संवंध शिल्प अथवा वस्तुकला से है और प्रतीक का संगीत अथवा काव्य से।'[3]

प्रतीक में एक भाव की अभिव्यक्ति होती है और विम्व में पूरे दृश्य को चित्रित किया जाता है। डे लुईस के अनुसार एक उत्कृष्ट विम्व, प्रतीक का उल्टा होता है। प्रतीक सांकेतिक होता है और केवल एक वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है। विम्व अपने संदर्भ के कारण भावनात्मकता से सम्पन्न होते हैं, जिससे प्रत्येक पाठक की भावनाएं उसके अपने अनुभवों के

---

१ जायसी की विम्व योजना—डॉ० सुधा सक्सेना, पृ० १०६

2 Inclinations—E. S. West, p. 129

३ सौंदर्य शास्त्र के तत्त्व—डॉ० कुमार विमल, पृ० २६४

आधार पर जागृत होती हैं। प्रतीक तीव्रता लाते हैं और बिम्ब सम्पूर्णता। प्रतीक अधिकतर जातीय चेतना के आधार पर उपस्थित होते हैं, जबकि बिम्बों के निर्माण में व्यक्ति की अपनी चेतना क्रियाशील रहती है। अत्यधिक वैयक्तिक होकर प्रतीक भावानुभूति कराने में असमर्थ ही रहते हैं।

उद्देश्य की दृष्टि से भी दोनों में अंतर है। प्रतीक का उद्देश्य है 'भाव या विचार का प्रतिनिधित्व करना अथवा उनका संकेत देना, जबकि बिम्ब का उद्देश्य है भाव या विचार को मूर्त रूप देकर प्रेषणीय बनाना।' इसी प्रकार प्रतीक में भाव के मानसिक और आध्यात्मिक अर्थों का संकेत किया जाता है और बिम्ब में उसे दृश्य बनाने का प्रयास किया जाता है। प्रतीक काव्य में गहराई और तीव्रता लाने के लिये सांकेतिकता लाता है, स्थूल को सूक्ष्म बनाता है, जबकि बिम्ब, काव्य को संप्रेषणीय और आस्वादनीय बनाने के लिए सूक्ष्म और अरूप भावों को स्थूल और रूपयुक्त बनाता है।[1]

साहित्य में प्रतीकात्मक प्रयोग अति प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। भारत में उपनिषद्, पाश्चात्य जगत् प्लेटो के संवाद, बाइबिल व संतों की रहस्यात्मक कविता, दांते का अमर काव्य सभी प्रतीकवादी कहे जा सकते हैं।

अर्नेस्ट कास्सिरेर ने बताया कि मानव-बुद्धि के लिये प्रतीकों की निरंतर आवश्यकता पड़ती है। भाषा का प्रयोजन यथार्थ का अनुकरण करना नहीं, अपितु उसे प्रतीकात्मक रूप देना है। उनका कथन था कि 'सारी मानसिक प्रक्रियाएं सत्य को ग्रहण करने में ससफल रहती हैं और उसका उपस्थापन करने के लिये उसे अपनी पकड़ में रखने के लिए उन्हें प्रतीकों का प्रयोग करना ही पड़ता है।[2]

डॉ० श्रीनिवास आयंगर का मत है कि प्रतीकवाद स्वच्छंदतावाद की ताजी लहर था, पुरातन के प्रति विद्रोह था और नये प्रकार की अधिकारपूर्ण काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिये एक साहसिक अनुसंधान था। इसमें सौंदर्य को कलात्मक ढंग से उत्तेजित किया जाता है, उसका वर्णनमात्र नहीं किया जाता। वस्तुत: प्रतीक-शब्दों को 'खुला समसम' होना चाहिए, जो वस्तुओं की आत्मा की ओर मुख्य द्वार को भी खोले। वे आगे

१ जायसी की बिम्ब-योजना—डा० सुधा सक्सेना, पृ० १०६

२ पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धांत और वाद—श्री कोहली, पृ० २४०

कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु को दूसरी वस्तु से जोड़ने की प्रतीकवादी प्रकृति इस विश्वास से शुरू होती है कि विश्व एक संतुलन है, चाहे व्यक्त-रूप से यह अराजकतापूर्ण ही क्यों न लक्षित हो। यदि आप ध्यानपूर्वक विचार करें तो आप सिकता-कण में भी अनंतता के दर्शन कर सकते हैं—इस प्रकार सिकता-कण, अनंतता का 'प्रतीक' बन जाता है।[1] कवि के अन्तर्दर्शनों को इंगित-सूचक शब्दों या वाक्यों और गीतात्मक ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त करना ही प्रतीकवादी धारणा है। जिस दुनिया में हर प्रतीयमान वस्तु के पीछे निगूढ़ अर्थ छिपा है, वहां प्रतीक ही सनातन रहस्यों के वाहन हो सकते हैं।[२]

## प्रतीकवाद : सिद्धांत

काव्य का स्वरूप—पो के कविता संबंधी विचारों ने प्रतीकवादियों का मार्ग-दर्शन किया। उनके अनुसार कविता का संबंध वास्तुकला से है। इसका आधार सहजानुभूति नहीं, अपितु गणितशास्त्र की समस्या की तरह उसके स्पष्ट व ठोस परिणाम निकलने चाहिए। पो का मत है कि 'लम्बी कविता' जैसी बात कहना तथ्य को झुठलाना है, क्योंकि इतनी लम्बी कविता में 'जोश की मात्रा' का रहना कठिन है। इसीलिये कविता में अनुभूति की सघनता अनिवार्य है। बौदलैर के अनुसार मानवात्मा की कतिपय विशिष्ट अवस्थाओं में दिन-प्रतिदिन की सामान्य घटनाओं के माध्यम से जीवन की गंभीरता व्यक्त होती है, तब साधारण जीवन भी प्रतीक बन जाता है।

पॉल क्लोडेल ने कहा था कि कवि को पहले प्रेरणा मिलती है, काव्य की रचना मानस में हो जाती है और फिर उस प्रेरणा की अभिव्यक्ति शब्दों में होती है। कवि में विश्व-ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति है। भगवान की सृष्टि एक है और विश्व का सब कुछ भगवान् का प्रतीक है। क्लोडेल ने कहा कि काव्य, मनुष्य की जिस शक्ति की सृष्टि है, उसका संबंध युक्ति, तर्क की अपेक्षा कल्पना और संवेगात्मकता से अधिक है, फिर बुद्धि का भी योगदान रहता है। जैसे श्वास, स्वर के पहले आता है, उसी प्रकार अभिव्यक्ति के पहले अभिव्यक्ति की आकांक्षा पैदा होती है।[३]

---

1 The Study of English Literature. p. 231.

२ फ्रेंच साहित्य का इतिहास—श्री भूपेंद्रनाथ सान्याल, पृ० २४९

३ वही, पृ० २९७

एडमंड विल्सन ने 'एक्जेल्स कैसल' में लिखा है—'प्रत्येक कवि का अपना विचित्र व्यक्तित्व होता है, उसके प्रत्येक क्षण की अपनी विशिष्ट लय होती है और विशिष्ट तत्वों का सम्मिश्रण भी। और यह भी कवि का ही कर्तव्य है कि वह विशेष भाषा का आविष्कार करे, जो केवल उसके व्यक्तित्व और भावना की अभिव्यंजना बन सके। ऐसी भाषा को प्रतीकों का उपयोग अवश्य करना चाहिए।'

"कविता का आनंद तभी मिलता है जब कि हमें संतोष हो कि हम उसकी वस्तु का थोड़ा थोड़ा करके अनुमान लगा रहे हैं परंतु स्पष्टतया कथन कर देने से कविता का तीन चौथाई आनंद नष्ट हो जाता है। हमारी मनस् चेतना को वही प्रिय है जो संकेत करता हो, सचेत करता हो।" मालार्मे के अनुसार काव्य-रहस्य की कुंजी स्वयं पाठक को तलाश करनी चाहिये। प्रतीकों का आवरण हटाकर ही कवि की विचारधारा को स्पष्टतया समझा जा सकता है। उसकी दृष्टि से कविता में रोमांच का सर्वाधिक महत्त्व है, बुद्धि का नहीं। मालार्मे की दृष्टि में प्रत्येक कविता आदर्शमय होती है। संगीत के माध्यम से मालार्मे ऐसी शुद्ध व पूर्ण कविता की आकांक्षा करता है, जो अवर्णनीय आनंद को जन्म देती है। शब्दों के बंधन से बाहर हटकर एक आदर्श जगत् का निर्माण करती है। यह अस्तित्व के रहस्यमय पहलुओं पर प्रकाश डालती है[1]—यह काम पूर्णत: आध्यात्मिक है। अर्थबोध तक सीमित रखकर हम काव्य को छोटा करते हैं। कवि को अर्थ से भी महान् वस्तु प्रदान करने की चेष्टा करनी चाहिए।

इस प्रकार' प्रतीकवादी, अपने आदर्श-जगत् से हटकर भी जानता है कि कविता सामान्य वस्तुओं से जीवित रहती है और निराशा, जब उसे पूर्णत: ठोस तरीके से अभिव्यक्त किया जाता है तो अधिक शक्तिशाली हो जाती है।'[2]

**संगीत**—व्हालेरी के अनुसार प्रतीकवाद का प्रमुख उद्देश्य संगीत से सब कुछ ले लेना था, जो कवियों ने इसके सम्मुख खो दिया था। जिसे

---

1 'Poetry is the expression by means of human language..., of the mysterious sense of the aspects of existence.'—Mallarme—Literary Criticism—Wimsatt & Brooks, p. 593

2 The Heritage of Symbolism, Bowra, p. 155

प्रतीकवाद संज्ञा से अभिहित किया गया है वह सीधे सादे तौर पर कवियों के कई वर्गों का ( जो अन्यथा परस्पर शत्रु हैं ) संगीत से अपना वैभव-ऐश्वर्य पुन: प्राप्त करने का निश्चय है ।[1]

निस्संदेह संगीत प्रतीकवाद की महत्त्वपूर्ण विशेषता है । वेग्नर के संगीत से प्रभावित होकर प्रतीकवादियों ने इसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में स्वीकार किया । संगीत का काव्य-कला के साथ चिरंतन व शाश्वत संबंध रहा है— इसका पुनरुद्धार प्रतीकवाद में हुआ ।

पो के अनुसार आत्मा, संगीत के माध्यम से ही सौंदर्य का सृजन पूर्णता से कर सकती है । गीति की रचना में अनुभूति की गहराई व शब्द-शक्ति की विशेष आवश्यकता पड़ती है । दिवास्वप्न में जो सघनता है वही कविता में भी होनी चाहिए और संगीत रचना की भांति कविता के तत्त्वों का पूर्णत: लययुक्त व संयुक्त होने चाहिए । अत: स्वप्न व संगीत को कविता का अनिवार्य तत्त्व बताया, जो फ्रेंच प्रतीकवादियों ने सहर्ष ग्रहण किया ।

बौदलैर के शब्दों में 'कविता छंद के द्वारा संगीत से सम्बंधित होती है और उसकी जड़ें मानव स्वभाव में इतनी गहरी होती हैं कि किसी भी शास्त्रीय सिद्धांत से उसका संकेत नहीं मिलता । कविवर पंतजी ने कहा भी है—'छंद हमारे प्राणों का संगीत है ।'

व्हालेरी का कथन है —"हम संगीत से पोषण पाते हैं और हमारी साहित्यिक-मति, कौशल के द्वारा भाषा से वही प्रभाव जगाने का स्वप्न देखती है जो विशुद्ध ध्वनियां तांत्रिका-यंत्र पर उत्पन्न करती हैं ।"

वर्लेन की कविता भी संगीतात्मक है । एक एक शब्द संगीत की मादकता में डूबा हुआ है । गीतितत्त्व वर्लेन में चरम सीमा तक पहुंचा है । वाल्मोर और लाईमटाईन के द्वारा स्थापित गीति-काव्यों का वर्लेन ने ही समुचित विकास किया है । उनके गीतों में प्रतीकात्मक की अपेक्षा प्रभावात्मकता अधिक है ।

मालार्मे की दृष्टि में, संगीत के बिना काव्य में गरिमा नहीं आ

---

1 'Chief task of Symbolism was to take back from music, what poets had lost to it.'

—The Heritage of Symbolism, p. 9

सकती। कविता ही एक प्रकार का संगीत है। कविता में जो पूर्णता है—जो शांति है, वह किसी भी गीत से अधिक संगीतात्मक है। उनकी 'सेंत' रचना में भी देवी किसी देवदूत के पंख का स्पर्श करती है और वह पंख एक वाद्य-यंत्र बन जाता है और वह देवी भी 'शांति की संगीतज्ञ' बन जाती है। मालार्मे ने आदर्श सौंदर्य व संगीत के लिए शब्दों का समन्वय करने पर बल दिया है[1] और कहा है कि संगीत के द्वारा हमें अनन्त के बोध की प्राप्ति होती है, बुद्धि के परे के अरूप जगत् तक हमारी पहुंच उसी के माध्यम से है। काव्य और संगीत में विशेष अन्तर यही है कि संगीत जिन नादात्मक ध्वनियों को प्रयुक्त करता है, वे अर्थ-हीन होते हैं, उसी के माध्यम से हम अतीन्द्रिय जगत में प्रवेश करते हैं।[२]

कीट्स का कथन था, 'सुने हुए गीत मधुर हैं—अनसुने गीत मधुरतर हैं।' मालार्मे के लिए भी अनसुना संगीत, मौन शब्द आनंद व आह्लाद के प्रतीक हैं, जो उसके लिए बहुत अर्थपूर्ण हैं। शुद्ध आनंद तो संगीत से ही उत्पन्न हो सकता है।

संगीत और कविता का संबंध बताते हुए प्रतीकवादियों ने कविता को उच्चतर ठहराया है। संगीत ध्वनि-प्रधान होता है और काव्य शब्द-प्रधान; ध्वनि निरर्थक होती है, शब्द सार्थक। 'कविता सार्थक शब्द-योजना द्वारा हमारी समस्त 'इन्द्रिय चेतना' को जगाती है। हम उसे केवल पढ़ते ( रूप ) अथवा सुनते ( शब्द ) ही नहीं वरन उसके सुरुचिपूर्ण सौंदर्य बोध ( रस ) से भाववीथियों को सुरभित कर देने वाली सूक्ष्म उद्भावनाओं ( गंध ) से और अन्तर्मन के तार तार झंकृत कर देने वाली प्रेषणीयता ( स्पर्श ) से निरंतर स्पंदित होते रहते हैं। ऐसी कविता में और भी निखार ले आने के लिए प्रतीकवादियों ने मुक्तवृत्त में रचना करने के बावजूद भी उसे संगीतात्मक से अभिषिक्त किया।'[3]

गुस्टाव्हकान के अनुसार अभिव्यक्त भावना के प्रत्येक रंग और मोड़ से प्रत्येक पंक्ति की लोचदार संगति कायम करना छंद का काम है।

रहस्यवाद—बाउरा के अनुसार, यह आन्दोलन मूलतः रहस्यात्मक था। इसने अपनी उदात्त वाणी में एक ऐसे युग की वैज्ञानिक कला का

1 The Heritage of Symbolism—C. M. Bowra, p. 11
२ आलोचना, अप्रेल '५६, 'प्रतीकवाद'—डॉ० भटनागर, पृ० ३६
३ आलोचना, अक्तूबर '५३, प्रतीकवाद की स्थापना'—पृ० १७४

विरोध किया, जो परम्परागत धर्म में अपनी आस्था खो चुका था, और सत्य की खोज में उसका कोई स्थानापन्न पाने की आशा कर रहा था। प्रकृतवाद ने यथानुरूप निदर्शन को ही मुख्य विषय बनाने के कारण, कवियों और कलाकारों की व्यक्तिगत संवेदनाओं को उभरने नहीं दिया था। 'व्यक्ति-परक कवियों के मनसकक्ष में सजने-संवरने वाली अद्भुत कल्पनाओं के लिये प्रकृतवाद में कोई स्थान न था। प्रकृतवाद की इस कमजोरी ने रहस्यवृत्ति को अपने विरोध में सहज ही ला खड़ा किया।'[1] प्रतीकवादी बुद्धि को विशेष महत्त्व नहीं देते थे और रहस्यवाद का सम्बंध पारलौकिक चिंतन से होने के कारण उसमें बुद्धि का स्थान नहीं रहता, अतः प्रतीकवादियों के लिये रहस्यवृत्ति विशेष बलदायक रही।

रहस्यवाद, अन्तःप्रेरित अनुभूति अथवा चिंतन—धार्मिक साधना द्वारा परमतत्व को पाने की प्रवृत्ति का नाम है। भक्त अन्तःप्रेरित अनुभूति द्वारा व ज्ञानी साधना द्वारा उसे पाने की चेष्टा करता है—लक्ष्य दोनों का एक ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि रहस्यवादियों द्वारा अव्यक्त-सत्ता में विश्वास किया जाता है। रहस्यानुभूति की पूर्ण अभिव्यक्ति ही प्रतीकों का निर्माण करती है। ऐसी रहस्यपूर्ण कविता का विश्व भी रहस्यमय होता है, जिसका अर्थ उन कविताओं के मुकाबले में कम कठिनाई से समझ में आता है जो विश्व की हूबहू नकल पेश करती हैं। इसका कारण यह है कि प्रतीकवादी जगत् का अलौकिक व शाश्वत रूप ही स्वीकार करते हैं और वर्तमान जगत् को उसका मिथ्या रूप मानते हैं। यदि अलौकिक सृष्टि के गीत गाये जायं तो अभिव्यक्ति को अनिवार्यतः रहस्यमय होना चाहिये और दृश्य जगत् का वर्णन करते समय उसके मिथ्या रूप के अन्तर्गत केवल दुर्बलताओं व निराशाओं का ही वर्णन करना पड़ता है—और ऐसा इन प्रतीकवादियों ने किया भी है। 'वस्तु-जगत् की कमियों और दरारों को इन कवियों ने अलौकिक सृष्टि के प्रवेशद्वार के रूप में देखा। प्रकृतवादी भी दरारें देखते थे, परंतु वे इनको भर देना चाहते थे, किसी दूरस्थ लोक का सोपान नहीं बनाना चाहते थे।'[2]

प्रतीकवादियों ने बौद्धिकता के स्थान पर आध्यात्मिक संकल्पनाओं

---

१ आलोचना – अक्तूबर '५३— प्रतीकवाद की स्थापना', पृ० १७१

२ आलोचना—'प्रतीकवाद की स्थापना'—श्री विसारिया, पृ० १७३

की स्थापना की। कवि इन्हें अभिव्यक्ति देने का माध्यम बना। वैज्ञानिक युग की जटिलताओं के स्थान पर ये कवि सूक्ष्म जगत् की परिकल्पना करने लगे, जो इनकी दृष्टि में इन्द्रिय-बोध से अधिक यथार्थ था—आदर्श जगत् था।

इन कवियों की धर्म-प्रवणता, यद्यपि ईसाई धर्म से प्रभावित थी, तथापि अनेक बातों में इनकी धार्मिकता सौंदर्यमूलक थी। निश्चय ही बौद-लैर, वर्लेन, मालार्मे ईसाईयत से प्रभावित थे, पर इनमें कट्टरता नहीं थी। उनका धर्म—आदर्श-सौंदर्य बन गया। सौंदर्य के इस आदर्श ने बौदलैर की टूटी-बिलखती आत्मा को शांति प्रदान की, वर्लेन ने इसके माध्यम से अज्ञात आनंद के कोष को खोज लिया और मालार्मे के लिये तो यही तत्त्व ही सर्वोपरि था। इस भाव ने अन्य विश्वासों को परे छोड़ दिया और उनके लिये वरदान सिद्ध हुआ क्योंकि एकजुट होकर वे अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सके। ईसाई धर्म के तत्त्वों को ग्रहण कर वे बाद में सौंदर्यवाद की ओर उन्मुख हुए, इस कारण प्रतीकवाद को 'सौंदर्यवाद का रहस्यमय रूप' भी कहा जाता है।[1]

मालार्मे ने लिखा था—'लोग अन्य कलाओं को विशेषज्ञों के लिए छोड़ने को प्रस्तुत हैं, लेकिन कविता सीखते हैं इसलिए कि शिक्षित प्रतीत होने के लिए यह आवश्यक समझा जाता है। परंतु प्रत्येक कला की भांति काव्य रहस्यमय है और इस रहस्य का अध्ययन या मनन कुछ चुने हुए लोग ही कर सकते हैं।' वह अस्तित्व के रहस्यमय पहलुओं की अभिव्यंजना है। हमारी कल्पना, जगत् के साथ उड़ती है, लेकिन उसे विश्राम कहीं नहीं मिलता। अनंत शून्य के प्रकाश के अनेक रूप हैं और अनेक रूपों में उस एक का प्रकाश है। अनेक की व्याख्या से एक तक पहुँचना ही इनकी वास्त-विक समस्या है।[२]

क्लोडेल का विचार था कि सृष्टि, भगवान् की कविता है और कवि की कविता इस सृष्टि की प्रतिकृति या पुन:सर्जन है। कवि, सृष्टिकर्त्ता

---

1 "Symbolism, then was a, mystical form of Aestheticism." —The Heritage of Symbolism, p. 3

२ फ्रेंच साहित्य का इतिहास—श्री सान्याल, पृ० २५६

और सृष्ट-जगत् के बीच सम्बंध स्थापित करता है। आत्मा, अदृश्य-जगत् से कवि का सम्पर्क स्थापित करती है। स्टीफन स्पेंडर ने प्रतीकवादियों के दृष्टिकोण को 'रहस्यवादियों की ध्यानावस्था का आधुनिक रूप' बताया।

प्रतीकवादियों के अनुसार कलाएं, एक ही मौलिक रहस्य के रूपांतर हैं। ध्वनि को सुगंधि के माध्यम से व सुगंधि को वर्ण के माध्यम से अभिव्यक्त किया जा सकता है। प्रतीकवाद का यथार्थवाद से विरोध इस रूप में रहस्यात्मक था, कि वह एक आदर्श जगत् की ओर से किया गया था, 'जो इनके निर्णय के अनुसार इन्द्रियगोचर जगत् से कहीं अधिक यथार्थ था। वह कड़े अर्थ में ईसाई धर्म नहीं था...एक आदर्श सौंदर्य का धर्म था—सौंदर्य का व आदर्श का।'[1]

आदर्शवाद—सभी प्रतीकवादी सिद्धान्त या तो किसी प्रकार के आदर्शवाद पर टिके दीखते हैं या आदर्शवादिता व भौतिकता के द्वैतवाद को नकारते दीखते हैं, किंतु अधिकतर प्रतीकवादियों ने पहली स्थिति को ग्रहण किया है—वे शुद्ध आदर्शवादी हैं।[2]

कॉलरिज के अनुसार प्रतीक, प्रत्यय का प्रतिनिधित्व करते हैं। व्यक्ति की विशेष व सामान्य सभी विशेषताएं प्रतीक के द्वारा प्रकट होती हैं, और वे सार्वभौमिकता का चित्रण करते हैं। इमर्सन के अनुसार शब्द व कार्य दिव्य-शक्ति के ही रूप हैं। कवि-दृष्टि विभिन्न व्यापारों को विश्वजनीनता की नजरों से देखती है और दर्पण में सारी वस्तुओं को क्रमबद्धता से दिखाती है।[3]

मेल्विले के पात्र ज्ञान की समस्या से आक्रांत हैं। क्या हम सचमुच कुछ 'जानते' हैं या केवल स्वप्नों या काल्पनिक ऊहापोहों में खोये रहते हैं? उनके उपन्यास में व्हेल मछली का प्रतीक भौतिक पदार्थों की शक्ति के लिये आया है।

बौदलैर का विचार है कि ऐन्द्रिय-जगत् से सामग्री लेकर कवि अपने सपनों की प्रतीकात्मक दृष्टि की रचना करता है। वह स्वयं को उन

1 The Heritage of Symbolism—C. M. Bowra, p. 3
2 Literary Criticism—Wimsatt & Brooks, p. 600
3 "...The poet turns the world to glass, and shows us all things in their right series and procession."—Emerson, Ibid. p. 586

लेखकों में मानते हैं, जो अज्ञात नियमों को खोजने का प्रयास करते हैं—काव्य-सृजन इन का दिव्य लक्ष्य होता है।

यीट्स के अनुसार कविता एक विशेष प्रकार के ज्ञान का प्रसार करती है। इसके माध्यम से ही व्यक्ति सत्यता के संदर्भ में स्वयं को जान पाता है और ज्ञान अर्जित करता है। आत्मा, मृत्यु के पश्चात् भी ज्ञान की शोध करती रहती है पर इसके लिये आत्मा को जीवन की समस्त उद्दाम वासनाओं से स्वयं को मुक्त करना होगा।

काव्य-रचना के लिये यीट्स ने तीन आधारभूत बातें रखीं—

(क) हमारी मानसिक सीमाएं बदलती रहती हैं, कई मन मिलकर एक ऊर्जा उत्पन्न करते हैं।

(ख) हमारी स्मृतियां प्रकृति की महान् स्मृति का अंश हैं।

(ग) महान् मन व महान् स्मृति, प्रतीकों द्वारा उद्दीप्त की जाती हैं।

उनके अनुसार प्रतीक, सब शक्तियों से महान् हैं—चाहे उनका प्रयोग जादूगरों द्वारा जानबूझ कर किया जाय या उनके उत्तराधिकारियों जैसे कवियों, संगीतज्ञों, कलाकारों द्वारा अर्द्धचेतनावस्था में किया जाय।[1]

सौंदर्य—पो ने कहा था कि कवि का सम्बंध अच्छे या सच्चे से नहीं है, किंतु सुन्दर से है। उस अनंत सौंदर्य तक पहुंचना कवि का ध्येय है। संसार उस चिरंतन सौंदर्य का ही प्रतिबिम्ब है। सौंदर्य, आत्मा को उद्दीप्त कर सत्य का उद्घाटन करता है।

आस्कर वाइल्ड के अनुसार—'सौंदर्य, प्रतीकों का प्रतीक है। सौंदर्य प्रत्येक वस्तु को प्रकट करता है।' सुन्दर वस्तुएं वही हैं जिन से हमारा संबंध नहीं। पो के अनुसार शाश्वत सौंदर्य, या इसके अंश की उपलब्धि हम विचार और वस्तुओं के सम्मिश्रण से कर सकते हैं। इसी बात से प्रभावित होकर बौदलैर ने लिखा—'सौंदर्य के प्रति हमारी यह वासना है जो हमें पृथ्वी व इसकी वस्तुओं के प्रति आकर्षित करती है।' बौदलैर ने बताया है कि समस्त प्रकृति एक मंदिर है जहां वृक्ष जीवित खम्भे हैं—ज्यों-ही हवा इन 'प्रतीकों के वनों' से गुजरती है, उलझे हुए शब्दों की सांस छोड़ी जाती है, किंतु कवि अपनी प्रतिभा के बल पर इन शब्दों को समझ लेता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का प्रतीकात्मक अर्थ है, प्रकृति का प्रत्येक

1 Literary Criticism—Wimsatt & Brooks, p. 599

पदार्थ आध्यात्मिक सत्य से सम्बद्ध है।[1]

मालार्मे ने लिखा—'जब मैंने शून्य की अनुभूति की, उसके बाद मुझे सुन्दर का दर्शन मिला।' इस प्रकार 'मालार्मे का सौंदर्य दिव्य रूप या दिव्य दर्शन की सरलता तथा जटिलता के अनुरूप है।'

वाउरा के शब्दों में 'प्रतीकवाद का सारतत्त्व है—आदर्श सौंदर्यमय जगत् के प्रति उसका आग्रह और उसका यह विश्वास कि कला के माध्यम से उसकी पहचान होती है। धर्म के अनुसार प्रार्थना और ध्यान के द्वारा भक्त को जो आनन्द प्राप्त होता है, वही प्रतीकवादी को अपने शिल्प-कौशल के उपयोग से होता है।'

सांकेतिकता—'प्रतीकवाद का अर्थ, कवि के अन्तर्दर्शनों को इंगित-सूचक शब्दों या वाक्यों और गीतात्मक ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त करना है। जिस दुनिया में हर प्रतीयमान वस्तु के पीछे निगूढ़ छिपा हुआ अर्थ है, वहां प्रतीक ही सनातन रहस्यों के वाहन हो सकते हैं।' सब जानते हैं कि इनके काव्यों में 'इच्छित अस्पष्टता' मिलती है।

प्रकृति—प्रतीकवाद की भावना में प्रकृति के तत्त्व किसी आन्तरिक सूक्ष्म सत्ता की छाया या संकेत मात्र होते हैं। पदार्थों का वाह्य रूप में कोई अर्थ नहीं होता। प्रतीकवादी कवियों ने प्रकृति के भिन्न भिन्न पदार्थों को लेकर मानव-जीवन में उनका अभिप्राय घटित किया है। उनकी प्रकृति मनुष्य जीवन के लिए संदेशों से भरी हुई है। वहां पदार्थ से तत्त्व का संकेत किया जाता है। इसलिए प्रतीकवाद को संकेतवाद भी कहते हैं।[२]

प्रकृति का प्रतीकवाद में महत्त्वपूर्ण स्थान है! उसके व्यापारों से ही प्रतीक चुने जाते हैं—'तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचल गति सुर-सरिता।' (निराला)

## प्रतीकवाद : सीमाएं

१६०० ई० तक प्रतीकवादी धारा निःशेष होने लग गई थी। इस धारा में बहुत वेग तो आरम्भ से ही नहीं था—परस्पर कलह के कारण इसके अनुयायियों में सदा विरोध चलता रहा। इसके प्रवर्तक मोरे, रेग्ने, जेम्स आदि तो पहले ही चुक गये थे। जनता तो पहले से ही उदासीन थी,

1 Literary Criticism—Wimsatt & Brooks, p. 590.

२ आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद—डॉ० चंद्रकला, पृ० ४०२

कवियों ने भी चिंतन क्षेत्र छोड़कर नित्य-प्रति दिन की बातों में अधिक रुचि लेनी प्रारम्भ की। दादाइज्म और अतियथार्थवाद ने प्रतीकवादी सिद्धांतों पर अंतिम रूप से प्रहार किये।[1]

प्रतीकवादी 'कथनी और करनी' को महत्त्व नहीं देते थे—इसलिये वे जो कुछ भी लिखते या कहते थे, स्वयं उसका अनुसरण नहीं करते थे,[2] मालार्मे तो इसके लिए कुख्यात ही हैं। रिम्बो ने भी रहस्यानुभूति की अपेक्षा प्रकृतवादिता को अधिक प्रश्रय दिया और 'अतियथार्थवादी' प्रवृति का प्रवर्तन किया। इस प्रकार इन कवियों ने अभिव्यक्ति-पक्ष के संबंध में अपनी भिन्न-भिन्न मान्यताओं को ही स्थापित करने की चेष्टा की।

इमर्सन ने कहा था, 'हम प्रतीक हैं और प्रतीकों का निर्माण करते हैं।' यदि काव्य, प्रतीकों के अतिरिक्त शून्य है, उसमें कोई साम्य या अन्तर्दर्शन नहीं है, तो कुछ भी स्थिर नहीं है—झाग और बुलबुले की तरह ही नष्टप्राय: है।

अभिधा को उत्तम काव्य कहा गया है, पर प्रतीकवादी लक्षणा व व्यंजना का प्रयोग करने के चक्कर में काव्य को दुर्बोध, एकांतिक व अस्पष्ट बनाते चले गये। प्रतीक शैली का ही तो रूप है, भाव-सौंदर्य के मुकाबले में उसका समर्थन किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त प्रतीकों का अर्थ-वैषम्य उसके महत्त्व को और भी कम कर देता है। कॉस्सिरेर का मत था कि प्रतीकवाद मध्यस्थता के शाप से ग्रस्त होता है, अतः जिसे वह प्रकाशित करना चाहता है, उसे ही वह प्रच्छन्न कर बैठने को विवश हो जाता है। उसकी ऐसी कोई भी उपलब्धि नहीं है कि वह प्रभावों की गुणयुक्त परम्परा-राशि से कुछ ग्रहण कर ले।

मार्टन टर्नेल के अनुसार भाषा में प्रतीकों का प्रयोग एकांगी होता है। वाद के रूप में यह उस गलती को सामने प्रस्तुत करता है जब यह तकनीकी विधि के स्थान पर ( जैसे उपमा या रूपक ) कथ्य रूप में प्रयुक्त होने लगता है। प्रतीक, काल्पनिक अनुभूति के वाहन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसके लिए आवश्यक यह है कि यह उद्दीप्त भावों को प्रकट करे। बोदलैर व मालार्मे की कविता की अस्पष्टता का कारण प्रायः यही है कि

1 Dictionary of French Literature, p. 335
2 Literary Criticism—Wimsatt & Brooks, p. 596

उन्होंने अपनी अनुभूतियों का स्पष्टीकरण करने के लिए जिन प्रतीकों का सहारा लिया वे काव्य-रूप में स्वीकारे नहीं जा सके थे ।[1] उन्होंने प्रतीकों को साधन रूप में नहीं, अपितु साध्य-रूप में ही प्रयुक्त किया । फार्स्टर के अनुसार हम ऐसे जगत में प्रवेश करते हैं जो केवल अपने नियमों का ही उत्तर देता है, उन्हीं का ही समर्थन करता है। इसके पास सत्य का नवीन मापदण्ड है ।

टाल्सटाय ने प्रतीकवाद पर प्रहार करते हुए कहा कि कला में अस्पष्टता का दोष अनैतिकता का दोष है, क्योंकि अनैतिकता ही एक प्रकार की अस्पष्टता व दुरुहता है और अस्पष्टता से ही उलझन, अराजकता व अस्थिरता आती है ।

एडिंगटन ने कहा—'प्रतीकात्मक ज्ञान दूर और परोक्ष होता है, जो हम प्रत्यक्ष और तुरंत जान सकते हैं, वह केवल मन है । इसलिए तात्कालिक ज्ञान के लिए सत्य का सार मानसिक ही होना चाहिए ।'[2]

वस्तुत: प्रतीकों से एक स्थिति और कथ्य अवश्य स्पष्ट होते हैं, संदर्भों के अन्वेषण की दिशा में गति नहीं आ पाती । 'जहां इस तरीके को मैनरिज्म —रूढ़ि—की हद तक स्वीकार कर लिया गया है, वहां प्रतीक रह-रहकर रूपक और अन्योक्ति बनने लगते हैं—यथार्थ उनके हिसाब से मरोड़ा जाने लगता है'[3] वहां प्रतीक ही कथ्य हो जाते हैं ।

## प्रतीकवाद : उपलब्धियां

प्रतीकवाद, वस्तुत: प्रतीकात्मक विम्ब का सिद्धांत है, जिसके माध्यम से प्रत्येक कवि ने अपनी भावनाओं, प्रेरणाओं व विचारों को अभिव्यक्ति दी ।[4] प्रतीकों को आधार बनाकर प्रतीकवादी कवियों ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों की अभिव्यंजना की । उन भावों की रहस्यमयी अभिव्यक्तियों ने काव्य को नव-जीवन प्रदान किया । कास्सिरेर के अनुसार काव्य-सृजन में विचित्र, उत्तम और रहस्यपूर्ण विषय ही पूर्णता लाते हैं । क्षुद्र व सामान्य विषयों

---

1 Literary Criticism : A Short History, p. 608-609
2 Idealist Thought in India—Dr. P. T. Raju, p. 60
३ एक दुनिया : समानान्तर—सं० राजेंद्र यादव, पृ० ६५
4 Dictionary of French Literature—S. D. Brawn, p. 334

को लेकर कविता का महत्त्व नहीं आंका जा सकता। विचित्र व अद्भुत का पल्ला छोड़ते ही कविता अपना महत्त्व खो बैठती है।[1]

मालार्मे का मत था कि क्षुद्र से क्षुद्र वस्तु साहित्य का विषय हो सकती है। फलत: अनेक कवियों ने दैनिक प्रयोगों में आने वाली वस्तुओं के चित्र प्रस्तुत करने आरम्भ किये। साथ ही परम्परागत वस्तुएं जैसे चाँदनी, प्रभात, कोहरा, पुराने उद्यान, मृतनगर आदि को ग्रहण किया गया। ग्रीक-लैटिन साहित्य से परियां, देश कथाएं भी काव्य का शृंगार करने आयीं। हेनरी रेगनिय ने काव्यगत वस्तुओं के बिम्ब लिये; वरहेल्र्ड ने आधुनिक नगर का दिग्दर्शन कराया तथा फ्रेंसिस जेम्स ने विगत दिनों के बिम्ब दिये।

प्रतीकवादी विचारधारा में मानव-जीवन और काव्य-प्रक्रिया को अत्यंत गंभीरता से देखा गया है और कवियों एवं पाठकों की अन्तर्दृष्टि को उससे अपरिमित विस्तार मिला है।[२]

हम देख आये हैं कि प्रतीकवाद ने प्रकृतवाद और यथार्थवाद का दृढ़ता से सामना किया और उन्हें साहित्य के क्षेत्र से हटा दिया। प्रकृतवादियों ने काव्य में आलंकारिकता को स्थान नहीं दिया था—प्रतीक (अलंकार) के माध्यम से प्रतीकवादियों ने इसे फिर से प्रतिष्ठित किया। प्रकृतवाद के तथ्य कथन और बुद्धिवाद की तर्कसंगिता का इन्होंने भारी विरोध किया। साथ ही इन्होंने व्यंजना या ध्वनि-सिद्धान्त को साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया, और शब्द के व्यंग्यार्थ को, वाच्य से अधिक महत्त्वपूर्ण समझा। वास्तव में हमारे शब्द मूलत: प्रतीक ही हैं और प्रतीकवादियों ने लोगों का ध्यान प्रतीकात्मकता (ध्वन्यात्मकता) की ओर सही तौर से आकर्षित किया और कविता को हृदय-मन की गंभीरतम अभिव्यक्ति बना दिया। अत: यदि प्रतीकवाद मानव की संवेदना को बढ़ाता है और उसे अपने प्रति अधिक से अधिक ईमानदार बनने की प्रेरणा देता है, तो भी उसका महत्त्व कम नहीं है। उसका ऐतिहासिक महत्त्व तो रहेगा ही[3] प्रतीकों के महत्त्व की तथा उनके प्रयोग की जैसी

---

1 Literary Criticism—Wimsatt & Brooks, p. 497.

२ आलोचना, अप्रैल '५६—'प्रतीकवाद', पृ० ४०

३ वही, पृ० ४२-३

सूक्ष्म व्याख्या इस वाद के अनुयायियों द्वारा हुई है वैसी अन्यत्र नहीं मिलती। इस सिद्धान्त को इंग्लैंड के स्वच्छंदतावादी कवियों, इमर्सन व कार्लाइल के दार्शनिक सिद्धान्तों, स्केन्डिनेवियन लेखकों, रूसी उपन्यासों की रहस्यवादिता, शॉपेनहावर के निराशा-सिद्धान्त, टर्नर की पेंटिंग व वैग्नर की संगीतकला ने प्रभावित किया, किन्तु समय आने पर इस विचारधारा ने भी सारे यूरोप और अमेरिका के कुछ भागों को प्रभावित किया। इससे प्रमाणित होता है कि यह सहजात फ्रेंच प्रेरणा की ही अभिव्यक्ति है और फ्रेंच मानस का एक और पहलू है।[1]

प्रतीकवादियों ने नगर-बोध की कविताओं की ओर ध्यान दिया। इलियट ने आकाश में संध्या का फैलना वैसा दिखाया है, जिस तरह रोगी बेहोशी की हालत में मेज पर लेटा रहता है। वे एक स्थान पर कहते हैं—

'मैंने अपने जीवन को कॉफी के चम्मचों से नापा।'

इलियट के प्रतीकवाद में परिवेश और उसका मानव से सम्बंध, शब्दों और विचारों का वैषम्य, भूत से वर्तमान का निर्माण जैसी विशेषताएं मिलती हैं।[2]

प्रतीकवाद ने तत्कालीन स्वीकृत मूल्यों को बिल्कुल अस्वीकार कर दिया। उसने सीधी सपाट भाषा की अपेक्षा अर्थ-पूर्ण संकेतों को श्रेष्ठतर घोषित किया। एक तरह से अंधकार तथा धूमिल आलोक ने फ्रेंच लेखकों को आकृष्ट किया। उनकी धारणा थी कि 'संवेग और कल्पना के स्वाभाविक संबंधयुक्त शब्दों के द्वारा, स्पष्ट वाक्यों के तंग और तुच्छ दायरे से परे, काव्य और साधारण रूप से साहित्य-मात्र का लक्ष्य अनुज्ज्वल प्रांतों में अर्थ का प्रसार होना चाहिए।'[3]

प्रतीकवादी कविता जटिल अवश्य जान पड़ती है, किंतु यह जटिलता न तो असावधानी का परिणाम है और न ही विकृत इच्छा से यह पाठकों को पथ-भ्रष्ट करती है। यह उस समाज को, जो भौतिक बंधनों से निरंतर आबद्ध होता जा रहा है, त्राण देने का एक विनम्र प्रयास है। यह उन सब लोगों को सम्बोधित नहीं करती, जो जल्दी में हैं, किंतु उन कुछ

---

१ फ्रेंच साहित्य का इतिहास—भूपेन्द्रनाथ सान्याल, पृ० २४८

2 The Poetry of T. S. Eliot—D. E. S. Maxwell, p. 65

३ फ्रेंच साहित्य का इतिहास—श्री भूपेंद्रनाथ सान्याल, पृ० २४९

व्यक्तियों को सम्बोधित करती है, 'जो शब्द के पीछे प्रतीक और प्रतीक के पीछे विश्व देखने को तैयार हैं।'

इसके अतिरिक्त प्रतीकवादी रचनाओं में 'चेतना की सुदृढ़ गवेषणा', 'अनुभव के नवीन क्षेत्रों के अनुसंधान की तीव्र आकांक्षा', 'चरम सत्य की निरंतर, बिना थके उत्तेजक शोध' इत्यादि अनेक विशेषताएं हैं। इस काव्य ने 'एक नवीन सौंदर्य-चेतना जगाकर एक बृहत् समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया, जिसने उसकी वस्तु मात्र पर अटक जाने वाली दृष्टि पर धार रखकर उसको इतना नुकीला बना दिया कि हृदय, हृदय के गहनतम गह्वरों में प्रवेश कर सूक्ष्म से सूक्ष्म और तरल से तरल वायवीचियों को पकड़ सके।'[1]

इस प्रकार प्रतीकवादी प्रयोग व्यर्थ नहीं गया, उसने कविता को नवोत्तेजना और नवोल्लास प्रदान किया।

प्रभाव—प्रतीकवादियों ने अपने सिद्धांतों को थियेटर तक प्रसारित किया। वेग्नर व मालार्मे के बाद अनेक साहित्यकारों द्वारा प्रकृतवादी प्रभाव हटाने के हेतु थियेटर तक इन सिद्धांतों का प्रयोग किया गया। मालार्मे के 'हैरोडिएड़' के बाद ऐसी कविताएं रची गईं जो मंच पर प्रस्तुत की जा सकें। दृश्यों के सामने कविता संवादों के रूप में लायी गई, जिसके साथ संगीत व नृत्य का आयोजन भी था। प्रकाश व सुगंधित वस्तुओं का भी यथासंभव प्रयोग किया गया। मैटरलिंक को सर्वाधिक सफलता मिली।

फ्रांस के प्रतीकवाद का प्रभाव सारे विश्व पर पड़ा। यह श्रेय उस फ्रांस को प्राप्त है, जिसके लिये इमर्सन ने कभी कहा था कि 'वहां कवि कभी पैदा नहीं हुए।' हम यह नहीं कह सकते कि प्रतीकवाद समाप्त हो गया है—फ्रांस में तो आज भी वे कवि मौजूद हैं, जिन्हें बौदलैर की पंक्ति में खड़ा किया जा सकता है। इनमें से चार्ल्स पेगू ने मध्ययुगीन विषयों के द्वारा, क्लौडैल ने थियेटर के माध्यम से, जाँ गिरादू ने उपन्यास व थियेटर के माध्यम से, आन्द्रे जीद ने गद्य व नीति के प्रूस ने सौंदर्य व आध्यात्मिक सिद्धांतों के माध्यम से प्रतीकवादी सिद्धांतों को आज भी जीवित रखा है।

अतुकांत छंद, जो इस आन्दोलन की मुख्य देन है, आज भी प्रभावशाली है। इस प्रकार कला और साहित्य के क्षेत्रों में प्रतीकवाद अभी भी महान् प्रेरक और प्रभविष्णु शक्तियों में से एक है।[2] □

१ आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद—डॉ० चंद्रकला, पृ० ४०४
२ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ४०४

# ५ | आदर्शवाद

'कविता, जीवन का ही प्रतिविम्ब है—ऐसा प्रतिविम्ब जिसमें जीवन अपने शाश्वत-सत्य के साथ अभिव्यक्त हो।' —शेली

'नैतिक विचारों के विरुद्ध विद्रोह करने वाली कविता, जीवन के प्रतिविद्रोह करने वाली कविता है।' —मैथ्यू आर्नल्ड

'कला मूलतः आदर्शवादी है, कलाकार के व्यक्तित्व की प्रभावशाली अभिव्यक्ति है।' —पोल गॉल्तिये

आदर्शवाद को 'प्रत्ययवाद', 'विचारवाद' आदि के नाम से भी पुकारा जाता है। इस विचार-धारा ने वाङ्मय के सभी अंगों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया है।

आदर्शवादियों के अनुसार, प्रत्यय ईश्वर की चेतना में विद्यमान आदर्श-रूप है, जिसकी अनुकृति-स्वरूप इस जगत् का उदय हुआ है। प्लेटो का यही विचार था, और अरस्तू के अनुसार रूप को जन्म देने वाली धारणा, प्रत्यय है। बर्कले, इन्द्रिय-जनित या कल्पना-जनित मानस बिम्ब को प्रत्यय मानते हैं। कॉट की दृष्टि में यह, तर्क की लोकोत्तर-धारणा व हेगल की दृष्टि में उच्चतम-सत्ता का ही दूसरा नाम है।[1] साहित्य में इस वाद का आशय एक ऐसी विचारधारा से समझा जाता है, जो मनुष्य को अपने जीवन में किन्हीं उदात्त तत्त्वों के माध्यम से प्राप्त उपलब्धियों की दिशा में चलने की प्रेरणा दे। ये उपलब्धियां अंततः मनुष्य के आत्मिक संतोष और सुख का मूल कारण होता है।'[2]

## आदर्शवाद : दार्शनिक दृष्टि

आदर्शवाद की निश्चित परिभाषा करनी कठिन है, कभी तो यह यथार्थवाद के प्रतिद्वंद्वी के रूप में चर्चित होता है तो कभी बुद्धिवाद से सम्बंधित बताया जाता है। जॉन मेकेन्जी जैसे विद्वान, इसको एक निश्चित

---

१ मानविकी पारिभाषिक कोश, पृ० १३६

२ पाश्चात्य समीक्षा की रूप-रेखा—डॉ० प्रतापनारायण टंडन, पृ० १८४

सिद्धान्त की अपेक्षा इसे एक प्रवृत्ति-मात्र बताते हैं।

प्रो० म्यूरहेड का कथन है कि 'आदर्शवाद का प्रयोग सामान्यतः मन की उस प्रवृत्ति के लिए किया जाता है, जो कल्पनात्मक रूप में वस्तुओं का पुनर्स्थापन करती है और भावात्मक पूर्णता पर विशेष बल देती है।' आदर्शवाद ज्ञान को अनुभूति के रूप में ग्रहण करता है। इसमें वस्तु और व्यक्ति एक दूसरे के आलोक में ही महत्त्व पाते हैं।

ई० स्ट्रोलच कहते हैं कि यह मानव जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, जिसमें कर्त्तव्य-निष्ठा के सम्मुख सभी उपयोगात्मक साधन महत्त्वहीन हो जाते हैं। भौतिकवाद के सम्मुख मन को अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। काव्यात्मक रूप से इसमें विश्व को नैतिक, धार्मिक व सौन्दर्यात्मक रूपों में प्रस्तुत किया जाता है।

बाल्दविन का विचार है कि यह वह सिद्धान्त है, जिसके अनुसार विश्व, विवेक व मस्तिष्क की कार्य-विधि है और जिसके अनुसार बाह्य-जगत् की वास्तविकता इसके प्रत्यक्ष ज्ञान में है।

काल्डर वुड के अनुसार आदर्शवाद सम्पूर्ण रूप में विश्व की बाह्य स्थिति का सिद्धान्त है। यह विचारों तक ही हमारे ज्ञान को सीमित रखता है, यथार्थ का एकीकरण करता है व आदर्श योजना के अनुरूप 'स्व' की सम्पूर्णता का पुनर्स्थापन करता है।[1]

निस्संदेह विश्व के नियमन में आध्यात्मिक मूल्यों का निर्णयात्मक स्वर है। कनिंघम के अनुसार—"आदर्शवाद वह दार्शनिक सिद्धान्त है जो यह दर्शाता है कि द्रव्य...के सम्बंध में सोचने पर हम तार्किक रूप से मस्तिष्क या आत्मा के सम्बंध में सोचने को विवश हो जाते हैं।"

प्रो० हॉकिंग के अनुसार यह वह दर्शन है, जिसके अनुसार यथार्थ ही मस्तिष्क की प्रकृति है। पदार्थ-उर्जा, जीवन, मन में प्रकृतिवादी, प्रथम शब्द से सम्पूर्ण विश्व की व्याख्या करते हैं, आदर्शवादी जीवन की व्याख्या मन की क्रियाओं से करते हैं। हमें भौतिक प्रकृति की व्याख्या मन के द्वारा करनी चाहिये या मन की व्याख्या भौतिक पदार्थों द्वारा करनी चाहिए। प्रकृति स्वतः परिपूर्ण नहीं है, वह मन या चेतना पर आश्रित है। आदर्शवाद मात्र आदर्शों की नहीं, विचारों की व्याख्या करता है। पत्थरों व

---

1 Idealistic Thought of India— Dr. P. T. Raju, p. 32

धातुओं की अपेक्षा विचारों का महत्त्व ही वास्तविक समझा जाना चाहिए। आदर्शवाद का सहजानुभूति से घनिष्ठ संबंध है। अतः 'आदर्शवाद, मानव के आध्यात्मिक अन्तःकरण में विवेक लाने का एक प्रयास है।' आदर्शवाद धर्म का दार्शनिक विकास भी समझा जाता है। भारत में ब्राह्मणवाद, वेदांत, बौद्ध धर्म इसी आदर्शवाद के विभिन्न रूप हैं। प्रो० हॉकिंग आगे कहते हैं—आदर्श में सत्यता का पूरा अंश रहता है। 'मैं प्रत्येक वस्तु की वास्तविकता पर संदेह कर सकता हूँ किंतु मैं अपनी वास्तविकता पर संदेह नहीं कर सकता', अतः 'स्व' का आदर्श में बड़ा महत्त्व है। भारत के योगी भी आत्म-चेतना के माध्यम से सम्पूर्ण चेतना को पहचानते थे। शापेन-हावर ने भी कहा था—'विश्व मेरा प्रतिदर्शन है।'[1]

आदर्शवाद के दो रूप होते हैं—(१) आत्मपरक और (२) वस्तु-परक। आत्मपरक आदर्शवादी मानते हैं कि प्रकृति स्वतः सत्य नहीं है, इसकी सत्यता जीवन से उद्भूत है। वस्तुपरक आदर्शवादी मानते हैं कि प्रकृति 'स्व' की नहीं है, मुझसे पहले थी और बाद में भी रहेगी।

पाश्चात्य जगत् में आदर्शवाद की दार्शनिक व्याख्याएं प्लेटो से ही होती रही हैं। आधुनिक युग में आदर्शवाद, मानसिकवाद के रूप में सामने आया है, कारण कि वैज्ञानिक प्रगति से ईश्वर व जगत् की पुरानी मान्य-ताओं पर तीव्र प्रहार होने लगे हैं। देकार्त ने कहा कि मन और इसके प्रत्ययों में वैसे ही कोई अंतर नहीं है जैसे मोम और उससे बनी वस्तुओं में। बर्कले के अनुसार किसी वस्तु का अस्तित्वमय होना ही मन का प्रत्यय है और जिन्हें हम विषय-वस्तु कहते हैं, वे हमारे आत्मपरक प्रत्यय नहीं अपितु ईश्वर के मन के प्रत्यय हैं। ह्यूम के लिए ये प्रत्यय उन प्रभावों की प्रतिच्छायाएं हैं, जो हम वस्तुओं से पाते हैं।

काण्ट के अनुसार पदार्थ का सम्बंध मानव की ऐन्द्रियानुभूति से है और प्रत्यय, बुद्धि का कार्यकलाप है। बुद्धि दो प्रकार की होती है—शुद्ध और व्यावहारिक। शुद्ध बुद्धि दृश्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करती है और व्यावहारिक बुद्धि या इच्छा शक्ति, उसके मूल में जाने का प्रयास करती है। स्पिनोजा, मन और पदार्थ को 'सार' कहकर उसे ईश्वर से सम्बद्ध करते हैं, किंतु हेगल तत्त्व को निष्क्रिय मानते हुए चेतना को सक्रिय व स्वतंत्र

1 Types of Philosophy—W. E. Hocking, p. 48-49

बताते हैं। क्रोचे ने मन या चेतना को सतत प्रवाह के रूप में माना, जिसके सैद्धांतिक पक्ष में सत्य व सुंदर और व्यावहारिक पक्ष में शिव व उपयोगी तत्त्व मिलते हैं। ह्वाइटहैड, विश्व का 'सार' भावना को मानते हैं और एडिंगटन सत्य का सार, मानसिक बताते हैं।

इस प्रकार दार्शनिक आदर्शवाद बताता है कि संसार का सच्चा स्वरूप भौतिक नहीं, अपितु आध्यात्मिक या मनोमय है। भौतिक द्रव्य भी मन या चेतना के परमतत्त्व के अद्भुत होते हैं। ईश्वर, जगत् का जीवनीय तत्त्व है। चेतन मानव इस जीवंत विश्व का सार्थक प्राणी है। यह जगत् जड़ नहीं, चेतन है, वह अर्थपूर्ण और सोद्देश्य है। प्रकृति और मानव में सामंजस्य है, जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में है।[1] वस्तुतः आदर्शवाद ही दर्शन की सारी प्रणालियों से जुड़ा हुआ है, यह आदर्श की सत्यता का सिद्धांत है और इसी आधार पर जगत् की व्याख्या की जाती है। सत्य की शोध ही इसका प्रयोजन है। श्रीमद्शंकराचार्य से लेकर डॉ० राधाकृष्णन और उधर प्लेटो से लेकर रसल तक सभी दार्शनिक इन्हीं विचारों को मानते हैं।

## आदर्शवाद : राजनीतिक दृष्टि

राजनीतिक दृष्टि से यह सिद्धांत, राज्य को ईश्वर के समकक्ष मानता है। जर्मन के दार्शनिक कांट तथा हेगल और इंगलैंड के ग्रीन व बोसांके ने ऐसी आदर्शवादी विचार-धारा का प्रतिपादन किया है। इनके अनुसार राज्य के आदर्शों में ईश्वरीय पवित्रता, महानता व नैतिकता होती है। राज्य ही 'सामान्य इच्छा' का प्रदर्शन करता है। मनुष्य की प्रगति राज्य के कारण है।

कांट के अनुसार, राज्य की सर्वोच्च सत्ता केवल अधिकार रखती है, कर्त्तव्य नहीं। स्वतंत्रता, सार्वभौमिक नियमों से नियंत्रित रहती है। हेगल के अनुसार, राज्य पृथ्वी पर ईश्वरीय विचार है। ग्रीन के मत में मनुष्य को बाह्य कार्य, सामाजिक हितों से प्रभावित होकर करने चाहिए। ग्रीन के शब्दों में—'राज्य का वास्तविक जीवन उसके नागरिकों का ही जीवन है, उसका कोई पृथक जीवन नहीं है।' बोसांके के अनुसार संस्थाएं नैतिक विचारों की प्रतीक हैं। नैतिक सम्बंधों के लिए एक संगठित जीवन की

---

१ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ९५

आवश्यकता होती है, पर ऐसा जीवन केवल राज्य में ही संभव है। बोसांके के शब्दों में—'जिस प्रकार व्यक्ति को अपनी आत्मा के आदेश अंत तक मानने चाहिये, उसी प्रकार राज्य को, अपने नैतिक उत्तरदायित्व को पूर्ण करने के लिए, अपनी आत्मा के आदेश को मानना चाहिये।'

इस प्रकार आदर्शवादियों ने राज्य के आदर्श और नैतिक रूप को ही स्वीकारा है।

## आदर्शवाद : साहित्यिक दृष्टि

साहित्य में आदर्श के सिद्धांत बिल्कुल दर्शन या राजनीति की भांति प्रयुक्त नहीं होते—उनकी कतिपय विशेषताओं को साहित्यिक दृष्टि से ग्रहण किया जाता है। आदर्शवाद मानव-जीवन के आन्तरिक-पक्ष पर विशेष बल देता है। जीवन के दो पक्ष हैं—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक-पक्ष में आनंद, मानसिक शांति, संतोष आदि आते हैं और बाह्य-पक्ष में भौतिक सुख प्रसाधन। 'आदर्शवादी साहित्यकार का विश्वास है कि मनुष्य जब तक आन्तरिक सुख प्राप्त नहीं करता, उसे वास्तविक आनंद की उपलब्धि नहीं हो सकती। मानव की प्रेरणा तब तक भटकती रहेगी, जब तक वह शाश्वत, चिरंतन सत्य अथवा आनंद नहीं प्राप्त कर लेता।'[1]

इस प्रकार आदर्शवाद मानव-जीवन के आन्तरिक स्वरूप—गुणों की व्यवस्था करता है। उन मूल्यों को महत्त्वपूर्ण व कल्याणकारी समझता है, जिनसे मानवता का विकास होता है। आदर्शवादी कलाकार भाव और कला की उच्चतम गुरुता तक पहुँचने का प्रयास करता है। उसके साहित्य में स्थायी मूल्यों की अवधारणा होने के कारण नीति व आदर्श के क्षेत्रों में अधिक से अधिक निकटता उसे प्राप्त होती है। डब्ल्यू देव ने स्वीकार किया है—'आदर्श-काव्य में आनंद और उपदेश का एक सुन्दर समन्वय होता है।'

आदर्शवादी, आशावादी होता है। वह इस विश्व को हरा-भरा फलता-फूलता हुआ देखना चाहता है। काले बादलों में उसे रजत-रेखा ही दिखाई देती है। उसे मनुष्य पर अगाध आस्था है, उसके सुन्दर भविष्य के प्रति आश्वस्त भी है। साथ ही वह इस संसार में न्याय और सत्य की विजय तथा अन्याय व झूठ की पराजय देखना चाहता है, उसे ईश्वरीय

---

१ हिन्दी साहित्य-कोष पृ० ९३

न्याय में पूरा विश्वास है। वह इस बात की कल्पना आसानी से कर लेता है कि दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति भी साधु बन सकता है। मानव की शक्ति को कम नहीं समझना चाहिये। धरती पर स्वर्ग देखने की अभिलाषा ऐसे आदर्श-वादी व्यक्तियों की ही होती है—'इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया' (साकेत)। 'वह जानता है जीवन के कलुषित, पापमय स्वरूप का चित्रण साहित्यिक-सत्य को स्थान नहीं दे सकता है। हृदय की आन्तरिक प्रेरणा जिन असत् विचारों से कराह उठती है, वह साहित्य सुन्दर नहीं हो सकता है, इसका आदर्शवादी को पूर्ण ज्ञान होता है।'[१] आदर्शवादी कवि विश्व-कल्याण की भावना को प्रमुखता देता है और इसके लिये वह यथासम्भव उदात्त भावों की अभिव्यंजना करता है। सुर-असुरों के संघर्ष में यदि मानवों की विजय नहीं दिखाता, तो उसकी रचना व्यर्थ है।

जीवन की श्रेष्ठ व अनुपम सम्भावनाएं आदर्श में निहित हैं—अतः आदर्शवाद जीवन की श्रेष्ठतम स्थिति का परिचायक होता है। 'आदर्श भले ही सम्पूर्णतः हमारे जीवन में न उतर सके, पर उसके प्रति लालसा एवं कामना प्राणी को विपथगामी होने से बचाती अवश्य है।'[२] मनुष्य जीवन के वैषम्य को नयी रूपरेखा प्रस्तुत कर उसे भव्य-रूप मे ले आता है।

साहित्य, आनंद या पलायन के मार्ग से बढ़कर है इसका हमसे घनिष्ठ संबंध है। यह सम्पूर्ण मनुष्य को ग्रहण करता है—ऐन्द्रिय व भावुक, बौद्धिक व नैतिक या आध्यात्मिक सभी मनुष्यों को।[3]

साहित्य जीवन से अलग हटकर सांस नहीं ले सकता। जीवन का एकपक्षीय विवेचन भी उसके लिये अहितकर होता है किंतु मानवीय मूल्यों के अभाव में वह प्राणहीन हो जाता है। चार्ल्स मारगन के अनुसार मनुष्य कला के सम्बंध में कम से कम तब तक सोचना प्रारंभ नहीं कर सकता, जब तक धर्म, प्रेम, समता. अपनत्व, शक्ति आदि के बारे में, सोचना शुरू नहीं कर देता।

## यथार्थ और आदर्श : कतिपय परिभाषाएं

'वह धारणा, जिससे प्रेरित होकर साहित्यकार नित्यप्रति देखे सुने,

१ हिन्दी साहित्य और विभिन्नवाद—श्री रामजीलाल बधौतिया, पृ० २८२

२ हिन्दी साहित्य में विविधवाद—डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल, पृ० १०१

3 The Adventures of Criticism—Dr. Iyengar, p. 654

भले-बुरे चरित्रों और परिस्थितियों का चित्रण करता है, वह अनिवार्यतः यह ध्यान नहीं रखता कि ये चरित्र या परिस्थितियां मानव समाज की भलाई करेंगी या बुराई, साहित्य में यथार्थवाद कहलाती हैं।

'वह धारणा, जिससे प्रेरित होकर साहित्यकार ऐसे चरित्र अथवा ऐसी परिस्थितियों का चित्रण करता है जो मानव-समाज के लिए अनुकरणीय हैं ( यह आवश्यक नहीं कि वैसे चरित्र और परिस्थितियां सम्पूर्ण रूप में लोक में देखी और सुनी जायं ) साहित्य में आदर्शवाद कहलाती हैं।'[१]

'जब तक हमारा व्यापार लौकिक रहता है, सर्वजन सुलभ होता है, तब तक उसकी संज्ञा रहती है यथार्थ, और जब हम ऐसा सत्-आचरण करने लगते हैं जो सर्वजन सुलभ नहीं होता, तब हम उसे आदर्श कहने लगते हैं।'[२]

'कलाकार जीवन को दो प्रकार से चित्रित करता है—एक में वह संसार को जैसा देखता है वैसा ही चित्रित करता है; दूसरे में वह अपने चतुर्दिक जगत् को मनोनुकूल बनाने के लिए अपनी कल्पना, अपने आदर्शों और अपनी धारणाओं का प्रयोग करते हुए उसे उनके आधार पर अंकित करता है। प्रथम प्रकार को यथार्थवाद तथा दूसरे को आदर्शवाद कहते हैं।'[३]

'यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनों ही चित्रण-शैली के दो स्थूल विभाग मात्र हैं। दोनों ही शैलियां लेखक के दृष्टिकोण पर अवलम्बित रहती हैं। कला की सौंदर्यसत्ता की ओर दोनों का झुकाव रहता है। आदर्शवाद में विशेष या इष्ट के आग्रह द्वारा इष्ट ध्वनित होता है, यथार्थवाद में सामान्य अभीष्ट के चित्रण द्वारा इष्ट की व्यंजना होती है।'[४]

'मनुष्य का सामान्य आचरण और वस्तुजगत का सामान्य रूप यथार्थ की परिसीमा में आता है। उदात्त काल्पनिक व्यक्ति जब अपने आचार-विचारों को ऐसी विशेष श्रेष्ठता में विभूषित करता है कि सामान्यजन उन्हें सहज ही प्राप्त नहीं कर पाता और उनके श्रेष्ठ रूप से मुग्ध अवश्य होता है तो उन्हें आदर्शवादी आचार विचार कहा जाता है।····आदर्शवाद जीवन

---

१ हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास—डॉ० भागीरथ मिश्र, पृ० ४२०
२ हिन्दी साहित्य में विविधवाद—डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल, पृ० २००
३ बृहत् साहित्यिक निबंध—डॉ० त्रिपाठी व गुप्त, पृ० ३७७
४ आधुनिक साहित्य—श्री नंददुलारे वाजपेयी

की श्रेष्ठ सम्भावित स्थितियों पर बल देता है और यथार्थवाद उसकी वर्तमान वास्तविक दशा को अभिव्यक्त करता है।'[1]

'यदि यथार्थ जीवन का नग्न सत्य है तो आदर्श जीवन की स्वर्णिम कल्पना। जीवन की घटनाओं का यथातथ्यानुरूप आलेखन और अंकन यथार्थ है और कल्पना के चक्षुओं द्वारा उनको एक सुन्दर व सत् रूप में प्रतिष्ठित करने की बात आदर्श की परिसीमा में आती है। यथार्थ में समस्याएं नग्न रूप में हमारे सामने आती हैं और आदर्श में उनका एक काल्पनिक और शोभन चित्र हमारे सामने उभरता है।"[2]

'यथार्थ वह है जो नित्यप्रति हमारे सामने घटता है। उसमें पाप-पुण्य, सुख-दुख की धूपछांव का मिश्रण रहता...दूसरी ओर आदर्शवादी स्वप्न-द्रष्टा होता है, वह संसार में ईश्वरीय न्याय और सत्य की विजय देखना चाहता है। वह संघर्ष में भी साम्य देखने के लिये उत्सुक रहता है। ...वह आशावादी होता है और आशा के एक बिंदु से सुख के सागर की सृष्टि कर लेता है।'[3]

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार यथार्थवाद वस्तुओं की पृथक् पृथक् सत्ता का समर्थक है। वह समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की ओर अधिक उन्मुख रहता है। यथार्थ का सम्बंध प्रत्यक्ष वस्तु-जगत से है। आदर्शवाद इसके विपरीत, अनेकता में एकता देखने का प्रयत्न करता है। वह विशृंखलता में शृंखला, निराशा में आशा, दुख में सुख के समाधान की प्रतिष्ठा करने का उद्देश्य रखता है। "वास्तव में आदर्शवाद मानवीय जीवन की उच्च संभावनाओं पर आश्रित है, जबकि यथार्थवाद किसी लक्ष्य विशेष को महत्त्व न देकर, जो कुछ अनुभव में आता है और बुद्धि से सिद्ध होता है, उसी का हामी है।"[4]

आचार्य शुक्लजी मानते हैं कि यथार्थ और आदर्श के स्वरूप को स्थिर करना बड़ा कठिन काम है। एक देश का आदर्श दूसरे देश में यथार्थ

---

१ आधुनिक हिन्दी काव्य में यथार्थवाद, डॉ० परशुराम शुक्ल, पृ० ३३१

२ साहित्यिकवाद—प्रो० भारतभूषण, पृ० ६

३ काव्य के रूप—श्री गुलाबराय

४ आधुनिक साहित्य, पृ० ४२०

हो सकता है; एक युग का आदर्श दूसरे युग में यथार्थ बन सकता है; यही नहीं भिन्न भिन्न व्यक्तियों के लिये यथार्थ और आदर्श के भिन्न भिन्न मापदंड हो सकते हैं। शुक्लजी मानते हैं कि इन सब परिस्थितियों का अध्ययन करके अपनी कला के उपकरण जुटाना तथा देशकाल एवं पात्रगत भिन्नता के भीतर जीवन-प्रवाह की एकता का दर्शन करना-कराना कलाकार का काम है। ये दोनों तत्त्व विरोधी नहीं, एक दूसरे के पूरक हैं। गतिशील जीवन अपनी अव्यावहारिकता एवं सुदूरता ही में सिमिट कर संकीर्ण हो जाने वाले आदर्शों को तिरस्कृत करता चलता है, दूसरी ओर यथार्थ के अत्यंत स्थूल एवं निम्न स्तरों से अपने आपको अक्षत रखकर अग्रसर होता है।'यथार्थ यदि पोषक है तो वह उसे आदर्श के रूप में ग्रहण कर लेता है और आदर्श यदि शोषक है तो वह उसे निराहृत करके त्याग देता है। जीवन-प्रवाह को यथार्थ से घृणा नहीं और आदर्श के प्रति मोह नहीं। उसे केवल पोषण से प्रीति है। जिस साहित्य में जीवन प्रवाह का यह रूप स्वस्थ अंकित होता है वह समर्थ और शक्तिशाली साहित्य के रूप में मान्य होता है।'[1]

इन भारतीय समीक्षकों के अतिरिक्त पश्चिम में भी इन वादों की अनेक परिभाषाएं की गई हैं। सेमुएल ल्यूकस, उपन्यासों के दो वर्ग मानते हैं—एक, जो जीवन का चित्रण 'प्रतिभासित रूप' में करते हैं और दूसरे वे हैं जो 'मानवता का चित्रण अधिकतर उसकी आन्तरिक चेतना से करते हैं।' इस प्रकार यथार्थ और आदर्श क्रमशः वस्तुपरक और आत्मपरक के समान हैं। यथार्थ-कला में लेखक अपने व्यक्तित्व को वस्तुगत तटस्थता की स्थिति में रखना चाहता है, आदर्श-कला में उसकी कल्पना और व्यक्ति पूर्णरूपेण क्रियाशील होता है, अनुभव के विषय को स्वयं अपनी प्रकृति के अनुसार रूप देता है। इस प्रकार यथार्थवाद प्राकृतिक वस्तुओं का उस रूप में चित्रण है, जिस रूप में उन्हें कलाकार देखता है, वह तो इन्द्रियों को जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है, उसका अनुकरण करने का प्रयत्न है, आदर्श प्राकृतिक वस्तुओं का उस रूप में चित्रण है जिस रूप में कलाकार उन्हें देखना चाहता है, यह वस्तुओं का उस रूप में अनुकरण करना है, जो मन में उन्हें दिया है।[2]

---

१ समीक्षक-प्रवर श्री रामचंद्र शुक्ल—श्री गिरिजादत्त शुक्ल, पृ० २६५
२ पाश्चात्य काव्यशास्त्र: सिद्धांत और वाद, पृ० ६८

निष्कर्ष —किसी भी कलाकृति में यथार्थ और आदर्श —दोनों ही तत्त्व विद्यमान रहते हैं। डैकर के अनुसार अनुकृत वस्तु एक व्यक्तित्व द्वारा कल्पित वस्तु बन जाती है। कलाकार अपनी रचना में व्यक्तित्व का प्रवेश कराए बिना जीवन को प्रस्तुत नहीं कर सकता और न ही यथार्थ से सर्वथा हटकर किसी सुन्दर वस्तु का चित्रण ही कर सकता है। श्रेष्ठ कलाकार तो जीवन को, अतिवादों से हटाकर प्रस्तुत करता है और दोनों का उचित सामंजस्य प्रस्तुत करता है। प्राणविहीन आदर्श और आदर्श के अभाव से वह बचता है। विक्टर कज्जन के शब्दों में—'प्रतिभा उस उचित अनुपात का, जिसमें आदर्श और यथार्थ, रूप और भाव का ऐक्य अपेक्षित है, द्रुत तथा अचूक बोध करा सकने की क्षमता है। यह ऐक्य कला की पूर्णता है : इसी प्रकार ग्रंथ-रत्नों की सृष्टि होती है।'[1]

## आदर्शवाद : स्वरूप-विकास

विश्व-साहित्य पर विहंगम दृष्टिपात करने पर हमें ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण साहित्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में आदर्शवादी रहा है। वह व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि, विशृंखलता की अपेक्षा शृंखला और मानव-जीवन की उच्चाकांक्षाओं को लेकर चला है। उसका सत्य केवल इन्द्रियों के आधार पर खोजा हुआ सत्य नहीं रहा है।

प्राचीन ग्रीक साहित्य में नीति-शास्त्र का बड़ा महत्त्व रहा है, जिसका प्रारम्भ मुख्यतः प्लेटो से होता है।

प्लेटो—इनके अनुसार शाश्वत व आदर्श विचार ही सत्य हैं।[2] मूल सत्य एक है, अखण्ड है और उसका कर्त्ता स्वयं ईश्वर है। प्रत्यय ही पदार्थों के निकष हैं। मनुष्य का प्रत्यय, आदर्श मनुष्य है, अश्व का प्रत्यय आदर्श अश्व है।

प्लेटो काव्य और नीति का परस्पर घनिष्ठ सम्बंध मानते हैं। नैतिकता का सम्बंध जीवन से है तथा काव्य में उसका प्रवेश स्वस्थ जीवन

---

१ पाश्चात्य का काव्यशास्त्र : सिद्धांत और वाद, पृ० ९९

2 'Plato's philosophy is an idealism of the ideas, and not of ideas in the sense of mental states.'

—Idealistic Thought of India, p. 44

के लिये परमावश्यक है। प्लेटो के अनुसार 'कविता केवल आनंददायिनी ही नहीं है, बल्कि राष्ट्र एवं मानव-जीवन के लिये उपयोगी भी है।' आनंद और नैतिकता में से वे नैतिकता के ही पक्ष में रहे हैं, क्योंकि काव्यानंद चाटुकारिता से अधिक कुछ नहीं है। जिस काव्य में सद्गुणों को प्रश्रय न मिले, आत्मा का उत्कर्ष न हो, जिससे मिथ्या परितोष उत्पन्न हो, वह त्याज्य है। काव्य के आनंद में भी नैतिक-भावना का परितोष अवश्य रहे। 'काव्य जब तक मानवात्मा व्यवस्था, आत्मनिग्रह, सदाचरण, धर्माचरण का साधक न हो, तब तक अग्राह्य है।'[1]

ऊपर हम स्पष्ट कर चुके हैं कि यूनान के नीति दर्शन में विवेक को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। उन लोगों के अनुसार विवेक, मानवीय नैतिक जीवन के लिये परमावश्यक तत्त्व है, इसी के द्वारा मनुष्य परहित चिंतन कर सकता है। आज जिसे हम धार्मिक कहते हैं वे उसे विवेकी कहते थे। जो ज्ञानी है, वह नैतिक भी है।

नीतिवादी आचार्यों की तीन श्रेणियां मानी गई हैं।[2]—(१) जो काव्य में रूढ़ अर्थ में सदाचार अर्थात् धर्माधर्म पर आश्रित नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हैं, जैसे रस्किन के शब्दों में 'किसी राष्ट्र की कला उसकी नैतिक स्थिति की द्योतक है।' (२) जो मानव के सुख-दुख, शक्ति और दुर्बलता पर आश्रित करुणामूलक मानवीय मूल्यों को ग्रहण करते हैं, जैसे टाल्सटाय के शब्दों में—'यह (कला) आनंद नहीं है वरन् मानव-एकता का साधन है, जो मानव-मानव को सह-अनुभूति के द्वारा परस्पर सम्बद्ध करती है।' (३) जो मानव-समाज के भौतिक उत्कर्ष के साधक सामाजिक मूल्यों को प्रमाण मानते हैं—इस वर्ग में काडवेल आदि प्रगतिशील आचार्य आते हैं।

जहां तक प्लेटो का प्रश्न है, वे प्रथम श्रेणी में आते हैं। उस समय शिव तत्त्व ही सर्वप्रमुख समझा जाता था। होमर के सम्बंध में प्लेटो के विचार इसी निकष पर रखे गये हैं—'यदि होमर मनुष्यों को शिक्षा देने और उनका सुधार करने में समर्थ होता, यदि वह केवल अनुकरण में ही नहीं, वरन् उन विषयों के परिज्ञान में सफल होता, तो क्या उसके अनेक

१ प्लेटो के काव्य-सिद्धांत—डॉ० निर्मला जैन, पृ० ८८
२ अरस्तू का काव्यशास्त्र—डॉ० नगेंद्र, पृ० ५०

अनुयायी न होते, जो उससे प्रेम करते और उसका आदर करते।' इस प्रकार प्लेटो ने ही सर्वप्रथम नैतिकता और आध्यात्मिकता को अक्षुण्ण महत्व दिया।

अरस्तू—प्लेटो जहां से छोड़ते हैं अरस्तू वहीं से प्रारम्भ करते हैं—दोनों के मिलन-बिन्दु एक ही हैं। अरस्तू ने बताया कि 'काव्य का सत्य भव्यतर होता है एवं शिव-पक्ष भी उसमें उपेक्षित नहीं रहता।' प्लेटो ने जहां मात्र नीति को काव्य का निकष माना है, वहां अरस्तू ने कलागत आनन्द को काव्य का सर्वोपरि प्रयोजन मानते हुए भी, उसी रचना को श्रेष्ठ माना है, जो नैतिक भावना का परितोष करे।

नैतिक-भावना का परितोष ही अच्छे काव्य के लिए पर्याप्त नहीं है। अरस्तू के शब्दों में—"किसी अत्यंत खल पात्र का पतन दिखाना भी संगत नहीं है—इस प्रकार के कथानक से नैतिक-भावना का परितोष तो अवश्य होगा, परन्तु करुणा या त्रास का उद्‌बोध नहीं हो सकेगा।" नैतिक त्रासदी के लिए अरस्तू ने अलग विभाजन किया है—उसमें प्रेरक-हेतु नैतिक होता है। नैतिक भावना परोक्ष रूप से विद्यमान रहती है—'उसमें किसी दुष्ट पात्र के विपत्ति से सम्पत्ति में उत्कर्ष का चित्रण भी नहीं रहना चाहिए—इससे न तो नैतिक भावना का परितोष होता है, न करुणा और त्रास की उद्‌बुद्धि ही।' सबसे अच्छी स्थिति तो वह है जहां नैतिकता और कलाजन्य आनन्द का सामंजस्य हो—त्रासदी की सफलता इसमें है कि वह ऐसा कारुणिक प्रभाव उत्पन्न करे जो नैतिक भावना का परितोष भी कर सके। कामदी को हीन इसलिए बनाया गया, क्योंकि उसमें अपेक्षाकृत सामान्य व आदर्शहीन पात्रों की अवतारणा होती है।

अरस्तू ने काव्य को आदर्श-ज्ञान युक्त बताया है और इतिहास का सम्बंध तथ्यात्मक ज्ञान से। इतिहास और काव्य में यह अन्तर है कि 'एक तो उसका वर्णन करता है, जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका जो घटित हो सकता है। परिणामतः काव्य में दर्शन-तत्त्व अधिक होता है, उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है क्योंकि काव्य सामान्य (सार्वभौम) की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की।' कलाकार को केवल यथार्थ की अभिव्यक्ति नहीं करनी चाहिए—जैसी वे थीं या हैं, जैसी वे कही या समझी जाती हैं, के अतिरिक्त कलाकार उन वस्तुओं का भी वर्णन करे जैसी वे होनी चाहिए। इसकी व्याख्या करते हुए बुचर ने कला के आदर्

तत्त्व की ओर संकेत किया है—'काव्य शास्त्र की विचारधारा और प्रयोजन से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि काव्य इंद्रिय-ग्राह्य तथ्य की अनुभूति मात्र नहीं है—कविता जिस संभावना जगत् की सृष्टि करती है वह अनुभूति जगत् से अधिक बोधगम्य होता है।' कवि शाश्वत सत्यों को अपनी कृतियों में प्रस्तुत करता है किन्तु युक्तिहीनता के उन तत्त्वों से अलग रहता है जो वास्तविक घटनाओं और मानव आचार के ज्ञान में हमारे मार्ग में बाधक होते हैं—प्रकृति की विशेषताओं और नियमों की, उसे अवज्ञा नहीं करनी चाहिए।[1] बुचर का कथन है कि कविता अपनी उच्चतर विषय-वस्तु के कारण और अवयवों में आंगिक ऐक्य होने के कारण ऐसी आदर्श अन्विति पा लेती है, जो इतिहास के तथ्यों में नहीं मिलती।

मध्ययुगीन यूरोपीय साहित्य ईसाईमत से प्रभावित होकर त्याग, तपस्या व संयम की शिक्षा देने लगा। उसमें आदर्श और शिक्षा की भावना इतनी प्रचुर मात्रा में मिलती है कि वह सामान्य मानवीय व्यवहारों से हट सा गया है और केवल धर्म ग्रंथ के रूप में ही उसके अवशेष रह गये हैं। इसमें मानवीय आदर्शों की सीमा अत्यंत संकुचित हो गयी और निवृत्ति के घेरे में घिर गयी। 'जीवन की व्यापक प्रवृत्तियों और व्यवहारों के आधार पर आदर्शों का निर्माण नहीं हो रहा था केवल ख्रीष्ट की शिक्षा ही एक मात्र आदर्श थी। इस आदर्शवाद को हम ईसाई आदर्शवाद कह सकते हैं।'[2] इस साहित्य की भाषा भी अत्यंत क्लिष्ट व जन-सामान्य से कोसों दूर थी। स्वच्छंदतावाद ने इस अकृत्रिमता के प्रति विद्रोह किया।

वर्डस्वर्थ—'लिरिकल बैलेड्स' पढ़ने के बाद मार्क रूथरफोर्ड ने लिखा कि—"उसका असली ईश्वर, चर्च का ईश्वर नहीं है, पहाड़ियों का ईश्वर है...पूजा के लिए वह वस्तु, जो एकदम कृत्रिम, दूरंत, और मेरे सम्पर्क में कभी नहीं आने वाली थी, उसके बजाय अब मेरे पास वह वस्तु थी, जो सत्य थी, जिसमे मैं अक्षरशः रह व जी सकता था।" ईश्वर को पुस्तकों के क्षितिज से लाकर उन मेघ-छायाओं में प्रतिष्ठित किया गया जो प्रत्येक घाटी में घूमती रहती है। लेखक का कथन है कि वर्डस्वर्थ ने अनजाने में मेरे लिए वह काम किया जो आध्यात्मिक सुधारक ही कर सकता

---

१ पाश्चात्य काव्य शास्त्र : सिद्धांत और वाद—श्री कोहली, पृ० ७९
२ आधुनिक साहित्य—आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, पृ० ४२१

था। उसने पुरानी मूर्ति में मानो प्राण-प्रतिष्ठा की।[1]

वर्डस्वर्थ की आध्यात्मिक शक्ति-प्रकृति ही है। प्रकृति ही उनका धर्म है। ईश्वर ने मानव और प्रकृति का निर्माण ही परस्पर विकास करने हेतु किया है। कविता मानव और प्रकृति का त्रिम्त्र है।

प्लेटो ने बालक के सम्बंध में कहा था कि वह ईश्वर के यहां सीख कर आता है, वर्डस्वर्थ ने कहा कि बच्चा ईश्वर के निकट है और मनुष्य से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। प्रकृति स्वयं ही बालक का निरीक्षण करती है। ईश्वर, प्रकृति व मानव के प्रति अटूट आस्था ही वर्डस्वर्थ के जीवन का सम्बल रही है।[2]

कॉलरिज ने भौतिक-प्रगति की चर्चा करते हुए कहा—'प्रकृति की चेतना व जीवन के साथ संबंधों को खोकर हमने कतिपय वैभवपूर्ण आविष्कारों को खरीद लिया है।[3]

कॉलरिज का मत है कि काव्य में कल्पना और नीति-शास्त्र व धर्म में विवेक की आवश्यकता पड़ती है। आज का मानव-मस्तिष्क यांत्रिक दर्शन से दूषित हो गया है। आस्था, स्वतंत्रता, गौरव के स्थान पर अनैतिकता व धन-लिप्सा को बढ़ावा मिला है। दार्शनिक कविताएं ही विश्व को जीने का ढंग सिखा सकती हैं। यांत्रिक-दर्शन तो मृत्यु की ओर ले जाता है और सत्य पर आवरण डाल देता है। आज मानव-मस्तिष्क में जीवन के प्रति आस्था लाने के लिए क्रांति की आवश्यकता है। प्लेटो की भांति कॉलरिज का अभिमत भी यही है कि पूर्ण सत्य की रक्षा प्रत्येक दृष्टि से होनी चाहिए। ईश्वर का अस्तित्व, इच्छा शक्ति की स्वतंत्रता में आत्मा की स्वच्छंद स्थिति—इन सत्यों के जाने बिना हमारा नैतिक जीवन अर्थहीन हो जाता है, यह काम बुद्धि का नहीं, चेतना का है।

वान ह्यूगेल ने कहा था कि सभी धर्मों के लिए अति मानवता आवश्यक है। कॉलरिज ने इस तत्त्व की ओर अपनी शती के लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। उनके अनुसार पूर्ण अंतर्दृष्टि के लिए मस्तिष्क और मन का पूर्ण सामंजस्य अवश्यम्भावी है। धर्म ही सबसे अधिक दार्शनिक वृत्ति है।

---

1 Nineteenth Century Studies—Basil Willey, 118
2 Early 19th Century English Poetry—Dr. Kapoor, p. 128-9
3 Nineteenth Century Studies—Basil Willey, p. 28

मस्तिष्क व मन के सामंजस्य के लिए आस्था की आवश्यकता पड़ती है, जिसके बिना प्रकाश नहीं मिल सकता।

नैतिकता का संबंध हमारे बाह्य-कार्यकलापों से नहीं है, अपितु हमारी आन्तरिक वृत्तियों से है।[1] हमारे कार्यकलाप आस्था से परिचालित होने चाहिए न कि आत्म-प्रेम या स्वार्थ के द्वारा। प्रकाश व ऊर्जा, मस्तिष्क व हृदय—इनके सम्मिलन से ही हम धर्म व नीति के राज्य में प्रवेश पा सकते हैं। रहस्यानुभूति—धर्म, दर्शन व काव्यादर्श को जीवित रखती है। डी० एच० लारेंस के लिए रहस्यानुभूति प्राण-तत्त्व है, क्योंकि ज्ञान ने सूर्य की हत्या कर दी है उसे बिन्दुओं युक्त गैस की गेंद बना दिया है, ज्ञान ने चंद्रमा को मार दिया है, उसके लिए वह चेचक से भरी मृत धरती के समान है। मशीन ने धरती को समाप्त कर दिया है—यदि पुरानी दिव्य शक्तियों को पहचानना है तो धार्मिक व काव्यात्मक ढंग से ही संभव होगा। वैज्ञानिक विधि तो किसी वस्तु को विभाजित करती है और धार्मिक तथा काव्यात्मक विधि उसे अखड रूप में देखती है।[2]

शेली की स्थापना है कि 'कविता जीवन का प्रतिविम्ब है ऐसा प्रतिविम्ब जिसमें जीवन अपने शाश्वत सत्य के रूप में अभिव्यक्त हो।' उनके अनुसार—संसार में जो श्रेष्ठतम और सुन्दरतम है, कविता उसे अमर कर देती है, जीवन-चक्र के बीच में जो अदृश्य छवियां आ जाती हैं, उन्हें वह पकड़ लेती है। वह मानवात्मा द्वारा अनुभूत दिव्य-संस्पर्शों को क्षय से बचाने का कार्य भी करती है।

आदर्शवादी काव्य के उद्देश्य पर विचार करते हुए शेली कहते हैं—"कविता प्रत्येक वस्तु को रुचिरता प्रदान करती है। जो परम सुन्दर है उसके सौंदर्य की वह अभिवृद्धि करती है और जो अत्यंत कुरूप है, उसमें सौंदर्य का समावेश करती है।"[3] वस्तुतः विरोधी तत्त्वों के समन्वय का महत्त्वपूर्ण कार्य कविता ही करती है। मृत्यु के प्रपात से निकलकर जीवन के माध्यम से प्रवाहित होने वाले विषैले जल को कविता ही रहस्यमय रसायन-

---

1 'Morality is thus, concerned with our inward impulses, not with outward acts'—19th Century Studies, p. 37
2 Nineteenth Century Studies—Basil Willey, p. 28
३ पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की भूमिका—सं० सावित्री सिन्हा, पृ० १६८

प्रक्रिया से पेय स्वर्ण में बदल देती है। वह विश्व के अनावृत व सुषुप्त सौंदर्य का उद्घाटन करती है।

रस्किन ने 'मॉडर्न पेंटर्स' में लिखा : कला कोई मनोरंजन का साधन नहीं है, न ही इसे खाली क्षणों में सीखा जा सकता है। यह ड्राइंग रूम की मेज के लिए दस्तकारी नहीं है। इसे या तो गंभीरता से समझा और ग्रहण किया जाय अथवा बिल्कुल नहीं। रस्किन, प्रकृति के उपकरणों में ईश्वरीय सत्ता का आभास पाते हैं। सौंदर्य का सम्बंध हृदय से है, बुद्धि या रोमांच से नहीं। कोई दिव्य-शक्ति ही कलाकार के मानसिक प्रभावों को सुन्दर कलाकृतियों में ढालती है। सौंदर्य नैतिकता का एक अंग है। पापी व्यक्ति उत्तम कलाकृति का निर्माण नहीं कर सकता। रस्किन का विचार है कि उच्च गुणों के आधार पर ही साहित्य की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। उनका विचार है कि न केवल मूर्ति-कला अपितु समस्त ललित कलाएं जन-साधारण के लिए होनी चाहिए। वे लोगों को समर्पित होनी चाहिए, वही उनका मुख्य प्रयोजन है। नाटक और मूर्तिकला का उद्देश्य, गौरवमय इतिहास और मानव जीवन के लिए हितकारी तत्त्वों की शिक्षा देना है। वे महान गुरु ( ईश्वर ) की आज्ञा के अनुसार चलें।

कारलाइल का मत है कि किसी मनुष्य का धर्म उसके लिए महत्त्वपूर्ण सत्य है। ईश्वर और मनुष्य, अतिप्राकृतिक-प्राकृतिक, चेतना द्रव्य, पवित्र-अपवित्र सभी की चर्चा धर्म के अन्तर्गत होती रहती है। ईश्वर निराकार, अनन्त व आवश्यक है। वही प्रमुख ज्ञान का गुण है और सारे अस्तित्व का रहस्यपूर्ण निर्वैयक्तिक आधार है। कारलाइल की दृष्टि में आधुनिक समाज रुग्ण है, प्रत्येक आत्मा रुग्ण है। अतः आध्यात्मिक शुद्धता ही समाज व संस्थाओं के वाह्यावरणों को बदल सकती है।[1]

जार्ज इलियट—इनके अनुसार कला का कार्य नैतिक मूल्यों का विकास करना है, मानव मानव के प्रति सहानुभूति की भावना जगाना है। केवल परामर्श देने से काम नहीं चलता, हम दूसरों के सुख-दुखों की कल्पना व अनुभूति कर उनके लिये कुछ कर सकने में समर्थ हों, तो ठीक है।

अपने पात्रों के सम्बंध में इलियट कहती है कि मैंने उनकी रचना

1 A History of English Literature
—Legouis & Cazamian, p. 1126

मानवोचित गुणों -- सहनशीलता, निर्णय, करुणा व सहानुभूति के प्रकाशन हेतु की है । जिस कार्य के लिये आत्मा गवाही न दे, उसे करना व्यर्थ है और जिसके लिये आत्मा, हृदय, मस्तिष्क स्वीकृति दें, चाहे वह काम कितना ही तुच्छ क्यों न हो, अवश्य करना चाहिये । व्यक्ति तो किसी महान् कार्य को करने के लिये निमित्त मात्र होता है ।[1]

जार्ज इलियट की यही धारणा है कि उन के उपन्यासों में मानव-जीवन का प्रतिनिधित्व हुआ है । मानव-मानव का सौहार्द्र व ईश्वर सम्बंधी विचार, जो उच्च कोटि का आध्यात्मिक प्रभाव डालते हैं—इन सब की अभिव्यक्ति उन में हुई है । करुणा और पवित्रता ही नैतिक जीवन के निकष हैं ।

कामटे मानते हैं कि सच्चे धर्म में जब नैतिकता का प्रश्न उठता है तो संवेदना प्रथम स्थान ग्रहण करती है । इसीलिये तो प्रेम-तत्त्व सार्वभौमिक सिद्धांत है ।

मैथ्यू आर्नल्ड—'कविता मूलत: जीवन की आलोचना है । कवि की महानता इस बात में निहित है कि वह जीवन में विचारों की शक्तिशाली व सुंदर अभिव्यक्ति करता है···नैतिक विचारों के प्रति उदासीन रहने वाली कविता, जीवन के प्रति उदासीन रहने वाली कविता है ।' इस प्रकार काव्य और नैतिकता का शाश्वत सम्बंध है । मनुष्य जाति को अधिकाधिक पता लगेगा कि जीवन का पुनराख्यान करने के लिए, मानव जाति को आश्वस्त करने के लिए, उसकी रक्षा के लिए, हमें कविता का आश्रय लेना पड़ेगा । बिना कविता के हमारा विज्ञान अपूर्ण प्रतीत होगा, आज हम जिसे धर्म और दर्शन कहते हैं, उसका स्थान निकट भविष्य में कविता ही लेगी ।

जिन कवियों ने नीति का समर्थन नहीं किया, उनकी भर्त्सना की गई है । कॉलरिज तो 'अफीम के कुहरे' में खो गया है, शेली एक सुन्दर किंतु प्रभावहीन देवदूत है, जो व्यर्थ ही शून्य में अपने चमकीले पंख फड़फड़ाता है, बायरन व कीट्स में नैतिकता का अभाव है ।

नीति के अन्तर्गत आर्नल्ड ने 'जीने का ढंग' जैसी समस्या को उठाया है । महान् जीवन जीने के लिये व सिखाने के लिये कवि को चाहिये कि वह उदात्त और भव्य विचारों को प्रस्तुत करे । नैतिकता रूढ़ या सीमा में

---

1 Nineteenth Century Studies—Basil Willey, p. 240

आबद्ध नहीं है। परिवर्तित मानव-जीवन नैतिकता के अन्तर्गत आता है। कलात्मक साज-सज्जा काव्य का लक्ष्य नहीं है, वह तो साधन है, नैतिक विचारों की अभिव्यक्ति का। कलात्मक साज-सज्जा तो धर्मशाला के समान है, जो हमें थोड़ी देर तक विश्राम करा सकती है, शांति दे सकती है, पर हमारी मंजिल है हमारा घर, वहीं हमें शांति, आनंद व आत्म-संतोष उपलब्ध हो सकता है।

नैतिकता को अशुद्ध व संकीर्ण अर्थ में लिया जाता है और ऐसे विश्वासों के साथ उसे जोड़ा जाता है, जिन का समय चुक गया है। उन्हें ऐसी कविता में आनंद आने लगता है, जो उमर ख्याम के इन शब्दों को सिद्धांत-वाक्य बनाकर चलती है: 'जो समय हमने मस्जिद में नष्ट किया है, उसकी क्षति-पूर्ति आओ मदिरालय में चलकर करें। अथवा हमको ऐसी कविता में अभिरुचि हो जाती है जिसमें नैतिक मूल्यों की उपेक्षा रहती है।' इस आत्म-प्रवंचना का सबसे सफल उपचार यह है कि हम उस उदात्त एवं अक्षय अर्थवान् शब्द 'जीवन' पर अपना ध्यान केन्द्रित कर उसकी आत्मा का साक्षात्कार करना सीखें[1] इस प्रकार 'स्थायी आनन्द जीवन के उत्कर्षक मूल्यों के द्वारा ही सम्भव है।'

धर्म के सम्बन्ध में आर्नल्ड का मत है कि इसमें भौतिकवादी तत्त्व प्रवेश कर गये हैं, भावना का स्थान तथ्यों ने ले लिया है, किन्तु कविता के लिये विचार ही सब कुछ है और शेष दिव्य छाया-जगत् है।[2]

इस प्रकार यह विचारधारा अपने सशक्त रूप में आज भी मान्य है।

## आदर्शवाद : सिद्धांत

उपर्युक्त विवेचन से आदर्शवादी विचारधारा के अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं, फिर भी कतिपय सिद्धांतों का विवेचन अपेक्षित है।

कल्पना—आदर्श-रूप के निर्माण के लिए इस तत्त्व की अनिवार्यता समझी गई है। भारतीय मत यही है कि 'हमारा आदर्श, कल्पना-प्रसूत होता है। मनुष्य उच्चतर और उच्चतर से उच्चतम बनने की कामना से साधना के जिन-जिन स्वरूपों का विधान करता है, वे सब आदर्श रूप का

---

१ पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा, सं०—डॉ० सिन्हा,
2 Critical Approaches to Literature—Daiches, p. 130

'कीरति भनित भूति भल, सोई, सुरसरि सम सब कहँ हित होई।'
—तुलसी

इस प्रकार लोकहित की भावना साहित्य के साथ संयुक्त है। आदर्शवाद, समाज और राष्ट्र के लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य कर सकता है, क्योंकि इसमें उदात्त जीवन की कल्पना, परम सत्य का अन्वेषण, औचित्य, सामंजस्य आदि उत्तम गुण पाये जाते हैं। आदर्शवादी कवि को अन्धकार पूर्ण वर्तमान में भी उज्ज्वल भविष्य की झाँकी मिलती है। गुलाब के नुकीले काँटों में भी उसे सुगन्वित पुष्पों की सुगन्ध आती है। वह संसार में सत्य, नीति, न्याय की ही विजय देखना चाहता है।[1]

कला में नैतिकता का आग्रह इसलिए भी होता है कि कलात्मक सृजन से मानव जाति अपने उद्धार का मार्ग प्रशस्त करे। मानव प्रारम्भ से ही धर्म और नैतिकता में आस्था रखता आया है। नैतिकता विवेक की सृष्टि करती है और कर्तव्य-भावना का उद्‌बोधन भी करती है तभी उसमें पूर्णता आती है। महाकाव्यों के नायक, इसीलिए कर्तव्य-परायण, संयमी, दृढ़चित्त व विवेकशील प्राणी के रूप में चित्रित किए जाते हैं।[2]

जीवन उतना मधुर और सुन्दर नहीं है, जितना हम सोचते हैं, पर प्रत्येक व्यक्ति की हार्दिक इच्छा यह अवश्य रहती है कि वह अपने जीवन को ही नहीं, सब के जीवन को मधुरतम व सुन्दरतम रूप में देखे। ऐसा स्वप्नद्रष्टा कवि आदर्शवादी होता है। वर्तमान में जो जीवनधारा वह रही है वह भी अतीत का स्वप्न है और आज जो स्वप्न है वह कल भविष्य भी। इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक तथ्य यह है कि प्रत्येक वस्तु, जो जीवन के निरन्तर सम्पर्क में आती रहती है—उसका आकर्षण समाप्त हो जाता है और जीवन में एकरूपता सी आ जाती है। 'परिवर्तन ही जीवन है स्थिरता मृत्यु है' प्रसादजी के ये शब्द आदर्शवादी लेखक के के शब्द है 'और जब हम ऐसा सत्-आचरण करने लगते हैं जो सर्वजन सुलभ नहीं होता तब हम उसे आदर्श कहने लगते हैं' ऐसा दृष्टिकोण भारतीय है।

---

[1] हिन्दी-साहित्य और विभिन्नवाद—श्री वधौतिया, पृ० २८३

[2] चिन्तन के क्षण—डा० विजयेंद्र स्नातक, पृ० ११

पाश्चात्य जगत् में आदर्श की लगभग यही रूपरेखा है। कवि को सब कालों और स्थितियों के मनुष्यों की रीति-नीतियों से परिचित होना चाहिये, इसलिये नहीं कि पाठकों के सम्मुख यह विविधता प्रस्तुत करने का उसका कर्त्तव्य है कि किन विविध रूपों में मनुष्य रहे और व्यवहार करते रहे अपितु इसलिये कि वह सतही विभिन्नताओं को न देखकर, इनमें निहित सामान्य मानवता का अन्वेषण कर सकें।[1]

एडिसन का कथन है कि 'प्रकृत वस्तु में जो पूर्णता पाई जाती है, मनुष्य उससे अधिक पूर्णता देखने का अभिलाषी होता है……मन वैसी वस्तु की कल्पना कर सकता है, जो अधिक दिव्य, विचित्र और सुन्दर हो।' नैतिकता, जीवन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है और कलाओं का मूल तन्तु है, जीवन ही इसका वर्ण्य-विषय है, इसलिए इसका महत्व भुठलाया नहीं जा सकता।[2]

कला केवल रूप-आकार नहीं है, वह चेतना की अभिव्यंजना है। श्री अरविंद के अनुसार, कला में सौंदर्यमूलक मूल्यों के अतिरिक्त जीवन-मूल्य, मन-मूल्य, और आत्मा-मूल्य भी हैं, जो कला में प्रवेश करते हैं। वे कहते हैं कि 'कला कला के लिए' के साथ साथ 'कला आत्मा के लिए' का नारा भी लगाना चाहिए और इनकी अभिव्यक्ति सौंदर्य के माध्यम से हो। सत्य, शिव और सुन्दर के भावों से युक्त साहित्य ही आत्मा के लिए महत्वपूर्ण प्रमाणित हो सकता है और इसी में नैतिक व आध्यात्मिक-शक्ति की प्रचुरता भी मिल सकती है।[3]

इस प्रकार आदर्शवाद नीति, धर्म व आध्यात्म सम्बन्धी उच्च

---

[1] The poet must know the manners and customs of men of all times and conditions so that he is not taken in by surface differences and is able to penetrate to the common humanity underlying these.

—Critical Approaches to Literature, David Daiches, p. 83

[2] The Making of Literature—Scott James, p. 290.

[3] The Adventures of Criticism—Dr. Iyengar, p. 654.

मूल्यों की प्रतिष्ठा साहित्य में करता है। कलाकृति एवं कलाकार की आदर्शवादिता निम्नलिखित रूपों में सम्भव है:—

(१) 'कला एवं नीति सम्बन्धी मूल्यों को अवैयक्तिक और उनका पालन अनिवार्य मानने में।

(२) मानव-आत्मा के रहस्यों का सन्धान करने की प्रवृत्ति में।

(३) मानव की प्रकृत प्रवृत्तियों के नहीं, वरन् उसकी आदर्श भव्यता और गुण के चित्रण करने की प्रवृत्ति में।

(४) केवल विश्वास के आधार पर मानव-भविष्य की उज्ज्वल सम्भावनाओं के प्रति आस्था में।'[1] □

---

[1] मानविकी पारिभाषिक कोश—साहित्य खण्ड—पृ० १३९

# ६ | अभिव्यंजनावाद

"चित्रकार हाथ से नहीं, मस्तिष्क से चित्र बनाता है।"

—माइकेल एंजलो

"प्रतिभावान व्यक्तियों का मन बाह्य-चेष्टाओं के अभाव के समय में ही आविष्कार तथा सृजन में सबसे अधिक क्रियाशील होता है।"

—लेनोर्डो

"प्रत्येक सच्ची सहजानुभूति अपने-आप में एक अभिव्यंजना भी होती है।"

—क्रोचे

*   *   *

अभिव्यंजनावाद मूलतः बीसवीं शती के इतालवी दार्शनिक और सौंदर्यशास्त्री बेनेडितो क्रोचे द्वारा प्रतिपादित एक महत्वपूर्ण कला-सिद्धान्त है।

## सौंदर्यशास्त्र : पृष्ठभूमि

भारतीय रस-सिद्धांत की भांति 'एस्थेटिक्स' या सौंदर्यशास्त्र, पाश्चात्य-चिंतन का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है। आधुनिक अर्थ में इसका श्रीगणेश बाउमगार्टन (१७१४–६२) से माना जाता है, किंतु विचार-सूत्र बहुत पहले से मिलते हैं।

प्लेटो ने काव्य की महत्ता को नकारते हुए भी उसकी निसर्गता व प्रभविष्णुता को स्वीकार किया। सुकरात ने पहले ही कह दिया था कि 'अदृश्य का भी अनुकरण हो सकता है', इसलिए प्लेटो ने कलाकृति की प्रातिबिम्बिक सत्ता को माना, क्योंकि प्रकृति ईश्वर की कृति है। प्लेटो की धारणा थी कि आनन्द, सौंदर्य से उद्‌भूत होता है। उसमें इन्द्रियजन्य अशुद्ध सुखों के समान स्वार्थमूलक प्रयोजन नहीं रहते।

अरस्तू को सौंदर्य शास्त्र का आद्याचार्य भी कहा जाता है। उन्होंने सौंदर्य के अन्तर्गत शिव, सुन्दर और सुखद, सभी का समावेश किया। प्लेटो और अरस्तू के सिद्धान्तों पर हम अलग विचार कर रहे हैं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ग्रीक लोगों के अनुसार कलाकृति और प्रकृति में कोई अन्तर नहीं है, जिस प्रकार प्रकृति का निरीक्षण ऐन्द्रियजन्य होता है, उसी प्रकार कलाकृति का भोग भी। इस समानता के कारण तीन सिद्धान्त स्थिर किये गये—आध्यात्मिक होने के कारण कलाकृति प्रकृति की अपूर्ण अनुकृति है; नीतिशास्त्र के विचार से प्रकृति जगत् के मान ही कलात्मक जगत् के प्रतिमान हो सकते हैं और अनुकरण अथवा अभिव्यंजना में ही सौंदर्य है, क्योंकि कलागत अनुकार्य, प्राकृतिक कार्य से भिन्न नहीं है।[1] क्रिसिथस ने स्पष्ट कहा था कि—'केवल विश्व-पूर्ण है और मानव अपूर्ण, अतएव मानव अपने को पूर्ण बनाने के लिए विश्व-प्रकृति का चिन्तन तथा अनुकरण करता है।' आगे प्लूटार्क ने बताया कि कुरूपता की प्रतिकृति कभी सुन्दर नहीं हो सकती। कलाकृति केवल प्रकृति की अनुकृति है अतः यदि कुरूपता का सौंदर्यपूर्ण चित्रण हुआ तो वह सच्ची कलाकृति नहीं होगी! सौंदर्य और उसका अनुकरण दो भिन्न वस्तुयें हैं। हमें चित्रण के द्वारा सुख इसलिए प्राप्त होता है क्योंकि समानता लाने के लिए बुद्धि का कौशल दिखाना पड़ता है।[2]

क्राइसोस्टॉम ने काव्य व अन्य कलाओं में अन्तर स्पष्ट किया, पर प्लाटिनस ने तो कला की प्रातिबिम्बिक व अनुकृत सत्ता ही नहीं मानी। उनके अनुसार प्रकृति दिव्य विचारों की जड़ अभिव्यंजना है। कलाकृति कोरा अनुकरण नहीं उसमें अदृश्य विचारों का भी समावेश है उसमें केवल नैतिक बन्धन ही नहीं हैं। प्लाटिनस ने सुन्दर वस्तुओं के विभिन्न अवयवों में ही सौंदर्य (सिमिट्री) न मानकर विचारों और भावों में सौंदर्य की सत्ता स्वीकार कर 'नव्य-प्लेटोवाद' को जन्म दिया।

एक्वीनस जैसे ईसाई दार्शनिकों ने प्रत्ययों की अपेक्षा ईश्वर में सौंदर्य की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार सौंदर्य, ईश्वरीय अभिव्यंजना व उपयोगी-ज्ञान के समकक्ष हो गया। एक्वीनस ने आनन्द को सुन्दर की कसौटी बनाकर उसे व्यक्तिपरक बना दिया।

---

[1] वक्रोक्ति और अभिव्यंजना—श्री रामनरेश वर्मा, पृ० ११२

[2] A History of Aesthetic—Bernard Bosanquet, p. 107.

पुनर्जागरण के बाद बुद्धिवादी विचारधारा ने सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धान्तों पर भी प्रभाव डाला। देकार्त के अनुसार कलात्मक आनन्द, संवेग-युक्त बौद्धिक आनन्द है। निपट बौद्धिक आनन्द, चेतना की स्वतः संभूति क्रिया है और कलात्मक आनन्द चेतना का वह कार्य-व्यापार है, जो कल्पना-प्रसूत काव्य-नाटक के प्रभाव से उत्पन्न होता है।[1]

बोइलो और लाइबनित्स ने इन्हीं विचारों का विकास किया। बोइलो ने शिल्पगत प्रसाधनों के चयन पर बल दिया, तो लाइबनित्स ने अनुभूति, कलात्मक अनुभूति का बौद्धिक ग्रहण, प्रातिभ अन्तर्दृष्टि और सौन्दर्यानुभूति का सार्वभौम सामंजस्य-कलात्मक आनन्द के ये चार सोपान माने हैं।

आंग्ल सौंदर्य शास्त्रियों में लॉक, हाब्स, ह्यूम, एडिसन, बर्क आदि प्रमुख हैं। लॉक के अनुसार सौंदर्य, रंगों और आकारों का ऐसा संयोजन है जिससे सुख की अनुभूति होती है। सौंदर्य, कल्पना की सृष्टि है, इसलिए वह 'जटिल प्रत्यय' और 'अवास्तविक' है। एडिसन ने 'प्लेजर्स ऑफ इमिजिनेशन' में इसी प्रश्न को उठाते हुए कल्पनाजन्य अनुभूति के विषय में सौंदर्य की चर्चा की। बर्क ने सौंदर्य के अन्तर्गत 'अभिरुचि' का महत्व प्रतिपादित किया।

जर्मन-सौन्दर्यशास्त्र में बाउमगार्टन, लेसिंग, कांट, श्लेगेल, गेटे, शिलर, हेगल इत्यादि अनेक महत्वपूर्ण प्रतिभाएँ मिलती हैं। बाउम गार्टन ने 'ऐन्द्रियज्ञान' के रूप में सौन्दर्य की महत्ता प्रतिपादित की और 'सौन्दर्यशास्त्र' विषय का नामकरण किया। लेसिंग ने 'लाओकून' के माध्यम से बताया कि त्रिपादयुक्त सौन्दर्यमयी अभिव्यंजना ही कला है और काव्य, आत्म-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है। कांट ने हृदय और बुद्धि का संतुलन करते हुए सौन्दर्यशास्त्र को नये आयाम दिये। उनके अनुसार शुद्ध सौन्दर्य रूपात्मक होता है और आनुषंगिक सौन्दर्य में अर्थ होता है। उदात्त भावना इसको नैतिक गरिमा प्राप्त कराती है। इस प्रकार उन्होंने ज्ञान, ऐन्द्रिय-सुख और नैतिक परितोष से सौन्दर्य-चेतना का महत्त्व पृथक रूप से प्रतिष्ठित किया। उनकी दृष्टि में सौंदर्य निष्प्रयोजन होते हुए भी पूर्ण है और वह सार्वभौमिक सुख की वस्तु

[1] रस-सिद्धान्त और सौंदर्य शास्त्र—डॉ० निर्मला जैन, पृ० ५२

है।[1] हेगल ने प्रमेय या धारणा के दो रूप माने—वाद (थीसिस) और प्रतिवाद (ऐन्टीथीसिस), जिनका समन्वय संवाद (सिन्थीसिस) में होता है, यह क्रम चलता रहता है, जब तक कि इनसे क्रमशः कला, धर्म और दर्शन का रूप नहीं मिल जाता। प्रत्यय के दो रूप–सौन्दर्य और सत्य माने गए हैं। हेगल ने कला को धर्म और दर्शन से हीन बताया।

इटली के वीसो ने कल्पना की निर्माणात्मक शक्ति को महत्व देते हुए बताया कि कला, जितनी अधिक विशेष के समीप जायेगी उतनी ही उज्ज्वल और स्वरूपवती होगी। उनके शब्दों में—'अन्वीक्षण के पहले अनुभूति है, उसके बाद स्पंदित आत्मा द्वारा अन्वीक्षण और इसके अनन्तर शुद्ध तर्क के द्वारा मनन।'

फ्रांसेस्को द सांक्तिस ने कहा—'कला, विचार और प्रज्ञा की वस्तु नहीं है, न वह कौशल का ही उत्पाद्य है, किन्तु वह विशुद्ध एवं सहज कल्पनात्मक रूप है।'

प्रत्ययवादी तथा अनुभववादी–विचारधाराओं से भिन्न, किन्तु इनकी सामग्री का उपयोग करते हुए भी क्रोचे ने कलावादी–विचारधारा को अपने अभिव्यंजनावाद के द्वारा नया रंग रूप दिया। उन्होंने कहा 'सौन्दर्य-शास्त्र केवल एक है, वह सहजानुभूत अथवा अभिव्यंजनात्मक ज्ञान का (जो सौन्दर्यात्मक अथवा कलात्मक तथ्य है) शास्त्र है।'[2]

## अभिव्यंजना : अर्थ और परिभाषाएँ

'एक्सप्रेशन' या 'व्यक्तीकरण' के विभिन्न अर्थ किये गये हैं। कभी तो इसे प्रकाशन, आविष्करण, निरूपण आदि के अर्थ में, कभी निष्पीड़न (निचोड़ना) व निष्करण (खींचकर निकालना)[3], कभी वचन उक्ति आदि के अर्थ में तो कभी रीति, पद्धति आदि के अर्थ में लिया

---

1 'That is beautiful, which is object of universal pleasure'.—Histry of Aesthetic, p. 265

२ हिन्दी उद्धरण प्रायः 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा' से लिये गये हैं।

३ 'A Poem......is pressed out of the poet forced out of him'—Whalley (उद्धृत, काव्य में अभिव्यंजना—डॉ० सावित्री सिन्हा), काव्य-शास्त्र—डॉ० हजारी प्रसाद, पृ० १६१

जाना है। अन्तिम अर्थ में यह सही है कि 'एक विशिष्ट पद्धति का निर्धारण करके ही अभिव्यंजना का रूप-निर्माण होता है।' इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'अभिव्यंजना व्यक्तीकरण की चेतन प्रक्रिया है।'

सान्तायन के अनुसार, मानव-चेतना, दर्पण की भांति स्वच्छ नहीं है। हम अपने विचारों को पूर्ण रूपेण निश्चित कर ही नहीं पाते, कि वे परिवर्तित हो जाते हैं। अतः अपनी अनुभूतियों को निश्चित वस्तुओं के द्वारा प्राप्त करने का गुण अभिव्यंजना है। यही अभिव्यंजना वस्तुओं में सौंदर्य या उसमें तीव्रता लाती है। उनके अनुसार अभिव्यंजना और द्रव्य में वही अन्तर है, जो स्वभाव और मूल प्रवृत्ति में है। एक में अनुभूति और दूसरे में आन्तरिक अभिरुचि (Innate disposition) की प्रतिक्रिया मिलती है। इस प्रकार अभिव्यंजना में दो बातें होती हैं, प्रथमतः शब्द, बिम्ब, वस्तु का वास्तविक में उपस्थित रहना और फिर विचारों, भावनाओं और बिम्बों को उत्तेजित कर वस्तु को अभिव्यंजित करना। इनका सम्मिलित रूप ही अभिव्यंजना है। यदि पहला रूप हो तो सौंदर्य की अभिव्यक्ति नहीं होती, अभिव्यंजना तो सामग्री और रूप में ही निहित रहती है। मेरे विचार अभिव्यक्ति-विहीन ही रहेंगे, यदि मेरे शब्दों उन्हें आप में उत्थित नहीं करते।[1]

अभिव्यंजना दो बातों के समन्वय पर निर्भर करती है—कल्पना-शक्ति और सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति। इनसे ही अभिव्यंजना या सौंदर्य मूलक मूल्य का सही मूल्यांकन हो सकता है। अभिव्यंजना के तीन तत्त्व है, व्यंग्य (जिसकी अभिव्यक्ति हो) व्यंजक (जो व्यक्त करता है), और अभिकरण या वक्ता (जिस अभिकरण से अभिव्यक्ति हो)। सान्तायन का मत है कि व्यंजक के द्वारा व्यंग्य सांकेतित होता है। भारतीय मत में शब्द और अर्थ को व्यंजक-व्यंग्य रूप में स्वीकार किया गया है।

हराल्ड ऑसबोर्न ने अपने ग्रन्थ 'एस्थेटिक्स एण्ड क्रिटिसिज्म' में अभिव्यंजना शब्द के विभिन्न अर्थ किये हैं। कला को भावों और संवेगों की भाषा या अभिव्यंजना का साधन कहा गया है। कलाकृति उतनी ही सुन्दर मानी जाती है, जितनी वह कलाकार की आन्तरिक अनुभूतियों को महानता और मौलिकता से उजागर करती है। वेरन

---

1 The Sense of Beauty—George Santayana, p. 193-96

'कीरति भनित भूति भल, सोई, सुरसरि सम सब कहँ हित होई।'
—तुलसी

इस प्रकार लोकहित की भावना साहित्य के साथ संयुक्त है। आदर्शवाद, समाज और राष्ट्र के लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य कर सकता है, क्योंकि इसमें उदात्त जीवन की कल्पना, परम सत्य का अन्वेषण, औचित्य, सामंजस्य आदि उत्तम गुण पाये जाते हैं। आदर्शवादी कवि को अन्धकार पूर्ण वर्तमान में भी उज्ज्वल भविष्य की झाँकी मिलती है। गुलाब के नुकीले काँटों में भी उसे सुगन्धित पुष्पों की सुगन्ध आती है। वह संसार में सत्य, नीति, न्याय की ही विजय देखना चाहता है।[1]

कला में नैतिकता का आग्रह इसलिए भी होता है कि कलात्मक सृजन से मानव जाति अपने उद्धार का मार्ग प्रशस्त करे। मानव प्रारम्भ से ही धर्म और नैतिकता में आस्था रखता आया है। नैतिकता विवेक की सृष्टि करती है और कर्तव्य-भावना का उद्‌बोधन भी करती है तभी उसमें पूर्णता आती है। महाकाव्यों के नायक, इसीलिए कर्तव्य-परायण, संयमी, दृढ़चित्त व विवेकशील प्राणी के रूप में चित्रित किए जाते हैं।[2]

जीवन उतना मधुर और सुन्दर नहीं है, जितना हम सोचते हैं, पर प्रत्येक व्यक्ति की हार्दिक इच्छा यह अवश्य रहती है कि वह अपने जीवन को ही नहीं, सब के जीवन को मधुरतम व सुन्दरतम रूप में देखे। ऐसा स्वप्नदृष्टा कवि आदर्शवादी होता है। वर्तमान में जो जीवनधारा वह रही है वह भी अतीत का स्वप्न है और आज जो स्वप्न है वह कल भविष्य भी। इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक तथ्य यह है कि प्रत्येक वस्तु, जो जीवन के निरन्तर सम्पर्क में आती रहती है—उसका आकर्षण समाप्त हो जाता है और जीवन में एकरूपता सी आ जाती है। 'परिवर्तन ही जीवन है स्थिरता मृत्यु है' प्रसादजी के ये शब्द आदर्शवादी लेखक के के शब्द है 'और जब हम ऐसा सत्-आचरण करने लगते हैं जो सर्वजन सुलभ नहीं होता तब हम उसे आदर्श कहने लगते हैं' ऐसा दृष्टिकोण भारतीय है।

---

[1] हिन्दी-साहित्य और विभिन्नवाद—श्री ववौतिया, पृ० २८३

[2] चिन्तन के क्षण—डा० विजयेंद्र स्नातक, पृ० ११

पाश्चात्य जगत् में आदर्श की लगभग यही रूपरेखा है। कवि को सब कालों और स्थितियों के मनुष्यों की रीति-नीतियों से परिचित होना चाहिये, इसलिये नहीं कि पाठकों के सम्मुख यह विविधता प्रस्तुत करने का उसका कर्त्तव्य है कि किन विविध रूपों में मनुष्य रहे और व्यवहार करते रहे अपितु इसलिये कि वह सतही विभिन्नताओं को न देखकर, इनमें निहित सामान्य मानवता का अन्वेषण कर सकें।[1]

एडिसन का कथन है कि 'प्रकृत वस्तु में जो पूर्णता पाई जाती है, मनुष्य उससे अधिक पूर्णता देखने का अभिलाषी होता है······मन वैसी वस्तु की कल्पना कर सकता है, जो अधिक दिव्य, विचित्र और सुन्दर हो।' नैतिकता, जीवन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है और कलाओं का मूल तन्तु है, जीवन ही इसका वर्ण्य-विषय है, इसलिए इसका महत्व झुठलाया नहीं जा सकता।[2]

कला केवल रूप-आकार नहीं है, वह चेतना की अभिव्यंजना है। श्री अरविंद के अनुसार, कला में सौंदर्यमूलक मूल्यों के अतिरिक्त जीवन-मूल्य, मन-मूल्य, और आत्मा-मूल्य भी हैं, जो कला में प्रवेश करते हैं। वे कहते हैं कि 'कला कला के लिए' के साथ साथ 'कला आत्मा के लिए' का नारा भी लगाना चाहिए और इनकी अभिव्यक्ति सौंदर्य के माध्यम से हो। सत्य, शिव और सुन्दर के भावों से युक्त साहित्य ही आत्मा के लिए महत्वपूर्ण प्रमाणित हो सकता है और इसी में नैतिक व आध्यात्मिक-शक्ति की प्रचुरता भी मिल सकती है।[3]

इस प्रकार आदर्शवाद नीति, धर्म व आध्यात्म सम्बन्धी उच्च

---

[1] The poet must know the manners and customs of men of all times and conditions so that he is not taken in by surface differences and is able to penetrate to the common humanity underlying these.

—Critical Approaches to Literature; David Daiches, p. 83

[2] The Making of Literature—Scott James, p. 290.

[3] The Adventures of Criticism—Dr. Iyengar, p. 654.

मूल्यों की प्रतिष्ठा साहित्य में करता है। कलाकृति एवं कलाकार की आदर्शवादिता निम्नलिखित रूपों में सम्भव है:—

(१) 'कला एवं नीति सम्बन्धी मूल्यों को अवैयक्तिक और उनका पालन अनिवार्य मानने में।

(२) मानव-आत्मा के रहस्यों का सन्धान करने की प्रवृत्ति में।

(३) मानव की प्रकृत प्रवृत्तियों के नहीं, वरन् उसकी आदर्श भव्यता और गुण के चित्रण करने की प्रवृत्ति में।

(४) केवल विश्वास के आधार पर मानव-भविष्य की उज्ज्वल सम्भावनाओं के प्रति आस्था में।'[1]

□

# ६

# अभिव्यंजनावाद

"चित्रकार हाथ से नहीं, मस्तिष्क से चित्र वनाता है।"

—माइकेल एंजलो

"प्रतिभावान व्यक्तियों का मन वाह्य-चेष्टाओं के अभाव के समय में ही आविष्कार तथा सृजन में सबसे अधिक क्रियाशील होता है।"

—लेनोर्डो

"प्रत्येक सच्ची सहजानुभूति अपने-आप में एक अभिव्यंजना भी होती है।"

—क्रोचे

*  *  *

अभिव्यंजनावाद मूलतः बीसवीं शती के इतालवी दार्शनिक और सौंदर्यशास्त्री वेनेडितो क्रोचे द्वारा प्रतिपादित एक महत्वपूर्ण कला-सिद्धान्त है।

## सौंदर्यशास्त्र : पृष्ठभूमि

भारतीय रस-सिद्धांत की भांति 'एस्थेटिक्स' या सौंदर्यशास्त्र, पाश्चात्य-चिंतन का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है। आधुनिक अर्थ में इसका श्रीगणेश वाउमगार्टन (१७१४-६२) से माना जाता है, किंतु विचार-सूत्र बहुत पहले से मिलते हैं।

प्लेटो ने काव्य की महत्ता को नकारते हुए भी उसकी निसर्गता व प्रभविष्णुता को स्वीकार किया। सुकरात ने पहले ही कह दिया था कि 'अदृश्य का भी अनुकरण हो सकता है', इसलिए प्लेटो ने कलाकृति की प्रातिबिम्बिक सत्ता को माना, क्योंकि प्रकृति ईश्वर की कृति है। प्लेटो की धारणा थी कि आनन्द, सौंदर्य से उद्भूत होता है। उसमें इन्द्रियजन्य अशुद्ध सुखों के समान स्वार्थमूलक प्रयोजन नहीं रहते।

अरस्तू को सौंदर्य शास्त्र का आद्याचार्य भी कहा जाता है। उन्होंने सौंदर्य के अन्तर्गत शिव, सुन्दर और सुखद, सभी का समावेश किया। प्लेटो और अरस्तू के सिद्धान्तों पर हम अलग विचार कर रहे हैं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ग्रीक लोगों के अनुसार कलाकृति और प्रकृति में कोई अन्तर नहीं है, जिस प्रकार प्रकृति का निरीक्षण ऐन्द्रियजन्य होता है, उसी प्रकार कलाकृति का भोग भी। इस समानता के कारण तीन सिद्धान्त स्थिर किये गये—आध्यात्मिक होने के कारण कलाकृति प्रकृति की अपूर्ण अनुकृति है; नीतिशास्त्र के विचार से प्रकृति जगत् के मान ही कलात्मक जगत् के प्रतिमान हो सकते हैं और अनुकरण अथवा अभिव्यंजना में ही सौंदर्य है, क्योंकि कलागत अनुकार्य, प्राकृतिक कार्य से भिन्न नहीं है।[1] क्रिसिप्पस ने स्पष्ट कहा था कि—'केवल विश्व-पूर्ण है और मानव अपूर्ण, अतएव मानव अपने को पूर्ण बनाने के लिए विश्व-प्रकृति का चिन्तन तथा अनुकरण करता है।' आगे प्लूटार्क ने बताया कि कुरूपता की प्रतिकृति कभी सुन्दर नहीं हो सकती। कलाकृति केवल प्रकृति की अनुकृति है अतः यदि कुरूपता का सौंदर्यपूर्ण चित्रण हुआ तो वह सच्ची कलाकृति नहीं होगी! सौंदर्य और उसका अनुकरण दो भिन्न वस्तुयें हैं। हमें चित्रण के द्वारा सुख इसलिए प्राप्त होता है क्योंकि समानता लाने के लिए बुद्धि का कौशल दिखाना पड़ता है।[2]

क्राइसोस्टॉम ने काव्य व अन्य कलाओं में अन्तर स्पष्ट किया, पर प्लाटिनस ने तो कला की प्रातिबिम्बिक व अनुकृत सत्ता ही नहीं मानी। उनके अनुसार प्रकृति दिव्य विचारों की जड़ अभिव्यंजना है। कलाकृति कोरा अनुकरण नहीं उसमें अदृश्य विचारों का भी समावेश है उसमें केवल नैतिक बन्धन ही नहीं हैं। प्लाटिनस ने सुन्दर वस्तुओं के विभिन्न अवयवों में ही सौंदर्य (सिमिट्री) न मानकर विचारों और भावों में सौंदर्य की सत्ता स्वीकार कर 'नव्य-प्लेटोवाद' को जन्म दिया।

एक्वीनस जैसे ईसाई दार्शनिकों ने प्रत्ययों की अपेक्षा ईश्वर में सौंदर्य की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार सौंदर्य, ईश्वरीय अभिव्यंजना व उपयोगी-ज्ञान के समकक्ष हो गया। एक्वीनस ने आनन्द को सुन्दर की कसौटी बनाकर उसे व्यक्तिपरक बना दिया।

---

[1] वक्रोक्ति और अभिव्यंजना—श्री रामनरेश वर्मा, पृ० ११२

[2] A History of Aesthetic—Bernard Bosanquet, p. 107.

पुनर्जागरण के बाद बुद्धिवादी विचारधारा ने सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धान्तों पर भी प्रभाव डाला। देकार्त के अनुसार कलात्मक आनन्द, संवेग-युक्त बौद्धिक आनन्द है। निपट बौद्धिक आनन्द, चेतना की स्वतः संभूति क्रिया है और कलात्मक आनन्द चेतना का वह कार्य-व्यापार है, जो कल्पना-प्रसूत काव्य-नाटक के प्रभाव से उत्पन्न होता है।[1]

बोइलो और लाइबनित्स ने इन्हीं विचारों का विकास किया। बोइलो ने शिल्पगत प्रसाधनों के चयन पर बल दिया, तो लाइबनित्स ने अनुभूति, कलात्मक अनुभूति का बौद्धिक ग्रहण, प्रातिम अर्न्तदृष्टि और सौन्दर्यानुभूति का सार्वभौम सामंजस्य-कलात्मक आनन्द के ये चार सोपान माने हैं।

आंग्ल सौंदर्य शास्त्रियों में लॉक, हाब्स, ह्यूम, एडिसन, बर्क आदि प्रमुख हैं। लॉक के अनुसार सौंदर्य, रंगों और आकारों का ऐसा संयोजन है जिससे सुख की अनुभूति होती है। सौंदर्य, कल्पना की सृष्टि है, इसलिए वह 'जटिल प्रत्यय' और 'अवास्तविक' है। एडिसन ने 'प्लेजर्स ऑफ इमिजिनेशन' में इसी प्रश्न को उठाते हुए कल्पनाजन्य अनुभूति के विषय में सौंदर्य की चर्चा की। बर्क ने सौंदर्य के अन्तर्गत 'अभिरुचि' का महत्व प्रतिपादित किया।

जर्मन-सौन्दर्यशास्त्र में बाउमगार्टन, लेसिंग, कांट, श्लेगेल, गेटे, शिलर, हेगल इत्यादि अनेक महत्वपूर्ण प्रतिभाएँ मिलती हैं। बाउमगार्टन ने 'ऐन्द्रियज्ञान' के रूप में सौन्दर्य की महत्ता प्रतिपादित की और 'सौन्दर्यशास्त्र' विषय का नामकरण किया। लेसिंग ने 'लाओकून' के माध्यम से बताया कि विषादयुक्त सौन्दर्यमयी अभिव्यंजना ही कला है और काव्य, आत्म-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है। कांट ने हृदय और बुद्धि का संतुलन करते हुए सौन्दर्यशास्त्र को नये आयाम दिये। उनके अनुसार शुद्ध सौन्दर्य रूपात्मक होता है और आनुषंगिक सौन्दर्य में अर्थ होता है। उदात्त भावना इसको नैतिक गरिमा प्राप्त कराती है। इस प्रकार उन्होंने ज्ञान, ऐन्द्रिय-सुख और नैतिक परितोष से सौन्दर्य—चेतना का महत्त्व पृथक रूप से प्रतिष्ठित किया। उनकी दृष्टि में सौंदर्य निष्प्रयोजन होते हुए भी पूर्ण है और वह सार्वभौमिक सुख की वस्तु

---

[1] रस-सिद्धान्त और सौंदर्य शास्त्र—डॉ० निर्मला जैन, पृ० ५२

है।[1] हेगल ने प्रमेय या धारणा के दो रूप माने—वाद (थीसिस) और प्रतिवाद (ऐन्टीथीसिस), जिनका समन्वय संवाद (सिन्थीसिस) में होता है, यह क्रम चलता रहता है, जब तक कि इनसे क्रमशः कला, धर्म और दर्शन का रूप नहीं मिल जाता। प्रत्यय के दो रूप—सौन्दर्य और सत्य माने गए हैं। हेगल ने कला को धर्म और दर्शन से हीन बताया।

इटली के बीसो ने कल्पना की निर्माणात्मक शक्ति को महत्व देते हुए बताया कि कला, जितनी अधिक विशेष के समीप जायेगी उतनी ही उज्ज्वल और स्वरूपवती होगी। उनके शब्दों में—'अन्वीक्षण के पहले अनुभूति है, उसके बाद स्पंदित आत्मा द्वारा अन्वीक्षण और इसके अनन्तर शुद्ध तर्क के द्वारा मनन।'

फ्रांसेस्को द सांक्तिस ने कहा—'कला, विचार और प्रज्ञा की वस्तु नहीं है, न वह कौशल का ही उत्पाद्य है, किन्तु वह विशुद्ध एवं सहज कल्पनात्मक रूप है।'

प्रत्ययवादी तथा अनुभववादी-विचारधाराओं से भिन्न, किन्तु इनकी सामग्री का उपयोग करते हुए भी क्रोचे ने कलावादी-विचारधारा को अपने अभिव्यंजनावाद के द्वारा नया रंग रूप दिया। उन्होंने कहा 'सौन्दर्य-शास्त्र केवल एक है, वह सहजानुभूत अथवा अभिव्यंजनात्मक ज्ञान का (जो सौन्दर्यात्मक अथवा कलात्मक तथ्य है) शास्त्र है।'[2]

## अभिव्यंजना : अर्थ और परिभाषाएँ

'एक्सप्रेशन' या 'व्यक्तीकरण' के विभिन्न अर्थ किये गये हैं। कभी तो इसे प्रकाशन, आविष्करण, निरूपण आदि के अर्थ में, कभी निष्पीड़न (निचोड़ना) व निष्करण (खींचकर निकालना)[3], कभी वचन उक्ति आदि के अर्थ में तो कभी रीति, पद्धति आदि के अर्थ में लिया

---

1 'That is beautiful, which is object of universal pleasure'.—Histry of Aesthetic, p. 265

२ हिन्दी उद्धरण प्रायः 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा' से लिये गये हैं।

3 'A Poem......is pressed out of the poet forced out of him'—Whalley (उद्धृत, काव्य में अभिव्यंजना—डॉ० सावित्री सिन्हा), काव्य-शास्त्र—डॉ० हजारी प्रसाद, पृ० १६१

जाना है। अन्तिम अर्थ में यह सही है कि 'एक विशिष्ट पद्धति का निर्धारण करके ही अभिव्यंजना का रूप-निर्माण होता है।' इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'अभिव्यंजना व्यक्तीकरण की चेतन प्रक्रिया है।'

सान्तायन के अनुसार, मानव-चेतना, दर्पण की भांति स्वच्छ नहीं है। हम अपने विचारों को पूर्ण रूपेण निश्चित कर ही नहीं पाते, कि वे परिवर्तित हो जाते हैं। अतः अपनी अनुभूतियों को निश्चित वस्तुओं के द्वारा प्राप्त करने का गुण अभिव्यंजना है। यही अभिव्यंजना वस्तुओं में सौंदर्य या उसमें तीव्रता लाती है। उनके अनुसार अभिव्यंजना और द्रव्य में वही अन्तर है, जो स्वभाव और मूल प्रवृत्ति में है। एक में अनुभूति और दूसरे में आन्तरिक अभिरुचि (Innate disposition) की प्रतिक्रिया मिलती है। इस प्रकार अभिव्यंजना में दो बातें होती हैं, प्रथमतः शब्द, विम्व, वस्तु का वास्तविक में उपस्थित रहना और फिर विचारों, भावनाओं और विम्बों को उत्तेजित कर वस्तु को अभिव्यंजित करना। इनका सम्मिलित रूप ही अभिव्यंजना है। यदि पहला रूप हो तो सौंदर्य की अभिव्यक्ति नहीं होती, अभिव्यंजना तो सामग्री और रूप में ही निहित रहती है। मेरे विचार अभिव्यक्ति-विहीन ही रहेंगे, यदि मेरे शब्दों उन्हें आप में उत्थित नहीं करते।[1]

अभिव्यंजना दो बातों के समन्वय पर निर्भर करती है—कल्पना-शक्ति और सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति। इनसे ही अभिव्यंजना या सौंदर्य मूलक मूल्य का सही मूल्यांकन हो सकता है। अभिव्यंजना के तीन तत्त्व है, व्यंग्य (जिसकी अभिव्यक्ति हो) व्यंजक (जो व्यक्त करता है), और अभिकरण या वक्ता (जिस अभिकरण से अभिव्यक्ति हो)। सान्तायन का मत है कि व्यंजक के द्वारा व्यंग्य सांकेतित होता है। भारतीय मत में शब्द और अर्थ को व्यंजक-व्यंग्य रूप में स्वीकार किया गया है।

हराल्ड ऑसबोर्न ने अपने ग्रन्थ 'एस्थेटिक्स एण्ड क्रिटिसिज्म' में अभिव्यंजना शब्द के विभिन्न अर्थ किये हैं। कला को भावों और संवेगों की भाषा या अभिव्यंजना का साधन कहा गया है। कलाकृति उतनी ही सुन्दर मानी जाती है. जितनी वह कलाकार की आन्तरिक अनुभूतियों को महानता और मौलिकता से उजागर करती है। वेरन

[1] The Sense of Beauty—George Santayana, p. 193-96

(Veron) के अनुसार कलाकार के आन्तरिक जीवन की अभिव्यंजना ही कला है और सौंदर्य इसके लिए गौण वस्तु है, किन्तु कॉलिवुड के अनुसार कलाकार यदि अपने संवेगों को बुरे ढंग से अभिव्यक्त करता है, तो अपनी अभिव्यक्ति में असफल रहता है। आसवोर्न ने 'अभिव्यंजना' शब्द के तीन अर्थ व्यक्त किये हैं :—[1]

(१) आत्माभिव्यंजना—एड़ी छिलने पर पत्थर को ठोकर मारना, सॉनेट लिखना, नया सूट चुनना, प्रेमिका के विवाहिता होने पर दुनिया की भर्त्सना करना—सभी इसी के रूप हैं। इसके दो रूप सामने आते हैं—अपनी वृत्तियों को कार्यरूप में अभिव्यक्त करने का सन्तोष और अपने चरित्र को दूसरों पर प्रकट करने की प्रवृत्ति। मिडल्टन मरे ने प्रथम प्रकार को ध्यान में रखकर कहा था कि 'समालोचना का कार्य मुख्यतः साहित्य का ही कार्य है—समीक्षक के लिए आत्माभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना।' दूसरे अर्थ में कलाकार के व्यक्तित्व के आधार पर उसकी मनोवैज्ञानिक विशेषताओं से परिचित होना है।

(२) कलाकृति संवेग-मूड या भावात्मक स्थिति की अभिव्यक्ति है। इस अर्थ से तीन बातें स्पष्ट होती हैं—(क) जिस प्रकार शारीरिक चेष्टाओं से भावों का संकेत मिलता है, इसी प्रकार प्रतिनिधान या अनुकरण से कला, भी लोगों की भावात्मक स्थितियों का स्पष्टीकरण करती है। (ख) रंग, रूपाकार, ध्वनि आदि भी हमारे भीतरी भावों को उत्तेजित करते हैं। (ग) कलाकार की भावात्मक अनुभूति, कलाकृति की प्रकृति से प्रभावित होती है।

(३) कलाकार की मन:स्थिति के प्रतीक-रूप में भी अभिव्यंजना का प्रयोग होता है, क्योंकि (क) इसने उस मन:स्थिति के लिए माध्यम का कार्य किया है और (ख) इससे मन:स्थिति का भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। जैसे मनोवैज्ञानिक समीक्षा में कलाकार की मन:स्थिति और चरित्र की विशेषताओं का भान हो जाता है। यहीं कलाकार के भावों और विचारों का तद्नुरूप हृदयंगम करने का अवसर मिलता है। इसी अर्थ में उपर्युक्त दोनों अर्थ भी समाहित हो जाते हैं, और यही अभिव्यंजनावादी सिद्धान्त है। इसके अनुसार कलात्मक प्रक्रिया, संप्रेषणीयता

1 Aesthetics and Criticism—Harold Osborne, p. 144

की एक विधि है, जिसके माध्यम से कलाकार अपनी अनुभूतियों को तादृश अन्य लोगों तक प्रेषित करता है।[1]

हर्बर्ट रीड के अनुसार काव्य-प्रक्रिया दो विभागों में रखी जा सकती है—प्रथम, संवेदनात्मक अनुभूति के चरम क्षणों में 'सत्य' की अखण्डता की रक्षा, दूसरे उस अखण्ड सत्य की शब्दों द्वारा अभिव्यंजना। पहला सोपान कृति के मूर्त-रूप से पहले का है. भौतिक, सामाजिक प्राकृतिक परिवेश गृहीत वस्तुतत्त्व के द्वारा कवि की संवेदना तथा कल्पना, उसकी प्रतिकृति का निर्माण करती है। इसमें कलाकार के व्यक्तित्व का भी योगदान होता है। 'प्रक्रिया की वस्तुपरक स्थिति में कवि अपनी मन.सृष्टि को भाषा के माध्यम से व्यक्त करता है।' इस दृष्टि से अभिव्यंजना के विभिन्न तत्वों (शब्द-चयन, लोकोक्ति, मुहावरे, वर्ण-योजना, उक्तिवैचित्र्य आदि) का ज्ञान कवि के लिए आवश्यक होता है।[2]

क्रोचे ने अभिव्यंजना को सहजानुभूति का पर्याय माना है, इस पर आगे विचार करेंगे।

अभिव्यंजना और सौंदर्य का भी पारस्परिक सम्बन्ध है। आदर्श अभिव्यक्ति में सौंदर्य का पुट आवश्यक है। रीड (Reid) की धारणा है कि सौंदर्य ही पूर्ण अभिव्यंजना है। क्रोचे ने भी स्पष्ट कहा—'अभिव्यंजना और सौंदर्य दो अवधारणाएँ नहीं, अपितु एक ही अवधारणा है।'

इस प्रकार शिपले के शब्दों में, 'अभिव्यंजनावाद कलात्मक अभिव्यक्ति का एक रूप है जो स्थिति के आन्तरिक भाव का वाह्यकर्त्ता है।······अभिव्यंजनावाद का अस्तित्व आज कृति में प्रयुक्त एक साधन के रूप में नहीं, किन्तु उसके एक उत्तेजक अथवा उद्दीपन तत्व के रूप में बना हुआ है।'

मिलेट बेन्टले ने 'आर्ट आफ ड्रामा' में लिखा—'नाटक के क्षेत्र में 'यह एक ऐसी पद्धति का आविष्कार करना चाहता है जिसके द्वारा नाट्यकार आन्तरिक सत्य को अभिव्यक्त कर सके, और यह अभिव्यक्ति ऐसी हो जो पुरानी सभी नाटकीय पद्धतियों से अधिक सफल और प्रभाव

1 Aesthetics and Criticism-Osborne p. 146

२ काव्य-शास्त्र-सं० डॉ० हजारी प्रसाद, ('काव्य में अभिव्यंजना') पृ० १९३-४

पूर्ण हो।' अभिव्यंजनावाद शैलीनाद या यंत्रन्यास का यथा साध्य स्वतन्त्र प्रयोग करना चाहता है।[1]

स्काट-जेम्स के अनुसार, क्रोचे अभिव्यंजनावाद को किसी एक कला का गुण नहीं मानता, वरन् अखिल कला का गुण मानता है।

(१) मानस-दर्शन—

क्रोचे के अनुसार दर्शन, भूर्त का अध्ययन करता है। मन वास्तविकता है और उसके अतिरिक्त कोई वास्तविकता ही नहीं है। क्रोचे ने इसीलिए अपने सिद्धान्त को मानस-दर्शन कहा है।

भारतीय दर्शन में मानस-व्यापार के तीन रूप हैं—ज्ञान, इच्छा और यत्न! क्रोचे ने दो माने हैं (१) ज्ञान या प्रज्ञा (२) क्रिया या संकल्प। ज्ञान, मन का सैद्धान्तिक पक्ष है और क्रिया व्यावहारिक। ज्ञान भी दो प्रकार का होता है—प्रातिभ ज्ञान या सहजानुभूति और प्रमेयज्ञान या अवधारणा। इसी प्रकार क्रिया के भी दो रूप हैं—आर्थिक और नैतिक। इन्हें इस तालिका से स्पष्ट किया जाता है:—
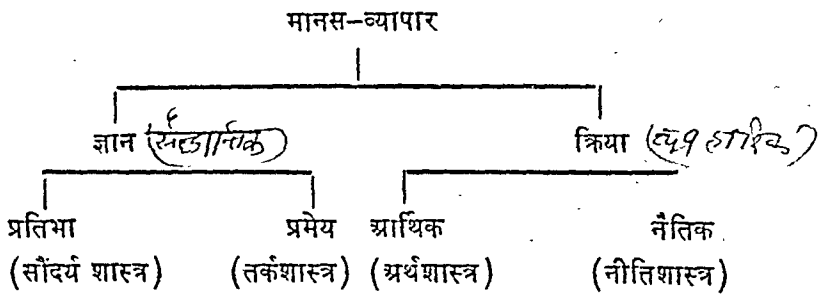
इस प्रकार मन ही सुन्दर, सत्य, प्रेय:, श्रेय, (शिव) का आधार है, वही कला-सृष्टि का आधार है। सभी रूप मन से ही प्रसूत होते हैं और रूपों के बिना कोई वास्तविकता नहीं। यह मन ही सत्य है या सत्य ही मन है। यह एक ऐसी क्रिया है, जो अखण्ड है। उसके भिन्न-भिन्न रूपों को देखा जा सकता है, किन्तु इन रूपों को एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते। मन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य बिम्ब-

[1] दे० पाश्चात्य काव्य शास्त्र : सिद्धान्त और वाद (प्रो० कोहली) पृ० २२१-२२.

निर्माण करने का है।[1] मन के दो रूप हैं—कला और दर्शन; कला ही दृष्टि या सहजानुभूति है और दर्शन, अवधारणा है। मन का तीसरा रूप ही नहीं है।[2]

### (1) सहजानुभूत-ज्ञान :

स्पिनोजा ने तीन प्रकार का ज्ञान माना—(क) लौकिक (ऐन्द्रिय) ज्ञान, (ख) बौद्धिक (तार्किक ज्ञान) जिसका साधन अनुमान आदि बौद्धिक प्रक्रियाएँ हैं। (ग) स्वयंप्रकाश्य ज्ञान। पहला ज्ञान, व्यक्ति या अलग-अलग वस्तुओं का ज्ञान है, दूसरा व्यक्तियों के सम्बन्धों का और तीसरा समस्त सृष्टि का एकीभूत ज्ञान है। क्रोचे ने भी इसी ज्ञान को स्वीकार किया।

क्रोचे के शब्दों में—'ज्ञान के दो रूप हैं: सहजानुभूत ज्ञान अथवा तर्कमूलक ज्ञान, कल्पना के द्वारा उपलब्ध ज्ञान अथवा बुद्धि के द्वारा उपलब्ध ज्ञान, वैयष्टिक ज्ञान अथवा सार्वत्रिक ज्ञान।' इस प्रकार सहजानुभूति, ज्ञान का प्रत्यक्ष साधन है, अनुमानादि के समान परोक्ष नहीं।

सहजानुभूति के अतिरिक्त इसके अन्य नाम हैं—सहजज्ञान, स्वयंप्रकाश्य, प्रातिभज्ञान। यह प्रत्येक व्यक्ति की चेतना के लिए स्वाभाविक है, इसलिए सहजज्ञान है, यह किसी प्रमाण से प्रतिपादित नहीं होता, इसलिए स्वयंप्रकाश्य है, श्रमसाध्य ज्ञान से इतर है, अतः प्रातिभ है, कल्पना से उत्पन्न होने से काल्पनिक है। यही ज्ञान कला का बीज है और सौन्दर्य ही इसका फल है।[3] इस सम्बन्ध में क्रोचे की भी स्थापना है कि 'सहजानुभूति ज्ञान है वह धारणाओं से मुक्त है और यथार्थ के तथाकथित प्रत्यक्षीकरण से अधिक सरल है।' वह यांत्रिक और निष्क्रिय न होकर प्रभावों की सक्रिय अभिव्यंजना है।[4]

---

1 Philosophy of Bernedetto Croce-H. Wildon Carr, p. 18

2 Ibid, p. 175

3 हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों के प्रयोग—डा० शंकर देव, पृ० २६५.

4 'Every true intution or representation is also expression......the spirit does not obtain intutions otherwise than by making, forming, expressing'.

—(Aesthetics)

सहजानुभूति, आत्मा का प्रथम ज्ञानात्मक रूप है। यह आत्मा की प्रकाशमय रूपात्मक क्रिया है, जिसमें विषयी और विषय, देशकालादि का भेद नहीं रहता, सांसारिक सम्बन्ध नहीं रहते, यह धारणा अभिनवगुप्त से मिल जुलती है।

## सहजानुभूति और अवधारणाएं :

सहजानुभूति ज्ञान को किसी स्वामी (बौद्धिक ज्ञान) की आवश्यकता नहीं होती। अवधारणाएं सहजानुभूतियों के साथ घुली मिली हो सकती है किंतु ऐसी सहजानुभूतियां भी होती हैं, जिनमें इस प्रकार का सम्मिश्रण नहीं होता। जो अवधारणाएं सहजानुभूतियों में घुलमिल जाती हैं, उनमें अन्तर्भूत हो जाती हैं, वे फिर अवधारणाएं नहीं रहतीं। आसदो अथवा कामदी के किसी पात्र के मुख से यदि दार्शनिक सूत्रों का कथन कराया जाय तो वहां के सूत्र अवधारणाओं का कार्य नहीं करते, किंतु वे उस पात्र की विशेषताओं को व्यक्त करते हैं।[1] अतः 'सहजानुभूतिकला का बोध पक्ष है और अवधारणा तर्क का बोध पक्ष'। मन कल्पना करता है और बुद्धि विचार करती है। सहजानुभूति से मन में सहज रूप से चित्र अंकित हो जाते हैं, इसके लिये किसी क्लिष्ट-कल्पना की आवश्यकता नहीं पड़ती। डा० 'सुधांशु' ने दोनों को स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण दिया है। नवजात बछड़े के सम्बन्ध में एक बालिका के उद्गार इस प्रकार हैं—'कैसा पागल है, मैं कहती हूँ नहीं, मैं तुझे पीटूंगी नहीं······वह जैसे समझ जाता है और धीरे धीरे मेरे पास आ जाता है। मैं उसका मुन्नी मुन्नी मुंह अपनी गोद में ले लेती हूं।"[2] इस वर्णन से बछड़े का जो चित्र उपस्थित होता है उसके बजाय कहा जाय 'बछड़े सुन्दर होते हैं, तो सहजानुभूति और विचार का प्रकृति भेद स्पष्ट हो जाता है।···एक से हम बिम्ब ग्रहण करते हैं और दूसरी से अर्थ ग्रहण मात्र। एक से सौन्दर्य भावना जागृत होती है और दूसरी से ज्ञान वृद्धि।' अतः सहजानुभूतियां और बौद्धिक तत्व घुले मिले भी रहते हैं। फिर 'ऐसी सहजानुभूतियां या अभिव्यंजना हो सकती है जिसमें किसी गूढ़ विचार का लेश न हो जैसे किसी ग्राम्यगीत की सरल और सरस

---

[1] हिन्दी उद्धरण प्रायः 'पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा' से हैं।

[2] काव्य में अभिव्यंजनावाद—डा० लक्ष्मीनारायण, पृ० १०

स्वरलहरी की सहज़ानुभूति ।' इसके अतिरिक्त प्रमेय ज्ञान (तार्किकज्ञान) प्रत्यक्ष अनुमानादि से सिद्ध होता है।

वस्तुओं के परस्पर सम्बन्धों का निश्चय भी अवधारणा से होता है, जैसे गायों में सामान्य धर्म देखकर उन्हें एक जाति की मानते हैं और जिनमें वे धर्म न होंगे वे अन्य जाति की होंगे ।

इसके विपरीत अन्त:संस्कारों के आधार पर हम किसी वस्तु (जैसे बादलों में हाथी का आधार) की कल्पना कर सकते हैं जो तर्क शास्त्र से भिन्न होंगी । 'हम मेघखण्ड में ऊंट की प्रतीति करने का प्रयत्न नहीं करते वल्कि आकार-साहृश्य के कारण यह स्वयं ही उत्पन्न हो जाती है—इसीलिए प्रतीति प्रातिभज्ञान या स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान है ।'[1] इसके अतिरिक्त कल्पित मूर्ति की विशिष्टता कभी भी हटती नहीं है, अत: इसे विशिष्ट ज्ञान कहा गया है ।

### सहजानुभूति और प्रत्यक्षीकरण :

क्रोचे दोनों में एक सहज साम्य स्थापित करते हुए कहते हैं :—
'···प्रत्यक्षीकरण सहजानुभूति है, जिस कमरे में मैं लिख रहा हूँ···जिन्हें मैं अपना माध्यम वनाकर प्रयोग में लाता हूँ, वे सब सहजानुभूतियां हैं' और कल्पना से दूसरे नगर में घूमना, दूसरी कलम का प्रयोग आदि भी सहजानुभूति है । अत: यथार्थ, अयथार्थ का अंतर गौण है । शुद्ध सहजानुभूति का अनुमान बच्चे के दृष्टांत से हो सकता है, जिसके लिए सत्य-असत्य, इतिहास-कहानी का अंतर करना कठिन है ।

### स्थान और काल :

ऐसी सहजानुभूतियां हैं, जो स्थान और काल से परे हैं, जैसे आकाश का रंग, भावना का रंग, दर्द की आवाज इत्यादि । ये दोनों भी सहजानुभूति में अन्तर्भूत हो जाते हैं । जैसे किसी दृश्य को देखते समय स्थान के सम्बन्ध कौन सोचता है ? कहानी या संगीत सुनते समय समय का कौन ध्यान रखता है, जब तक कि विचार की क्रिया का हस्तक्षेप उसमें न हो । क्रोचे के शब्दों में 'कलाकृति में सहजानुभूति जो कुछ प्रकाशित करती है, वह स्थान और काल नहीं है, किंतु वे हैं चरित्र, वैयक्तिक रूपाकृति ।'[2]

[1] हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों का प्रयोग—डा० शंकर देव-पृ.२९६

[2] पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा, पृ० २५३

### सहजानुभूति और संवेदन :

अरूप संवेदनों की समन्विति सहजानुभूति है। आत्मा इसका अनुभव तो कहती है, पर इसे अभिव्यक्त नहीं कर सकती। जो अभिव्यंजना मे मूर्त नहीं होती वह सहजानुभूति न होकर संवेदन मात्र है।[1]

प्रभावान्विति के लिये सहजानुभूति और संवेदन दोनों की आवश्यकता पड़ती है। वैसे संवेदन, अनुभूति की वस्तु है जिसमें यांत्रिकता व निष्क्रियता पाई जाती है, जबकि सहजानुभूति में क्रियात्मकता व चेतनता परिलक्षित होती है। सहजानुभूति की ऊपरी सतह पर बुद्धि और तर्क की स्थिति है और निचले छोर पर संवेदनाएं स्थित है। संवेदनाएं अस्थिर व सुरूप है और एक प्रकार से सहजानुभूति के लिये वस्तु सामग्री का कार्य करती हैं। 'संवेदनाओं के निरुपण को हम स्वयं प्रकाश्य तभी मानेंगे, जब उनसे समुचित इमेज अर्थात मूर्ति या बिम्ब की सृष्टि होती है। ऐसा न होने पर निरूपण असफल और वैशिष्ट्य रहित होता है।' सहजानुभूति एक प्रकार से संवेदनों का साहचर्य (association) का है। साहचर्य का एक अर्थ तो स्मृति और दूसरा अचेतन तत्त्वों का साहचर्य माना जा सकता है।

### सहजानुभूति और अभिव्यंजना—

क्रोचे का विचार है कि सहजानुभूति के क्रिया में उस अंश तक सहजानुभूति होती है जिस अंश तक वह उसे अभिव्यक्त करती है। अभिव्यंजना में केवल शब्द ही नहीं, रेखा, रंग और ध्वनि की भी योजना होती है। इसलिए अभिव्यंजना सहजानुभूति का एक अभिन्न अंग है। रेखागणित की आकृति की सहजानुभूति तभी होगी, जब हमारे भीतर उसकी एक ऐसी सही प्रतिमा होगी, जिसे हम शीघ्र ही कागज या कृष्ण-पट पर अंकित कर सकने में समर्थ होंगे।

कुछ लोग यह कहते पाये जाते हैं कि उनके दिमाग में बड़े बड़े विचार उठते हैं, पर वे उन्हें व्यक्त नहीं कर पाते। क्रोचे का उत्तर हैं कि यदि उनके मस्तिष्क में सचमुच वे विचार उठते, तो निश्चय ही वे सुन्दर शब्दों का निर्माण कर लेते और उन्हें अभिव्यक्ति कर देते। अतः

---

[1] हिन्दी वक्रोक्तिजीवित–भूमिका—डा० नगेन्द्र. पृ० २४०

या तो विचार थे ही नहीं या वे वस्तुतः न्यून एवं क्षीण थे। जब हम किसी आकृति के विषय में स्पष्ट धारणा बना लेते हैं। तभी तो उसकी वाह्याभिव्यक्ति संभव हो पाती है। जिसे हम अन्दर कह चुके हैं, उसे जोर से वाहर कह देते हैं और जिसे हम अन्दर गा चुके हैं, उसे जोर से वाहर गा देते हैं। इस प्रकार सहजानुभूति और अभिव्यंजना का एकात्म सम्बन्ध है। अभिव्यक्ति के आधार पर सुन्दर-असुन्दर का निर्णय हो सकता है। जिसकी अभिव्यक्ति नहीं होती, वह संवेदन या कुछ और हो सकता है, पर वह सहजानुभूति नहीं। सहजानुभूति और अभिव्यंजना एक साथ ही उपस्थित होते हैं, आगे पीछे नहीं। प्रत्येक व्यक्ति वाहर से संवेदनशील होकर अपने भीतर एक प्रकाश का अनुभव करता है, किंतु उसी सीमा तक जहाँ तक वस्तु को आकृति देने की क्षमता है। इस प्रकार 'भाव और प्रभाव शब्दों के रूप में आत्मा के गूढ़ प्रवेश से विचार-शक्ति की स्पष्टता में प्रकट होते हैं। इस एकजातीय क्रिया में सहजानुभूति को अभिव्यंजना से भिन्न वनाना असंभव है।' दोनों दो नहीं, एक है।[1]

अभिव्यंजना क्या है? मन पर पड़े कतिपय अरूप प्रभाव (संवेदन) जन कल्पना के सांचे में ढलकर सूक्ष्म रूप से भीतर उपस्थित होते हैं, वह कला और सौन्दर्य को जन्म देते हैं। इसी सहजानुभूति जन्य आनन्द की को शब्द, रंग, रेखादि तत्त्वों की सहायता से अभिव्यक्त किया जा सकता है। 'स्वयं प्रकाश ज्ञान सदैव मूर्तरूप में ही रहता है और यह मूर्ति सदैव मानसिक ही होती है। ऊँट का जो संस्कार हमारे हृदय में हैं वही किसी मेघ खण्ड में आकार साम्य से मूर्त रूप में प्रकट होता है। यह रूप या सांचा ही क्रोचे की अभिव्यंजना है।'[२] अतः अभिव्यंजना एक प्रकार का सांचा है जिसमें मन अपने प्रातिम ज्ञान को ढालता है। प्रातिमज्ञान और अभिव्यंजना का पूर्ण ऐक्य है। प्रातिम ज्ञान की सुन्दरता पर ही अभिव्यंजना की सुन्दरता निर्भर करती है। क्रोचे के शब्दों में—"सहजानुभूति ज्ञान अभिव्यंजनात्मक ज्ञान है, वह बौद्धिक

---

१ '...it is impossible to distinguish intuition from expression. The one is produced with the other at the same instance...'—Aesthetics, p. 14.

२ हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों के प्रयोग—डॉ० शंकर देव अवतरे, पृ० २९७

क्रिया से स्वतन्त्र और स्वायत्त है......सहजानुभूति का होना अभिव्यंजित होना है और सिर्फ अभिव्यंजित होना है (इससे न कुछ अधिक, न कम)"। अतः इन दोनों का समीकरण ही कला का मूल तत्त्व है। यही कलात्मक अभिव्यंजना चार सोपानों में प्रस्तुत होती है—

(१) अंतःसंस्कार (Impression) किसी पदार्थ से मन पर पड़ने वाले प्रभाव।

(२) अभिव्यंजना (Expression) संस्कारों या प्रभावों के उद्बोधन से मन में कलात्मक अभिव्यंजना का प्रादुर्भाव।

(३) सौन्दर्य से उद्भूत आनंद (Pleasure of the beautiful)

(४) सौंदर्यात्मक तथा (कल्पना) का भौतिक रूपान्तर (Translation of the aesthetic fact into Physical phenomena)

क्रोचे के मत में आंतरिक रूप का उपस्थित होना अनिवार्य नहीं है—किन्तु इन अवस्थाओं की पूर्ण रूपरेखा ही अभिव्यंजना का पूर्ण स्वरूप है। अतः अभिव्यंजना स्वयं प्रकाश ज्ञान का रूपांतर मात्र हैं, जिसे उपलब्ध कराने वाला व्यापार ही कल्पना है।

### कला :

श्रेष्ठ कला उन सहजानुभूतियों का संकलन करती है, जो हमेशा संवेदनों व प्रभावों से सम्बद्ध होती हैं। कला प्रभावों की अभिव्यंजना है, न कि अभिव्यंजना की अभिव्यंजना। अभिव्यंजन—सहजानुभूति की सीमाएं, जिन्हें कला कहते हैं, अनुभवाश्रित हैं और उनकी परिभाषा करना कठिन है। यदि एक कहानी कला है तो पत्रकार का समाचार संकलन कला क्यों नहीं ?

'कला प्रकृति की अनुकृति है,-इस स्थापना का यह अर्थ नहीं कि कला, प्राकृतिक वस्तुओं की यांत्रिक प्रतिकृति प्रस्तुत करती हैं। जीवन की आकृति करने वाली मोम की रंगीन पुतलियाँ जो संग्रहालय में रखी रहती हैं, सौंदर्यात्मक सहजानुभूतियाँ उत्पन्न नहीं करती, किन्तु यदि कोई कलाकार मोम की पुतलियों का संग्रहालय भीतर से रंग दे या एक अभिनेता मंच पर मानव-मूर्ति का हास्यपूर्ण अभिनय करे, तो वहाँ

कलात्मक सहजानुभूति का, आत्मा का, व्यापार प्रकट होता है। इसी प्रकार फोटोग्राफर भी अपनी फोटो में तूलिका के स्पर्श से थोड़ा बहुत परिवर्तन करता ही है। इस प्रकार कला विशुद्ध सहजानुभूति है। कलाकार के मन:पटल पर कोई बिम्ब उतरता है तो उसकी बाह्य-अभिव्यंजना आवश्यक नहीं। जिस प्रकार की यह दृष्टि होगी उसी प्रकार का रूप वह बाह्य-वस्तु को प्रदान करेगी। जिस कलाकार का जितना विशद प्रत्यक्षीकरण होगा, उतनी विशद अभिव्यक्ति या कला होगी।

संवेदनों को अभिव्यंजनात्मक रूप देते ही कला का कार्य समाप्त हो जाता है। जब कलाकार ने अपने मानस में शब्द प्राप्त कर लिया, किसी आकृति या मूर्ति की निश्चित व स्पष्ट भावना ग्रहण करली तो "अभिव्यंजना" का कार्य सम्पन्न हो गया।[1] यही आन्तरिक या आध्यात्मिक प्रक्रिया कला है।[2]

हेगेल की भाँति क्रोचे भी मूर्त अद्वैतवाद (Concrete monism) में विश्वास करते हैं। कला, क्रोचे की दृष्टि में 'एक अविभाज्य आवयविक समष्टि में प्रभावों का एकान्वित संयोग है—ऐसी मूर्त अन्विति है जिसमें अनेक रूपता है, वैविध्य का एकात्म संश्लेषण है।'

### साधारण और कलात्मक सहजानुभूति में अंतर :

केवल परिमाण का है। जीवन की कोई भी अनुभूति काव्य कला का विषय हो सकती है, शर्त केवल यही है कि कलाकार के मानस

---

1 The aesthetic fact is altogether completed in the expressive elaboration of the impressions.—बृहत् साहित्यिक निबंध—डॉ० त्रिपाठी एवं गुप्त, पृ० २३६.

2 (a) 'The work of art is always internal and what is called external, is no longer a work of art.' (Aesthetics)

(b) 'In Croce's philosophy art is nothing but intution or the expression (within the mind) of impressions. The mind is always forming or half-forming intutions.'—Scott James.

में उसका स्पष्ट विम्ब हो। क्रोचे के शब्दों में—"....उनका अंतर तीव्रता में नहीं, विस्तार में है। एक सरलतम लोकप्रिय प्रेमगीत की सहजानुभूति जिसमें प्रेम की......लगभग वही घोषणा मिलती है जो सहस्त्र-सहस्त्र साधारण व्यक्तियों के अधरों से प्रतिक्षण फूटती रहती है, अपनी सरलता में तीव्रता की दृष्टि से पूर्ण हो सकती है, भले ही विस्तार की दृष्टि से वह लियोपार्डे के प्रेमगीत की जटिल सहजानुभूति की अपेक्षा कहीं अधिक सीमित हो।"

साधारण व्यक्ति और कलाकार में अन्तर इतना ही है कि कलाकारों में आत्म की जटिल अवस्थाओं को प्रकट करने की अधिक अभिरुचि व प्रवृत्ति होती है—अतः जटिल अभिव्यंजनाएँ इनसे सबक़र कलाकृति की संज्ञा पा लेती है। इसी कारण कहानी 'कला' बन जाती है और पत्रकार का समाचार-संकलन कला नहीं।

क्रोचे यह मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही कलाकार होता है क्योंकि प्रायः सभी में सहजानुभूति की क्षमता रहती है, अन्तर तीव्रता का नहीं विस्तार का है। 'कवि-प्रतिभा जन्मजात होती है।' कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक उपयुक्त है कि 'मनुष्य जन्मजात कवि होता है।'

कल्पना :

जैसा कि कहा जा चुका है कि कला संवेदन-मात्र नहीं है। संवेदन और अनुभव को लेकर कलाकार कल्पना की सहायता से पुनर्निर्माण करता है। इस प्रकार कल्पना ही मानव मस्तिष्क की सौंदर्यबोधात्मक क्रिया है, इसके कारण मनुष्य कलाकार बनता है। यह विचार शक्ति से सर्वथा भिन्न है। कल्पना वस्तुओं के सहज स्वाभाविक व वास्तविक रूप को ज्यों का त्यों ग्रहण करता है और विचार शक्ति वस्तुओं के रूप का ग्रहण बुद्धि के माध्यम से करती है। अतः कल्पना नवचित्र-निर्माण करने वाली शक्ति है। मन की महत्वपूर्ण क्रिया के रूप में कल्पना प्रातिभज्ञान से घुलीमिली रहती है। जैसे बादलों को देखकर हम नाना प्रकार की मूर्तियां मन में गढ़ लेते हैं 'विशुद्ध प्रातिभज्ञान का मापदण्ड यही है कि हमें प्रतिबिम्बित वस्तु के विषय में, सत्य असत्य, वास्तविक काल्पनिक, जाग्रत-सुषुप्त आदि किसी प्रकार का ज्ञान न हो।'

इसप्रकार स्वयंप्रकाशज्ञान जो आदि व्यंजना के स्वरूप में अपना रूप ग्रहण करता है वह कल्पना के कारण से ही। क्रोचे के अनुसार कला की कल्पना ही कल्पना है, अन्य वाङ्मय की कल्पना बौद्धिक व्यापार या विचार व्यवसाय। क्रोचे की कल्पना केवल स्वयंप्रकाशज्ञान की सीमा में ही रहकर काम करती है—अतः अभिव्यंजना कवि की मानसिक अभिव्यक्ति ही है। शाब्दिक अभिव्यक्ति तो उसकी पुनरावृत्ति-मात्र है। जैसे यदि कोई किसी वस्तु का चित्र अपने शब्दों में खींचता है तो इसका कारण है कि उसका (कल्पित) चित्र उसके मन में पहले से खींचा हुआ था और वही तो सच्ची अभिव्यक्ति के रूप में था। शाब्दिक चित्र तो उसके सामने महत्वहीन ही था।[1]

## सौंदर्य :

यह स्पष्ट हो चुका है कि सहजानुभूति की सफल अभिव्यक्ति सुन्दर और अपूर्ण अभिव्यक्ति कुरूप है। अभिव्यंजना आन्तरिक वस्तु है और वही सौंदर्य है, अर्थात् सौंदर्य सफल अभिव्यंजना है, क्योंकि अभिव्यंजना यदि सफल नहीं है तो वह अभिव्यंजना ही नहीं है।[2] जो सौंदर्य विज्ञान अच्छा होगा, उसमें प्रभविष्णुता स्वतः आ जाती है, किंतु क्रोचे सौंदर्य का सम्बन्ध अभिव्यंजना के सौंदर्य या उक्ति चमत्कार से मानते हैं। अन्य प्राकृतिक वस्तुओं में सौंदर्य ढूंढ़ना बालू से तेल निकालना है। वाह्य पदार्थ स्वतः सुन्दर नहीं होते, अपितु सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिए सहायक मात्र होते हैं। सौंदर्य तो, अर्थ की भांति पूर्णतयः मानसिक या आध्यात्मिक क्रिया है[3] क्रोचे ने इसका सम्बन्ध मनुष्य की वीक्षामूलक वृत्ति से जोड़ा है। इस स्थापना के विश्लेषण से हमें रोमांटिक कवियों में प्राप्त सौंदर्य के चाक्षुप-विधान की प्रधानता पर एक आलोक मिलता

---

[1] हिन्दी साहित्य में काव्यरूपों के प्रयोग—डा० अवतरे, पृ० २९९

[2] 'We may define beauty as successful expression or better as expression...when it is not successful, it is not expression.'

Philosophy of Croce—W. Carr, p. 162.

[3] 'The beautiful is not a physical fact...this is a mental or spiritual fact.'—Ibid, p. 172.

है ।[1] सौंदर्य का वास हृदय में होता है, हृदय जिसे सहजरूप में स्वीकारे वही सौंदर्य है ।

अतः क्रोचे, सौंदर्य को कला या अभिव्यंजना के स्वरूप में ही देखते हैं, उससे अलग नहीं । उनके अनुसार सौंदर्य, कलात्मक है और कला सौंदर्यात्मक-यानी कला, कला के लिए है ।

**वस्तु और रूप :**

वस्तु व रूप में से किसका अधिक महत्त्व है—यह बात सदा से विवादास्पद रही है । क्रोचे का कथन है कि वस्तु से प्रभाव अथवा उस मनोवेग तत्त्व का, जो सौन्दर्यात्मक ढंग से विशद नहीं हुआ है—अर्थ लिया जाता है और रूप से बौद्धिक क्रिया एवं अभिव्यंजना का अभिप्राय निकलता है । वस्तु (द्रव्य) का सहारा लेकर मन या आत्मा अपने बल से मूर्तविधान करती है । वास्तव में द्रव्य जगत् के भावारूप व्यापार है । रूप ही सौंदर्य का आधार है । 'सौंदर्यात्मक तथ्य ही रूप है—रूप आकार के अतिरिक्त कुछ नहीं, क्रोचे का कथन है कि आत्मा जगत के नाना रूपों—वस्तुओं को, सहजानुभूति द्वारा, कल्पना के माध्यम से सूक्ष्म आकार में डालकर रचना को अभिव्यक्त करती है । कला की दृष्टि से रूपाकार का अधिक महत्त्व है क्योंकि आत्मा की वृत्ति होने के कारण वह आध्यात्मिक वस्तु है । 'एक रसता इसका स्वाभाविक गुण है । सांचे की अनिव्यक्ति में विभिन्नता का आभास द्रव्य की सतत अस्थि-रता तथा परिवर्तनशीलता के कारण लक्षित होता है ;'[2]

क्रोचे अभिव्यंजना में ही सौंदर्यसत्ता को स्वीकार करता है । द्रव्य ही रूप में समाहित रहता है, वही सौंदर्य सत्ता का एक मात्र आधार भी है । वस्तु न हो स्मृति और कल्पना खोखली रह जाय । वस्तु का महत्त्व भी आकार पाकर निखरता है ।[3]

[1] सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व—डॉ० कुमार विमल, पृ० ८३.

[2] हिन्दी साहित्य और विभिन्नवाद—श्री रामजीलाल, पृ० १६०.

[3] (a) 'Without matter our spritual activity would not...become concrete and real.'—Aesthetics.

(b) 'He, who has nothing definite to express may try to hide his internal emptiness with a flood of words...although at bottom, they convey nothing.'—Ibid.

कलाओं का विभाजन नही :

अभिव्यंजना का काम संवेदनाओं में एकता स्थापित करना है किंतु जब हम कलाकृतियों को दृश्यों, उपाख्यानों, आकृतियों आदि में विभक्त करते हैं—तो वहां एकता नहीं रह पाती। क्रोचे का कथन है—"इस प्रकार का वर्गीकरण कृति को नष्ट कर देता है, जिस प्रकार जीव को हृदय, मस्तिष्क, धमनियों, मांस पेशियों में बांट देना जीवित प्राणी को शव में बदल देना है।" कई जीव ऐसे होते हैं जिनके टुकड़े करने से अन्य जीव पैदा होते है—अतः कलाकृति में भी ऐसे जीव कीटाणु होते हैं जो एक पूर्ण अभिव्यंजना में विकास पाने को तैयार हैं। इस प्रकार क्रोचे अलंकार अलंकार्य का भेद नहीं मानते।

कला अथवा अभिव्यंजना का वर्गीकरण सरल-मिश्र, आत्मपरक वस्तुपरक, यथार्थ प्रतीकादि किसी रूप में नहीं हो सकता। उसकी इकाई नहीं हो सकती। क्रोचे का मत है कि रचनाओं के अनुवाद करने से भिन्न अभिव्यंजना को प्रश्रय मिलता है, अतः कलाकृतियों का अनुवाद करना व्यर्थ है।

अभिव्यंजना और प्रयोजन :

क्रोचे कला को सुन्दर मानते हैं, सत्य को न्यायशास्त्र व शिव नीति शास्त्र के क्षेत्र में माने हैं। भौतिक सत्ता को ही अस्वीकारने के कारण कला के किसी भी प्रयोजन—नैतिक शिक्षा या आनन्द-से मतलब नहीं रहता। कला का आनन्द, सफल अभिव्यक्ति से प्राप्त आत्म-मुक्ति का आनन्द है।

## अभिव्यंजनावाद : सीमाएं

क्रोचे के सिद्धान्त में अनेक भ्रांतियां पाई जाती हैं, जिनकी चर्चा यहां संक्षेप में की जा रही है—

पहला दोष वहीं लक्षित होता है जब क्रोचे अभिव्यंजना को आन्तरिक मानकर चलते हैं। जब तक बाह्य-रूप में कोई वस्तु नहीं आयेगी, उसकी परख व मूल्यांकन कैसे हो पायेगा? साथ ही सुन्दर-असुन्दर-पक्ष का पूर्ण-रूपेण न्याय कैसे हो पायेगा? क्रोचे हमें प्रेरित नही करते हैं कि सहानुभूति के आलोचनात्मक दृष्टिकोण का विकास

किया जाये। इस दृष्टिकोण से काव्यरूपों के सहज विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।[1]

यह सिद्धान्त स्वयं लेखक के प्रति हमारी सहानुभूति व आदर अधिक जागृत करता है, उसके लेखकीय व्यक्तित्व के प्रति कम, जिससे काव्य-कृति को पूर्णरूपेण समझने में बाधा उपस्थित होती है। कलाकार, आलोचक को कहीं भी हस्तक्षेप करने का अधिकार ही नहीं देता।

२. कला और ज्ञान के विषय में भी क्रोचे के विचार स्पष्ट नहीं है—"क्रोचे का सम्पूर्ण सौन्दर्य-शास्त्र, उनके एक इटेलियन आलोचक कहते हैं, 'कला' शब्द के लिये पर्यायवाची शब्द ढूंढने का एक प्रयास मात्र है, जिसे इस सूत्र में संक्षिप्ततः व सही सही रखा जा सकता है—कला=सहजानुभूति=अभिव्यक्ति=कल्पना=फैंसी=सौन्दर्य। साधारण या वैज्ञानिक भाषा में जो सूक्ष्म अंतर और बारीकियां इन शब्दों में पायी जाती हैं—आपको उनसे सावधानी से बचना होगा।......यहां तो प्रत्येक शब्द अक्षरों के विभिन्न संकलन मात्र हैं, जिनका अभिप्राय पूर्णतया एक सा है।"[2]. इस दृष्टि से उनके सिद्धान्त में नवीनता नहीं, क्योंकि यह नये पुराने आध्यात्मिक सिद्धान्तों से भिन्न नहीं हैं और ये सिद्धान्त कला को नहीं ज्ञान को महत्त्व देते हैं। स्कॉट जेम्स का मत है कि 'कला' का जो अर्थ सारी दुनियां लेती है, क्रोचे नहीं लेता। वह तो अभिव्यक्ति से पूर्व की वस्तु है। रचना के भौतिक स्वरूप से क्रोचे को कोई मतलब नहीं-कला के लिए वह अनावश्यक है।[3]. अतः क्रोचे का सौन्दर्य-बोध कला का दर्शन नहीं है, वह सहजानुभूति का दर्शन है।

क्रोचे ने स्पष्ट लिखा है कि 'सहजानुभुत ज्ञान को किसी स्वामी (बौद्धिक ज्ञान) की आवश्यकता नहीं होती...उसकी आंखे स्वयं काफी तेज हैं।' सैद्धांतिक रूप से इस मत को स्वीकारा जा सकता है कि सहजानुभूत-बुद्धि, बिम्ब-अवधारणा पृथक पृथक हैं किंतु गोचर जगत् में हम सूक्ष्मता से इन्हें अलग नहीं कर सकते। "विशुद्ध सहजानुभूति का अस्तित्व नहीं होता, वह बुद्धि से लिप्त होती है (क्रोचे के अनुसार वह

---

1 Literary Criticism—Wimsatt & Brooks, p. 519

2 Ibid, p. 503–4.

3 The Making of Literature—p. 326–27

बुद्धि से दूषित हो जाती है) अनुभव का कोई क्षण ऐसा नहीं होता, जब बुद्धि सहजानुभूति में हस्तक्षेप न करती हो।"[1] विश्व की महातम रचनाओं में इन सबका समन्वय मिलता है इनको पृथक पृथक कर देखने से काव्य-सौन्दर्य तिरोहित हो जाता है। कॉलरिज ने कहा था—गम्भीर दार्शनिक हुए बिना कोई भी व्यक्ति महान् कवि नहीं हो सकता।

४- क्रोचे के सिद्धान्त में जीवन की उपेक्षा की गई है। 'कलाकार जीवन को देखता है और उस' 'देखने' को दूसरो के लिए चित्रित करता है। इस प्रकार अपनी कला के द्वारा वह अपनी 'दृष्टिभंगी' को अभिव्यंजित करता है, लेकिन इस अभिव्यंजना का माध्यम ऐसा होना चाहिये, जो सबका परिचित हो, जो सब समझ सकें। अतएव वह माध्यम भी जीवन से ही लेना पड़ेगा।[2]. किंतु क्रोचे तो इस प्रकार के विधान को स्वीकार ही नहीं करता। कला को आन्तरिक कह कर वह आगे का मार्ग बंद कर देता है।

स्काट जेम्स के अनुसार क्रोचे ने प्रेषणीयता और सौन्दर्य दोनों को भुला दिया है।[3]. कलाकार की यह हार्दिक अभिलाषा रहती है कि वह अपने भावों को दूसरों तक प्रेषित कर उन्हें प्रभावित करे, वैसे वह न भी चाहे तो भी कला यह काम स्वतः कर लेती है। किंतु क्रोचे "कला के बारे में लिख रहा है और वह कलाकारों से परामर्श लेना भूल गया है। यदि उसने उनसे सलाह ली होती तो वे उसे बताते कि कला का सम्पूर्ण कार्य व्यापार संसार को कुछ न 'कुछ' प्रेषित करना है और वह 'कुछ' सुन्दर होगा।" सभ्यता के इतिहास से प्रारम्भ से लेकर आज तक साहित्यकार इस बात को स्वीकार करते आ रहे हैं कि उनका काम है आनन्द या शिक्षा प्रदान करना, प्रेरक तत्त्व चाहे जो भी रहे हों किंतु कलाकार ने उसे निर्णय के लिये विश्व के सम्मुख अवश्य रखा है। किंतु क्रोचे उनकी इच्छाएं जाने बिना उनकी इच्छाओं पर निर्णय कैसे

---

[1] पाश्चात्य काव्य शास्त्रः सिद्धान्त और वाद—पृ० २१२.

[2] हिन्दी साहित्य कोष–पृ० ४६.

[3] 'Croce has almost forgotten communication, as he has almost forgotten beauty.'

The Making of Litterature, p. 329.

दे देते हैं, जबकि दुनिया भर के कलाकारों के अनुभवों का लेखा जोखा हमारे सामने रखा है ? कलाकार अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन किसी न किसी रूप में अवश्य करता हैं। किंतु क्रोचे का कवि कोई भाषा नहीं बोलता अधिक से अधिक वह स्वगत भाषण हो सकता है।

५. इसी प्रकार क्रोचे ने सौंदर्य-तत्त्व की भी उपेक्षा की है। सौंदर्य-सत्य भीतर तक वेधकर आनंद व संतोष प्रदान करता है, पर क्रोचे सभी साहित्यकारों की बात को नकार कर कहता है कि कलाकार तो अपने विषय गुण के बारे में तटस्थ रहता है, वह केवल प्रभावों का वर्णन करता है, सुन्दर-असुन्दर से उसका कोई प्रयोजन नहीं।[1] यह कहना ठीक नहीं है कि सौंदर्य, बाह्यालंकृति है, वह तो कलात्मकता की रग-रग में प्रविष्ट रहेगा, वह उसके जीवन का अङ्ग होगा और जो भी कलात्मक आनन्द हमें मिलेगा, उसमें सौंदर्य का बहुत बड़ा हाथ होगा। कर्मशील कलाकार जीवन के वही दृश्य, अनुभव और मनोभाव चुनता है, जिसमें सौंदर्य निहित रहता है; यदि निहित नहीं भी रहता, तो भी कलाकार अपनी कल्पनात्मक प्रेरणा द्वारा उसमें सौंदर्य की प्रतिष्ठा कर देता है। 'सौंदर्य की सृष्टि ही कला का जीवन है, वही कला का लक्ष्य है; वही पाठक वर्ग की सतत आकांक्षा है।'[2]

अभिव्यंजनावाद, अमूर्त ढांचे को महत्व देने के कारण सामाजिकता को भुला देता है, क्योंकि विषय-वस्तु को वह अपेक्षा की दृष्टि से देखता है।[3]

5 द्रव्य (Matter) को क्रोचे ने रूपहीन, यन्त्ररूप और निष्क्रिय बताया है, जो तर्क से परे है। मानस भावात्मक छापें (द्रव्यों) और भौतिक वस्तुओं में बिम्ब प्रतिबिम्बभाव ही है, फिर मानव द्रव्यों को अरूप कैसे कहा जा सकता है। जैसे प्रकृति के दृश्य का चित्रण कलाकार करता है तो भावुक में (अन्तःसंस्कार, छापों आदि के कारण) प्रभाव प्रबुद्ध हो जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि उस दृश्य का रूप मन में पहले से ही था। 'यदि उसको हम रूपहीन कहें, तो आनंद विमुग्ध होकर कही

[1] The Making of Literature-Scott James, p. 335

[2] आलोचना : इतिहास और सिद्धांत-डा० खत्री, पृ० ४८६

[3] Illusion and Reality-Caudwell, p. 258

गई उस उक्ति का, कि कवि ने स्वाभाविक चित्रण प्रस्तुत किया है, कोई अर्थ न रह जायगा।' किन्तु क्रोचे ने प्रतिक्षण अनुभूत होने वाली द्रव्य की इस स्थिति पर विचार ही नहीं किया।[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बड़े विस्तार से क्रोचे के सिद्धान्तों में दोष दर्शन कराये हैं।[2] यहां हम सक्षेप में उन विचारों को प्रस्तुत करते हैं।

(१) 'प्रस्तुत के मार्मिक रूप विधान का त्याग और केवल प्रचुर अप्रस्तुत रूप विधान में ही प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग।'

क्रोचे काव्य में प्रस्तुत पक्ष स्वीकार नहीं करते क्योंकि काव्य का जीवन व जगत् से सम्बन्ध ही नहीं तो प्रस्तुत किसका और कैसा ?

(२) 'जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को लेकर सच्ची भावानुभूति में लीन करने का प्रयास छोड़, केवल अभिव्यंजना या उक्ति में वैलक्षण्य लाने का प्रयास।'

शुक्लजी का कथन है कि अभिव्यंजनावाद एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद है, जहां 'उक्ति की वक्रता' ही काव्य है। वक्रता से यदि हृदय की किसी अनुभूति सम्बद्ध रहती है, वहीं तक वह अपेक्षित है। भाव नहीं जगाती तो व्यर्थ है। पर अधिकतर लोग केवल वक्रता या अभिव्यंजना की विचित्रता को ही सब कुछ मानते हैं—जिससे साहित्य, जीवन से कट सा गया है।

(३) 'जीवन का विविध मार्मिक दिशाओं को प्रत्यक्ष करने वाले प्रबन्ध काव्यों की ओर से उदासीनता और मुक्तकों—विशेषतः प्रेमोद्गार पूर्ण प्रगीत मुक्तकों की ओर अत्यंत अधिक प्रवृति।'

उत्कृष्ट कोटि के महाकाव्यों के दर्शन आज दुर्लभ हो गये हैं, जैसे बाह्यार्थ निरूपिणी प्रतिभा का ह्रास हो गया है।

(४) 'असीम, अनंत ऐसे शब्दों द्वारा रचनाओं पर आध्यात्मिक रंग चढ़ाने की प्रवृति'।

आध्यात्मिकता को अर्थहीन महत्व देने से अनुभूति की गहराई समाप्त हो रही है व निरर्थक वाग्जाल सामने आ रहा है।

---

[1] वक्रोक्ति और अभिव्यंजना—श्री रामनरेश वर्मा, पृ० १८९

[2] चिन्तामणि भाग २—'काव्य में अभिव्यंजनावाद'—पृ० २२८-३८

(५) कला शब्द के कारण काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में शिल्प वाली, बेलबूटे और नक्काशी वाली, हल्की धारणा।

शुक्लजी शुद्ध काव्य के भीतर 'कला' को नकारते हैं—कला से पीछा जितने जल्दी छुड़ाया जाय उतना अच्छा है। इसके कारण काव्य में भावनाओं की अन्विति का अभाव पाया जा रहा है।

(६) समालोचना का हवाई होना और विचार शीलता का ह्रास।

विचारशीलता के ह्रास से पुष्ट और समर्थ साहित्य का विकास रुक जाता है। इस प्रकार शुक्लजी ने अभिव्यंजनावाद के विरोध में अनेक तर्क देते हुए प्रमाणित किया है कि 'अभिव्यंजनावाद अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़ केवल वाग्वैचित्र्य को पकड़ कर चला है, पर वाग्वैचित्र्य का हृदय की गम्भीर वृतियों से कोई सम्बन्ध नहीं। वह केवल कुतूहल उत्पन्न करता है। अभिव्यंजनावाद के अनुसार ही यदि कविता बनने लगे तो उसमें विलक्षण–विलक्षण वाक्यों के ढेर के सिवा और कुछ न होना चाहिए—न विचारधारा न भावों की रसधारा।'[1]

सुधांशुजी ने इस वाद के, कु भाव पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। हृदय पर पडे प्रभाव (संवेदना) को ग्रहण कर, सदृश्य और साधर्म्य का तिरस्कार कर रचना की जाती है तो अच्छी तरह से पता नहीं चलता कि कवि जिस वस्तु का वर्णन कर रहा है, वह प्रस्तुत है या अप्रस्तुत।[2] क्रोचे ने उक्ति में ही अलंकारत्व माना था और अलंकार अलंकार्य की पृथक् सत्ता को स्वीकार नहीं किया था।

आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी ने इस सिद्धांत के अनेक दोप वताये है। उन्होंने कहा—"क्रोचे काव्य को जिस आध्यात्मिक प्रक्रिया का परिणाम मानता है, उसका सम्बन्ध काव्य के श्रोताओं तथा पाठकों से बिल्कुल नहीं रखा गया है।" अर्थात् साधारणीकरण के सम्बंध में यह सिद्धांत मौन है। काव्य केवल एक व्यक्ति की वस्तु नहीं है, एक के द्वारा प्रसूत होकर भी वह सार्वजनीन है. व्यष्टि के लिये नहीं समष्टि के लिये ही वह विशेष उपादेय है। इसके अतिरिक्त क्रोचे ने कला को 'अखण्ड

[1] चिन्तामणि भाग २ 'काव्य में रहस्यवाद,' पृ० १०५–६

[2] काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० १०२

अभिव्यक्ति' बताया है जिसमें सुन्दर-असुन्दर का कोई रूप नहीं, वह नीति-आदर्श से भी परे है। भारतीय मत तो यही है कि काव्य सत्य, शिव व सुन्दर की अभिव्यञ्जना करता है, वह कोरा वाग्जाल मात्र नहीं है, अपितु मन की सशक्त व मार्मिक अनुभूतियों का प्रकाशन है, पर उसे किसी आदर्श या नीति से परे रखना, उसके पवित्र उद्देश्य को दूषित करना है।

क्रोचे ने काव्य-व्यापार में जीवन व जगत् का सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया है। बाह्य जगत् ही हमारे आन्तरिक जगत् का निर्माण करता है, उससे प्रभाव होकर हम कृति में प्रवृत्त होते हैं। डॉ० बलदेव उपाध्याय, अभिव्यंजना-सिद्धान्त को 'कोरा चमत्कारवाद' मानते हैं। उनकी दृष्टि में 'अभिव्यंजनावाद यूरोपिय आलोचना पद्धति का एक प्ररोह मात्र है।' भारतीय दृष्टि से समीक्षा करने पर अनेक दोषों की सत्ता उसे नितांत अनुपादेय, एकदेशीय व कृत्रिम घोषित करती है। "अभिव्यंजनावाद में काव्य तथा कला के लिये न तो किसी नैतिक आचार का प्रयोजन मान्य है और न हृदय के भावों का समर्थ रूप से रमणीय अनुसंधान है। वह कोरा चमत्कारवाद ही सिद्ध होता है।"

क्रोचे ने शास्त्रीय नियमों को एकदम नकारा है। 'उन्होंने शताब्दियों से चली आने वाली कोटियों 'और मान्यताओं को अग्राह्य बताया है, किन्तु उनके सिद्धान्त में ही : बाह्य प्रकाशन की उपेक्षा और बाह्य रूप-विधान की अस्वीकृति, कल्पना का परित्याग आदि पाठकों को खटकने वाली बातें हैं।'[1]

क्रोचे शब्दार्थ को भौतिक वस्तु मानते हैं किन्तु शब्दार्थ के द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति को भी जब वे भौतिक ही कहने लगते हैं तो बेसुरे हो जाते हैं। वे यह भूल ही गये कि "जब भौतिक जगत् की वस्तुओं का अन्तःसंस्कार कलाकार के लिये कला का आन्तरिक और आध्यात्मिक पक्ष हो सकता है तब शब्दार्थ के द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति भी श्रोता या द्रष्टा के लिये आध्यात्मिक हो सकती है। वस्तु अपने कलेवर में भौतिक है किन्तु संगति, सापेक्ष, संतुलन, समता जैसे गुणों के कारण आध्यात्मिक अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार कला के क्षेत्र में

---

[1] साहित्य-सिद्धान्त—डॉ० राम अवध द्विवेदी, पृ० १६३

होने वाली भावानुभूति और अभिव्यक्ति कभी भी भौतिक नहीं हो सकती। क्रोचे व्यर्थ ही इनसे भयभीत होकर सिद्धान्त भ्रष्ट हो गये।"

भावानुभूति व अभिव्यक्ति के भौतिक स्वरूप पर भी विचार किया जाना चाहिए। मन की प्रत्यक्ष (सीमित व अहं की सीमायुक्ता) सत्ता में लौकिक सुख दुःख आ जाते हैं और अप्रत्यक्ष सत्ता में व्यक्ति संसार के राग द्वेषों से परे चला जाता है। कवि के शब्दार्थ में केवल अप्रत्यक्ष सत्ता ही सम्भव होती है—वही सत्ता आनंदात्मक होती है। प्रसाद जी का 'आँसू' काव्य इसका उदाहरण है। अतः साहित्य कला जब तक शाब्दिक अभिव्यक्ति के रूप में ग्राह्य नहीं होगी तब तक उसमें सामाजिक का पक्ष न होने के कारण उसका कोई प्रयोजन ही नहीं होगा। 'क्या ही अच्छा होता कि क्रोचे अपनी ही इस शब्दावली पर सक्रिय अमल करते कि कला हमारे जीवन का न फूल है और न फल केवल बीज है। अव्यक्त में व्यक्त के स्वरूप की प्रतिष्ठा का लोभ और वह भी एकमात्र प्रतिष्ठा का लोभ उनके कला सम्बन्धी विवेचना का सबसे खराब ग्रह है।'[1]

## अभिव्यंजनावाद : उपलब्धियाँ

अभिव्यंजना ज्ञान रूप है और बाह्य प्रकाशन कर्म रूप। कर्म को ही ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। अतः इस सिद्धान्त का फल यह हुआ कि 'युगों से काव्य के जिन अलंकारों, शब्द शक्तियों, छंद, लय आदि की खोज हो रही थी और वही उपकरण उनके मूल्यांकन के आधार रहे थे, क्रोचे ने इस प्राचीन परिपाटी का परित्याग किया है।' उन्होंने अभिव्यंजना को अखण्ड मानते हुए, शास्त्रीय, रोमांटिक, प्राचीन, नवीन आदि भेदों को बिल्कुल अस्वीकार कर दिया।[2] स्कॉटजेम्स के अनुसार क्रोचे ने इस महान् सत्य को हमारे सम्मुख रखा है कि 'कला आत्माभिव्यंजना है' जो प्रत्यय हम जीवन के कार्य व्यापारों में देखते हैं, वही कला के साम्राज्य में प्रवेश पाते हैं—अतः दोनों में कोई अन्तर नहीं है। इसके

---

[1] हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों के प्रयोग—डॉ० शंकर देव, पृ० ३०१-४.

[2] साहित्य सिद्धान्त—डा० रामअवध द्विवेदी, पृ० १६०

अतिरिक्त क्रोचे की यह धारणा भी सत्य है कि कला केवल रोमांच नहीं है। रोमांच या अनुभूति तब तक कला नहीं बनती जब तक कि कलाकार उनसे तटस्थ होकर अपनी शक्ति उनके निरीक्षण और पुनर्निर्माण में नहीं जमा देता। निरीक्षण, निर्माण व अभिव्यंजना की इस शक्ति में आह्लाद निहित है। वैसे ही जैसे तृषित होने पर पीना अधिक आनन्दकारी होता है।

क्रोचे ने प्रकारांतर से नैतिकता को काव्य के लिये आवश्यक ठहराया है। उनके अनुसार जब कलाकार अपनी 'सहजानुभूति में भी भीड़' से कतिपय प्रभावों से ग्रहण कर कला सृजन में प्रवृत होता है तो वह व्यवहार जगत में, जहां अर्थ नैतिकता आदि का महत्त्व है, प्रवेश करता है। तब विषय का चुनाव आर्थिक नैतिक आधार पर करना पड़ता है, वहां नैतिकता ही मानदंड बन जाती है।[1]

क्रोचे के अनुसार उपयोगिता और सदाचार का सम्बन्ध वाह्य प्रकाशन से है, कलात्मक सौंदर्य अथवा अभिव्यंजना से नहीं। कला का प्रयोजन है, मन में सहज ज्ञान को अलोकित या अभिव्यंजित करना, उससे जो संतोष और आनंद मिलता है, उसका मूल्य हम उपयोगिता अथवा नैतिकता की कसौटी पर कस कर निर्धारित नहीं कर सकते।[2]

जीवन निरन्तर गतिशील है किंतु इस गतिशीलता का एक-एक क्षण कला-सृष्टि में नहीं आता, वह तो गति-शीलता में चरित्रों को स्थिर कर लेती है, अतः कला चरित्र चित्रण है। यह बात कला के सम्बन्ध में ठीक उतरती है। और भागते क्षणों को पकड़ कर, उनके प्रभावों को ग्रहण करके भी यदि सघनता के साथ उसकी अभिव्यंजना न कर पाये, तो वह व्यर्थ है। अभिव्यंजना—चाहे वह आन्तरिक ही क्यों न हो—उसके बिना काव्यशीलता की परख नहीं हो सकती। क्रोचे ने अन्तःसंस्कार को अभिव्यंजना का पहला स्तर माना है। 'यह अन्तः संस्कार जीवन

---

[1] "When he begins to create as we understand creation his liberty is gone". The Making of Literature, Scott-James, P. 329

[2] साहित्य सिद्धान्त—डा० राम अवध द्विवेदी, पृ १६०

जगत् की वस्तुओं की मन पर पड़ने वाली छाप है, इसलिए वह जीवन जगत का सत्तात्मक प्रतिविम्व है। और भी सीधे शब्दों में कहना चाहिए कि जो संस्कार कलाकार की नितांत मानसिक और आन्तरिक अभि-व्यंजना के मूल में है वह स्वयं ही संसार की वस्तुओं को देखने से निष्पन्न हुआ है।'[1] अत. अभिव्यजना या कला का जीवन-जगत से पूरी तरह से सम्बन्ध भी है।

इसके अतिरिक्त स्वयं प्रकाश्य अभिव्यंजना, अन्तरात्मा की क्रिया और सौंदर्य का हेतु है। स्वयं प्रकाश्य ही प्रतिक्षण उठने वाले आवेगों, संवेदनाओं व प्रभावों को रूप प्रदान करती है। रूप जितना सुन्दर और स्पष्ट होकर अभिव्यंजित होगा, उतना ही सफल होगा।

क्रोचे का मत है कि सृजन के क्षणों में कलाकार, सच्चा कलाकार नहीं रहता। वात सही है, विश्व की महान् रचनाएं कलाकार की मूल भावनाओं की छायाएं मात्र हैं। शैली ने भी कहा था—'जब रचना शुरू होती है, तो प्रेरणा (inspiration) का ह्रास हो चुका होता है।'

आचार्य शुक्ल ने कहा था कि अभिव्यंजनावाद, अनुभूति या प्रभाव को छोड़कर, वाग्वैचित्र्य को पकड़ कर चला है। सुधांशुजी ने टिप्पणी करते हुए कहा कि कलाकार की आध्यात्मिक सत्ता, जिस सौंदर्य-विधान में सन्निहित होगी, वह मनुष्य की रागात्मक-शक्ति को अवश्य प्रभावित करेगी। अभिव्यंजनावाद, सौंदर्य-विधान से भिन्न नहीं है, जितना स्थान उसे मिला है, उससे अविक वाग्विस्तार अवश्य किया गया है।[2]

इस सिद्धांत ने समीक्षा के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण काम किया। इसने वताया कि किसी भी कृति की समीक्षा का मूल किसी धारा-विशेष अथवा साहित्यिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण में नहीं, अपितु लेखक के व्यक्तित्व के साथ ही उस कृति विशेष को अनुस्यूत कर उसकी समीक्षा करना है। क्रोचे अपने 'हृदयवाद' के कारण वौद्धिकता का सदैव विरोध करते रहे, क्योंकि प्रातिभज्ञान को भूल कर थोथे समाज-शास्त्रीय ढंग

[1] हिन्दी साहित्य में काव्य-रूपों का प्रयोग—डा॰ शंकरदेव, पृ० २००
[2] काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ४६–४७

से सौंदर्य का विश्लेषण करना सौंदर्य की मौलिकता का अपहरण ही होगा।[१]

प्रभाव—

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का प्रभाव साहित्य की अनेक विधाओं व अन्य कलाओं विशेषतय: नाट्य कला पर पड़ा। मिलेट और बेंटले के अनुसार 'व्यक्ति अथवा समूह के मूल अनुभवों पर आग्रह होने के कारण अभिव्यंजनावादी नाटक में कथानक को सरल करने की, निरपेक्ष कार्य व्यापार को कम करने की प्रवृति मिलती है, जिससे कि ध्यान मुख्य प्रश्नों से न हट सके।' अभिव्यंजनावादी संवाद एक प्रकार की तार जैसी भाव-भाषा का रूप ग्रहण कर लेता है इसका अभिप्राय यह प्रभाव उत्पन्न करना है कि नितांत आवश्यकताओं को छोड़ भाषा के सारे उपकरण त्याग दिए गये हैं। 'अभिव्यंजनावाद का सबसे अधिक प्रभाव शायद रंगमंच के परिपार्श्व पर पड़ा है। यहां भी उपकरणों को कम करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है ताकि सबसे अधिक आवश्यक रूप वस्तु पर ही ध्वनि केन्द्रित हो। कक्ष का संकेत एक आध कुर्सी से दे दिया जाता है।'[२]

कहने का तात्पर्य यह है कि अभिव्यंजनावादी नाटककार दर्शकों पर जटिल मनोवैज्ञानिक स्थितियों के स्पष्टीकरण के लिये अमूर्त यंत्रों का सहारा लेता है। उदाहरण के लिये मानसिक रूप से पीड़ित व सत्रस्त पात्रों की विभिन्न प्रक्रियाओं का संकेत रंगमंच पर घूमती हुई आकृतियों से दे दिया जाता है। इस प्रकार अनेक प्रकार की कृत्रिमताओं से नाटककार को मुक्त कर दिया है।

क्रोचे का प्रभाव ब्रिटिश अनुवादकों और टीकाकारों पर भी लक्षित होता है। कालिंग्वुड, कैरिट, वाक्ले, कार आदि लेखक क्रोचे के आभारी हैं। जान ह्यूह ने भी क्रोचे के महत्त्व को स्वीकार किया था। स्पिन्गर्न ने 'नई आलोचना' (New criticism) की जिस पद्धति का प्रतिपादन किया, उस पर क्रोचे का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है।

---

१ नव्य हिन्दी–समीक्षा–डा० कृष्ण वल्लभ जोशी, पृ० १३०

२ पाश्चात्य काव्य शास्त्र : सिद्धान्त और वाद (प्रो० कोहली) पृ० २२२–२२३

हिन्दी साहित्य में अभिव्यंजनावाद के शुभ प्रभाव की चर्चा करते हुए आचार्य शुक्ल ने बताया—"अभिव्यंजनावाद के कारण योरुप के काव्य क्षेत्र में उत्पन्न वक्रोक्ति या वैचित्र्य की प्रवृति जो हिन्दी के वर्तमान काव्य क्षेत्र में आई उससे खड़ी बोली की कविता की व्यंजना प्रणाली में बहुत कुछ सजीवता और स्वच्छंदता आई। लक्षणाओं के अधिक प्रचार से काव्य-भाषा की व्यंजकता अधिक बढ़ रही है। दूसरी अच्छी बात यह हुई कि अप्रस्तुतों या उपमानों के रखने में केवल सादृश्य साधर्म्य पर दृष्टि न रहकर उसके द्वारा उत्पन्न प्रभाव पर अधिक रहने लगी है।"[1]

इस 'शुभ-लक्षण' से शुक्लजी को अतीव प्रसन्नता हुई थी।

## अभिव्यंजनावाद और स्वच्छंदतावाद—

क्रोचे की धारणाएं शास्त्रवादी विचारधारा का समर्थन न करके स्वच्छंदतावादी विचारधारा का ही समर्थन करती हैं। क्रोचे और स्वच्छंदतावादी, कल्पना और सौंदर्य को महत्त्व प्रदान करते हुए कवि के व्यक्तित्व का अक्षुण्ण महत्त्व स्वीकार करते हैं। वाल्ट ह्विटमैन ने 'प्रेफेस' में लिखा 'वह (कवि) नियम की प्रतीक्षा नहीं करता···वह स्वयं नियमों का अधिपति होता है।' तेन की बात का समर्थन करते हुए वाल्ट ह्विटमैन ने स्पष्टतः स्वीकार किया कि मौलिक कला स्वनियमित होती है, वह बाहर से नियमित नहीं होती और अपनी ही प्राण-शक्ति पर जिंदा रहती है।'[2] क्रोचे ने इसी विचारधारा का प्रतिपादन किया था।

स्वच्छंदतावाद के प्रमुख कवि कॉलरिज ने कहा था कि 'यदि कोई नियम बाहर से आरोपित किया जाता है तो कविता कविता नहीं रहती वह एक यांत्रिक कला हो जाती है···कल्पना के नियम ही उद्भव और विकास की आधार शक्ति हैं।'

---

[1] चिन्तामणि भाग २—'काव्य में अभिव्यंजनावाद'—पृ० २३३

[2] पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धान्त और वाद—सं० डॉ० कोहली पृ० २१६

## क्रोचे और भारतीय मत

क्रोचे के सिद्धांतों को भारतीय सिद्धान्तों के साथ मेल बैठाने की चेष्टाएँ बराबर होती रही हैं, इन सब का सार हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं।

क्रोचे ने अपने दर्शन को 'फिलासफी ऑफ़ माइंड' मानते हुए जगत् के जड़, चेतन दो रूपों को क्रमशः द्रव्य और मन संज्ञाएँ दी हैं। द्रव्य निर्जीव, निष्क्रिय व स्वरूपहीन है, जब कि मन जीवस्वरूप, गतिशील एवं आकार युक्त (अमूर्त को मूर्त रूप देने वाला) है। रूपहीन द्रव्य के मानव मन के सामने आते ही मानस व्यापार शुरू होता है, जिसके कारण वह रूपवान् बनता है। वेदान्त में जड़ को भी निष्क्रिय कहा गया है, पर वह स्वरूपहीन नहीं है। बृहदारण्यकोपनिषद् में रूप की अवस्थिति हृदय में मानी गई है। क्रोचे मानस-व्यापार के लिए द्रव्य की नितान्त आवश्यकता मानते हैं, तभी तो भावात्मक रूप सत्तात्मक बनता है। भारतीय दर्शन में विज्ञानवादियों का यह विचार है कि यह संसार मन का खेल है, केवल चित्त या विज्ञान ही वास्तविक सत्ता है, वही विभिन्न रूपों में दिखाई पड़ती है। दोनों विचारधाराओं में यही अन्तर है कि 'क्रोचे विज्ञानद्वैतियों की भांति समस्त विश्व के विसर्ग की शक्ति मन में नहीं मानते।' उनका गतिशील और सांचे वाला मन, निर्जीव व रूपहीन द्रव्य के साक्षात्कार करने पर क्रियाशील होता है।[1]

क्रोचे के अनुसार कलाकार, सर्जना-क्षण में लीन होकर वैयक्तिकता की क्षुद्रता से मुक्त हो जाता है—हृदय की मुक्ति की साधना करता हुआ आत्मपूर्ति और आत्मविस्तार का अवसर प्राप्त करता है। यह मानसिक अभिव्यक्ति, यह सहज बिम्बात्मक अनुभूति और उसका बाह्यकरण, मानसिक मुक्ति-साधन की एक सात्विक क्रिया है।[2]

कलाकार की आत्मा पर पड़ने वाला प्रभाव (संवेदन या अव्यक्त अनुभूति), मानसिक अभिव्यक्ति (कला) और बाह्याभिव्यक्ति (कलाकृति) तीनों एक हैं—अव्यक्त तत्त्व बिम्ब और प्रतिबिम्ब। इसी प्रकार अद्वैत वेदांत में ब्रह्म, ईश्वर और जीव—एक ही तत्त्व की तीन स्थितियाँ मानी गई हैं। कला सृष्टि भी आध्यात्मिक है।[3]

---

[1] वक्रोक्ति और अभिव्यंजना—श्री रामनरेश वर्मा, पृ० १८६

[2] काव्य—शास्त्र—सं० आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५४७

[3] वही, पृ० ५४८

# अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद

"योरोप का यह अभिव्यंजनावाद हमारे यहां के पुराने 'वक्रोक्तिवाद'—वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्—का ही नया रूप या विलायती उत्थान है।"

"क्रोचे का अभिव्यंजनावाद सच पूछिए तो एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद है। संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में भी कुंतक नाम के एक आचार्य 'वक्रोक्तिः काव्य-जीवितम्' कहकर उठे थे।"[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की इन स्थापनाओं के बाद अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद का साम्य-वैषम्य सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाने लगा। ऊपर हम अभिव्यंजनावाद की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत कर चुके हैं, अतः पिष्ट पेशण न कर के दोनों के साम्य-वैषम्य की तात्विक चर्चा करना समीचीन होगा।

दोनों सिद्धान्तों में अनेक समताएं दृष्टिगत होती हैं।

(1) क्रोचे और कुंतक दोनों ही काव्य का उद्गम स्थल कवि-मानस को मानते हैं। क्रोचे के लिये अन्तःकरण या सहजानुभूति और कुंतक के लिये कवि स्वभाव या प्रतिभा ही काव्य का मूल स्रोत है। इस दृष्टि से दोनों ही कवि-व्यक्तित्व व उसके कृतित्व को महत्त्व देते हैं। कवि कर्म ही काव्य है।

2. क्रोचे और कुंतक दोनों ही कलावादी व्यक्ति हैं जो अभिव्यंजना या वक्र-उक्ति को महत्त्व देते हैं। क्रोचे की दृष्टि में सफल अभिव्यंजना ही कला है तो कुंतक भी सफल भणिति (उक्ति) को ही श्रेष्ठ मानते है।[2]

3 क्रोचे अभिव्यंजना और सौंदर्य का घनिष्ट सम्बन्व स्वीकार करते है, उसी प्रकार कुंतक भी शब्द और अर्थ के सौंदर्य को ही काव्य

---

[1] चिन्तामणि–भाग २ पृ० १०७ व २३१

[2] 'कलात्मक अभिव्यंजना का भी स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान अर्थात् प्रथम मानस व्यापार से तादात्म्य है। अतः कविता भी व्यापार रूप हुई। कुंतक भी काव्य जीवित तथा वैदग्ध्य भंगी भणिति वक्रोक्ति को काव्यक्रिया लक्षण-व्यापार कहते हैं।"

—वक्रोक्ति और अभिव्यंजना, पृ० १५६

मानते हैं अलंकार-विधान दोनों ही काव्य सौंदर्य के लिये अनिवार्य मानते हैं 'क्रोचे अभिव्यंजना-व्यापार को सौंदर्य-व्यापक-व्यापार कहते हैं और इसी व्यापार काल को सौंदर्यानुभूति काल मानते हैं; कुंतक भी कवि व्यापार को वक्रोक्ति-जनक-व्यापार कहते हैं और यह वक्रोक्ति उनकी दृष्टि में काव्य के सौंदर्य-विधायक समस्त तत्वों की उपलक्षण है। अतः इनका वक्रोक्ति-व्यापार भी प्रकारांतर से सौंदर्य-व्यापक-व्यापार सिद्ध हुआ।'[1]

सौंदर्य के अतिरिक्त कल्पना-तत्त्व सम्बन्धी साम्य भी दोनों वादों में मिलता है। क्रोचे, कार्य व्यापार का हेतु कल्पना को ही मानते हैं—पर कुंतक (कल्पना शब्द का प्रयोग न करते हुए) भी इसका आधार मानते हैं। 'उनकी 'वक्रता', 'कवि व्यापार', 'वैदग्ध्य', 'उत्पाद्य लावण्य' आदि में कल्पना की व्यंजना असंदिग्ध है।' दोनों की कल्पना तलस्पर्शी होती है।

कविकौशल पर दोनों के विचार एकरूपता रखते हैं। निपुणता का आधार, क्रोचे के अनुसार, कवि की सहजानुभूति है; कुंतक इसे प्रतिभा कहते हैं। क्रोचे कहते हैं कि सफल अभिव्यंजना जन्म के साथ इतनी नहीं जितनी व्युत्पत्ति व अभ्यास के साथ आ पाती है। कुंतक के शब्दों में—"काव्य रचना की बात छोड़ दें तो भी अन्य विषयों में भी अनादि वासना के अभ्यास से संस्कृत चित्तवाले किसी व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुसार ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास होता है, और वे व्युत्पति तथा अभ्यास स्वभाव की अभिव्यक्ति द्वारा ही सफलता प्राप्त करते हैं।"[2]

क्रोचे सहजानुभूति का ज्ञान कई प्रकार का मानते हैं, वैसे ही कुंतक की दृष्टि में प्रतिभा भी अनेक प्रकार की होती है। वही काव्य-विधान का केन्द्रविन्दु है। कवि प्रतिभा अनंत है ('यस्मात् कवि प्रतिभांन न्त्यान्नियतत्वंन सम्भवति') क्रोचे कला सम्बन्धी प्रातिभ-ज्ञान को अन्य ज्ञानों से भिन्न कोटि का मानते हैं, कुंतक भी यही धारणा रखते हैं। 'क्रोचे का कवि साक्षात्कार जो स्वयं प्रकाश का कारण होता है, वह असामान्य अथवा अलौकिक कोटि का होता है, बहुत ही तलस्पर्शी एवं

---

[1] समीक्षा—दर्शन, भाग २ (डॉ० रामलाल सिंह), पृ० ६७

[2] हिन्दी वक्रोक्ति जीवित—१/२४—पृ० ३०

तत्वाभिनिवेशी होता है। कुंतक द्वारा निरूपित कवि की अम्लान प्रतिभा जो वर्ण्य-साक्षात्कार की कारण होती है, वह असामान्य कोटि की होती है।"[1]

६ क्रोचे और कुंतक उक्ति को अखण्ड व असाधारण मानते हैं। अलंकार और अलंकार्य के सम्बन्ध में दोनों की धारणाएँ एक सी हैं। क्रोचे के विचार प्रसिद्ध ही हैं—"यहाँ यह पूछा जा सकता है कि उक्ति में अलंकार का नियोजन किस प्रकार किया जा सकता है? बाहर से? तब तो वह उक्ति से सदैव पृथक रहेगा भीतर से? ऐसी दशा में या तो वह उक्ति का साधन न होकर बाधक हो जाएगा या फिर उसका अङ्ग बनकर अलंकार ही न रह जाएगा। तब तो वह उक्ति का ही एक अभिन्न अङ्ग बन जाएगा।"

कुंतक की धारणा है कि—"अलंकार और अलंकार्य को अलग-अलग करके उसकी विवेचना उस (काव्य की व्युत्पत्ति) का उपाय होने से ही की जाती है। (वास्तव में तो) अलंकार सहित (शब्द-अर्थ और अलंकार की समष्टि) ही काव्य है।" वे मानते हैं कि अलंकार का काव्य में योग नहीं होता, अपितु अलंकृत का ही काव्यत्व है। यद्यपि व्यवहार रूप में इनका पृथक उल्लेख भी किया जा सकता है।

७ दोनों ही मानते हैं कि सौंदर्याभिव्यंजना की श्रेणियाँ नहीं हो सकतीं। क्रोचे के अनुसार असफल अभिव्यंजना अपनी संज्ञा पाती ही नहीं है और सफल अभिव्यंजना में सौंदर्य की मात्रा का अन्तर नहीं, इधर कुंतक ने भी काव्य-मार्गों में प्रकार का भेद माना है सौंदर्य की मात्रा का नहीं।[2]

ये समताएँ तो स्वाभावतः मानव प्रकृति की सदृशता के कारण मिल गई हैं जैसे क्रोचे व कुंतक में 'क' वर्ण एक-सा है, वरना, इन दोनों के सिद्धान्तों में वैषम्य ही अधिक है।

(१) वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद की प्रवर्तन दिशाएँ ही अलग-अलग हैं। वक्रोक्तिवाद तो ध्वनिसम्प्रदाय के विरुद्ध उठा एक साहित्यिक आन्दोलन है, जबकि अभिव्यंजनावाद कलावाद की स्थापना हेतु प्रस्तुत

[1] समीक्षा-दर्शन, भाग २, पृ० ६८

[2] हिन्दी वक्रोक्ति जीवित (भूमिका—डॉ० नगेन्द्र), पृ० २४४

एक दार्शनिक दृष्टिकोण है। कुंतक आचार्य हैं और क्रोचे दार्शनिक; अतः साहित्य और दर्शन के पार्थिक्य को समझते हुए इन सिद्धान्तों की चर्चा करनी चाहिये।

कुंतक रस व अलंकार के मर्म को समझते हुए काव्य को अनुभूति परक स्वीकार करते हैं और समाज को ध्यान में रखकर अपने सौंदर्य (वक्रतापूर्ण) सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हैं, इधर क्रोंचे सौंदर्य-दर्शन को अत्यधिक व्यक्तिनिष्ठ स्वीकारते हुए काव्य को सहजानुभूति या ज्ञानात्मक अधिक मानते हैं। कुंतक के लिये काव्य कवि-कर्म है, मात्र कला नहीं है, क्रोचे उसे कला के अन्तर्गत ही स्वीकार करते हैं।

कुंतक वक्र उक्ति को ही काव्य के भीतर लेते हैं व भामह की भाँति काव्य और वार्ता में स्पष्ट भेद मानते हैं, किन्तु क्रोचे के लिये वक्रोक्ति व स्वभावोक्ति में कोई अन्तर नहीं, उनके लिये कुंतक की भाँति चमत्कार या विदग्वता की अनिवार्यता नहीं है।

कुंतक कवि-व्यापार या कौशल को काव्य के लिये प्राणतत्व मानते हैं और क्रोचे सहजानुभूति को 'इन दोनों में कवि-व्यापार की परिधि अधिक व्यापक है। उसके अन्तर्गत काव्य का भावन व्यापार और रचना प्रक्रिया, क्रोचे के शब्दों में सहजानुभूति तथा बाह्य अभिव्यंजना दोनों का समावेश है।'[1]

क्रोचे ने आन्तरिक क्रिया को महत्व दिया है और बाह्यरचना (Externalization) को अनिवार्य नहीं समझा किन्तु कुंतक आन्तरिक व्यापार को मानते हुए भी रचनाकौशल की अनिवार्यता भी स्वीकार की है। कहने का तात्पर्य यह है कि मन की परोक्ष सत्ता का सम्बन्ध काव्य रूप का होने के कारण उसका महत्त्व समझते हुए कुंतक ने शब्दार्थ व अभिव्यंजना दोनों को स्वीकारा है, पर क्रोचे इस सम्बन्ध को न समझ पाने के कारण बाह्य अभिव्यजन से डरते रहे।

क्रोचे ने कल्पना को अत्यधिक महत्त्व दिया है उसे मूर्ति विधायनी भी कहा है, उसके बिना कलाओं का कोई महत्त्व ही नहीं है, पर कुंतक ने वक्रोक्ति को सर्वालंकाररूपा कहकर कल्पना को स्वीकारते हुए उसे भावाश्रित माना है। कल्पना का भावों के बिना स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं

---

[1] हिन्दी वक्रोक्ति जीवित—भूमिका, पृ० २४५

है। क्रोचे कल्पना को आत्मा की निजी क्रिया मानते हैं, भाव प्रेरित कल्पना ज्ञानरूपा बन जाती है जबकि कुंतक की दृष्टि में 'भाव द्वारा प्रेरित कल्पना, भाव के ही संचार में योग देती है।'

सौंदर्य को क्रोचे पूर्णतया मानसिक मानते हुए उसकी स्थिति मन में मानते हैं, भौतिक पदार्थों में उसकी अवस्थिति स्वीकार नहीं करते। वे 'सौंदर्य बोध का अर्थ लेते हैं उन प्रभावों का ग्रहण जो सौंदर्यात्मक अभिव्यंजना के योग्य हैं', जबकि 'कुन्तक की दृष्टि में सौंदर्य बोध का अर्थ वर्ण्य के उस विचित्र स्वरूप का दर्शन है जो लोकोत्तर चमत्कारकारी तथा सहृदयजन आह्लादकारी होता है। कुंतक सौंदर्य को वस्तुनिष्ठ एवं व्यक्ति निष्ठ दोनों मानते हैं।'[1]

इसके अतिरिक्त क्रोचे सौंदर्याभिव्यक्ति को ही सफल अभिव्यंजना मानते हैं, उसमें किसी प्रकार का विभाजन पसन्द नहीं करते क्योंकि विभाजन या वर्गीकरण कलाकृति के सौंदर्य को समाप्त कर देता है। 'कुंतक सौंदर्याभिव्यक्ति का अर्थ वक्रोक्ति से लेते हैं जिसमें काव्य के सभी तत्व अपने संतुलित व मनोरम ढंग से अविस्थित रहते हैं, साथ ही उसका विभाजन भी करते हैं—इसी से काव्य सौंदर्य का स्वरूप स्पष्ट रूप से उजागर होता है।

कुंतक कवित्व शक्ति या प्रतिभा पर विशेष बल देने के कारण कवि के व्यक्तित्व का विकास जन्म से ही मानते हैं, साथ ही व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा उसकी पुष्टि करते हैं, क्रोचे अनुभूति के महत्त्व के आधार पर मनुष्य को जन्म से कवि-रूप में स्वीकार करते हैं।

'वक्रोक्ति में सौंदर्य की कमी का कारण प्रतिभा की कमी, अपरिपक्वता या म्लानता है···अभिव्यंजना की कमी का अर्थ अनुभूति की कमी है। अभिव्यंजना में सौंदर्य का कारण अनुभूति की तीव्रता या मार्मिकता है।'[2]

इसके अतिरिक्त 'वक्रोक्तिवाद की प्रकृति अलंकार की ओर विशेष तत्पर दिखाई देती है'। लेकिन अभिव्यंजनावाद का वाह्यरूप से अलंकार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अलंकार अनुगामी होकर अभि-

---

[1] समीक्षा दर्शन (द्वितीय भाग) डॉ० राम लाल सिंह, पृ० ७०

[2] समीक्षा दर्शन भाग २ –डॉ० रामलाल सिंह, पृ० ७३

व्यंजना के पीछे चल सकता है, वक्रोक्तिवाद की भांति सहगामी होकर नहीं।'[1] अभिव्यंजनावाद में वक्रोक्ति का स्थान है ही स्वाभावोक्ति का भी स्वागत है। 'जिस उक्ति से किसी दृश्य का मनोरम विम्व ग्रहण हो, वह वक्रताहीन रहने पर भी अभिव्यंजनावाद की चीज है।'

वक्रोक्ति केवल काव्यकला की वस्तु है, अन्य ललित कलाओं में उसका नियोजन असम्भव है, किन्तु अभिव्यंजना सभी कलाओं में अपेक्षित और सुलभ है। कोई भी कल्पनाशील व्यक्ति अपने मन-स्थित चित्र को कोई रूप-विधान दे सकता है। किन्तु काव्यकला के अन्तर्गत कुंतक ने वक्रोक्ति को 'आत्मा' कह कर अन्य सभी तत्त्वों का समावेश इसी में करा दिया।[2]

वक्रोक्तिवाद में वस्तु की उक्ति (कवि-कौशल) से पृथक् सत्ता मानी गई है। कुंतक ने सहज और आहार्य-वस्तु के दो भेद किये हैं।' प्रवन्ध वक्रता का सम्पूर्ण विवेचन ही वस्तु—और कवि-कौशल के पार्थक्य पर आश्रित है, परंतु अभिव्यंजनावाद वस्तु को उक्ति से अभिन्न मानता है।' हाँ, वह कला-सौंदर्य का मुख्य आधार रूपाकार को ही मानता है।

अभिव्यंजनावाद भावझंकृतियों की अन्विति (सहजानुभूति) पर आश्रित है, अतः भाव (रस) से उसका सम्वन्ध अन्तरंग और तात्त्विक है, परंतु वक्रोक्तिवाद 'कवि-कौशल पर आश्रित है। इसलिए उसका रस से सम्वन्ध वहिरंग एवं औपाधिक है। अभिव्यंजनावाद का तत्त्व-रूप में रसवाद से कोई विरोध हो ही नहीं सकता।'

जीवन और जगत् सम्वन्धी दोनों की मान्यताएं भी भिन्न हैं। क्रोचे के अनुसार कवि अन्तःसंस्कारों को जीवन-जगत् से ही ग्रहण करता है, इस प्रकार वह परोक्ष रूप से ही उनका सम्वन्ध स्वीकारता है। कला की अपनी स्वतंत्र सत्ता वे मानते हैं। कुंतक काव्य और जीवन के प्रत्यक्ष सम्वन्ध को ही मानते हुए कवि-व्यक्तित्व, कवि शक्ति व अन्य तत्वों को परस्पर सम्वन्ध मानते हैं। अतः कुंतक की दृष्टि में काव्य और जीवन का गहरा सम्वन्ध है—वे एक दूसरे के पार्थक्य की कल्पना ही नहीं कर सकते।

---

[1] काव्य में अभिव्यंजनावाद—श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

[2] शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त—डॉ० त्रिगुणायत

काव्य प्रयोजन :

इस दृष्टि से भी कुंतक और क्रोचे में अन्तर है। कुंतक की दृष्टि में काव्य का उद्देश्य सहृदयों का आनंद प्रदान करना, व्यवहार सौंदर्य व चतुवर्ग-फल-प्राप्ति कराना है। इस प्रकार उनके काव्य का उद्देश्य-जीवन से ही सम्बद्ध है। देहवादी आचार्य होकर भी वे मूल भारतीय-प्रयोजनों से हट नहीं सके। मानव-जीवन के आदर्शों व कर्तव्यों से वे विमुख नहीं हो पाये। वे काव्य में लोकौचित्य रीतिनीति की व्यापक रूप से चर्चा करते हैं और काव्य को इससे पूर्णतया सम्बद्ध मानते हैं।

क्रोचे इन सब बातों से परे काव्य का उद्देश्य कलात्मकता में ही स्वीकारते हैं क्योंकि किसी कलाकृति में कलात्मकता की रक्षा करने पर कला के जीवन सम्बन्धी अन्य उद्देश्य अपने आप सिद्ध हो जायेंगे और इसके विरुद्ध कला का उद्देश्य...अन्य जीवन सम्बन्धी बातों को बताने पर कलाकृति की कलात्मकता में कमी आएगी।"

क्रोचे की दृष्टि में कला का सम्बन्ध सत्यं शिवं से नहीं है—तर्क व नीति शास्त्रों से उनका सम्बन्ध है। कला का सम्बन्ध तो मात्र सुन्दर से ही है और अन्य विषयों से उसकी आलोचना भी नहीं की जानी चाहिए। काव्य का मूल्य सुन्दर शब्दों द्वारा ही आंका जाना चाहिए। क्रोचे रीतिनीति, आदर्श, आचार विचार को कला के क्षेत्र से दूर ही रखना पसंद करते हैं।

'कुंतक की समीक्षा काव्यनिष्ठ अधिक है, क्रोचे की समीक्षा कला निष्ठ अधिक है।'[1]

इस प्रकार दोनों वाद कतिपय बातों में साम्य रखते हुए मूलतः परस्पर विरोधी हैं। □

---

[1] समीक्षा दर्शन २. पृ० ७८

७

# यथार्थवाद

यथार्थवाद : इतिहास के पृष्ठों से :

१९वीं शती में मानव अपने भीतर एक विचित्र सी हलचल और विचारों में एक निराला स्पंदन महसूस करने लगा था। फ्रांस की राजक्रांति, ज्ञानविज्ञान की प्रगति और थोथी मान्यताओं की आलोचनाओं ने मानव दृष्टि व विचारधारा में एक अभूतपूर्व परिवर्तन किया। उसकी दृष्टि यथातथ्यवादी (वस्तुवादी) बनी।

यथार्थवाद को पनपाने में अनेक प्रवृत्तियों ने योगदान दिया।

विज्ञान ने मानवजीवन, विचारधारा और अन्य सम्बन्धों में क्रांतिकारी परिवर्तन किये हैं। पुरानी अनेक मान्यताओं और रूढ़ियों को विज्ञान ने एक ही झटके में समाप्त कर मनुष्य को यथार्थ के धरातल पर खड़ा किया। दैनिक जीवन की अनेक समस्याओं का समाधान विज्ञान द्वारा होने पर पुराने आदर्शों पर कुठाराघात होना आवश्यंभावी था।

भौतिकवादी दृष्टि को अधिक सम्पन्न करने का काम डार्विन ने किया। मानवजीवन के क्रमिक विकास में भौतिक शक्तियों के प्रभाव को स्वीकारते हुए डार्विन ने जीवन-विकास के सम्बन्ध में नयी प्रस्थापनाएँ कीं, जो यथार्थवादी थीं। इसी आधार पर मानव सम्बन्धों की जांच पड़ताल वैज्ञानिक दृष्टि से की जाने लगी। साहित्य में प्रकृतवाद (नेचुरलिज्म) की धारा चल पड़ी।

फ्रायड के मनोविज्ञान के आधार पर अवचेतन मन की प्रतिक्रियाओं पर सूक्ष्मता से विचार हुआ और उसी के आधार पर साहित्य में यथार्थ चित्रण की प्रवृत्ति बढ़ी। प्रत्येक वस्तु को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने का अर्थ हुआ आध्यात्मिक, धार्मिक व नैतिक मान्यताओं से मुक्ति। इस पद्धति ने यथार्थवादी विचारधारा का अत्यधिक विकास किया।

मार्क्स ने भौतिक शक्तियों को प्रधानता देने की अपेक्षा मनुष्य को प्रधानता दी जो अर्थ से प्रभावित होकर साहित्य-रचना करता है। समाज में बढ़ते वर्ग-संघर्ष का यथावत् चित्रण ही साहित्यकार का दायित्व ठहराते हुए मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग का समर्थन करने का परामर्श दिया। फलतः गरीबों; मजदूरों, किसानों आदि उपेक्षित समुदायों का साहित्यकारों ने स्वागत किया और यथार्थवादी दृष्टि से उनका चित्रण व्यापक रूप से हुआ। उनकी समस्याओं, द्वंद्वों व हलचलों का वर्णन पहली बार साहित्य के मंच पर किया गया।

औद्योगिक क्रांति का प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा। उसने काल्पनिक व वायावी-जगत् में रहने वाले मनुष्य को ठोस धरती पर खड़े होकर जीवन की विशेषताएँ परखने का अवसर दिया। विज्ञान ने भौगोलिक सीमाएँ कम कर दी थीं, अतः मानव यथार्थ का रूप लिये हुए जीवन यापन हेतु कटिबद्ध हुआ।

इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि योरप में साहित्य की धारा आदर्श की अपेक्षा यथार्थ वस्तुस्थिति की ओर अग्रसर होने लगी। फ्रांस में पूंजीपतियों की पतनोन्मुखी अवस्थाओं का परिचय तत्कालीन साहित्य में मिलने लगा। 'स्तादल' के बाद बालजाक ने जीवन की नित्य प्रतिदिन सामने आने वाली स्थितियों का अंकन किया। इसी प्रकार फ्लावेयर ने ऐसे क्षुद्र व नगण्य चित्रों को उच्चकलात्मक स्तर पर प्रतिष्ठित किया और व्यर्थ के दिखावे की पोल खोली। विक्टर ह्यूगो के उपन्यास 'हंचबैक आफ नैटरेडम', 'ले मिजरेबल' आदि ने उपेक्षित व हीन पात्रों को महान मानवीय गुण प्रदान करते हुए उन्हें विश्व के उच्चतम पात्रों की श्रेणी में ला खड़ा किया।

## यथार्थवाद : कतिपय परिभाषाएं :

### (क) पाश्चात्य विद्वान :

(१) "यथार्थवाद साहित्य में एक पद्धति (Method) नहीं बल्कि एक विचारधारा (Tendency) है"

—कज़ामियाँ

(२) "यथार्थवाद का प्रश्न साहित्य में मुख्यतः सत्य से अल्पांश भी सम्बन्ध नहीं रखता, बल्कि उसका सम्बन्ध केवल रचना की कलात्मक शैली से है।"

—स्टीवेन्सन

(३) "साहित्य में यथार्थवाद उस पद्धति को कहते हैं जिसका उद्देश्य जीवन में सभी वस्तुओं का पूर्ण निष्ठामय चित्रण एवं प्रकृति का पुनः प्रस्तुतिकरण है। यह प्रवृत्ति सौन्दर्य के हेतु—वास्तविकता के आदर्शीकरण को अभिव्यंजना के शैलीकरण को और आध्यात्मिक तथा अतिप्राकृतिक विषयावस्तु के निर्वाह को अस्वीकारती है।"

—एच० लेविन ('कम्पैरेटिक लिटरेचर' पृ० २८४)

(४) "साहित्यिक समालोचना में यथार्थवाद शब्द का प्रयोग, आदर्शवाद और स्वच्छंदतावाद के विरोध में उन साहित्यिक कृतियों के लिए किया जाता है जो वास्तविक जीवन की अनुकृति में निर्मित होती हैं और जो अपनी विषयवस्तु वास्तविक जीवन से ग्रहण करती है। यथार्थवादी लेखक वह होता है जो वस्तून्मुखी-दृष्टिकोण धारण करता है और अपनी रचना में अपनी व्यक्तिगत भावनाओं एवं विचारों को सन्निविष्ट न कर अपनी विषयवस्तु का निर्वाह फोटोग्राफिक, विवरणात्मक अथवा हीन शैली में करता है।"

—शिपले (डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेचर पृ० ४७०)

(ख) भारतीय विद्वान :

(१) "यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है, साहित्य के माने हुए सिद्धांत के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।"

—जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १२०.

(२) "यथार्थवाद चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा। उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ और खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं।

यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा रहता है। चूंकि संसार में बुरे चरित्रों की प्रधानता है, यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ दाग़ दबा रहता है; इसलिये यथार्थवाद हमारी दुर्बलता, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है।"—प्रेमचन्द

(३) "कला क्षेत्र में यथार्थवाद ऐसी एक मानसिक वृत्ति है जो निरन्तर अवस्था के अनुकूल परिवर्तित और रूपायित होती रहती है।" '....यथार्थवाद का मूल सिद्धान्त है, वस्तु को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करना...'

—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

(४) "यथार्थवाद वस्तुओं की पृथक सत्ता का समर्थक है। वह समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की ओर अधिक उन्मुख रहता है। यथार्थवाद का सम्वन्ध प्रत्यक्ष वस्तुजगत् से है।"

—आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी

(५) "महान साहित्य और कला सदा निर्विकल्प रूप से जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिविम्वित करती है, अतः उसकी एक कसौटी भी उसका यथार्थवाद है।"

—शिवदान सिंह चौहान

(६) "यथार्थवाद वस्तुओं की पृथक् पृथक् सत्ता का समर्थक है। वह समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की ओर अधिक उन्मुख रहता है। यथार्थवाद का सम्वन्ध प्रत्यक्ष वस्तु जगत से है। यथार्थवाद अपने को वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न वताता है। वह सत्य का खोजी हुआ करता है और उसका सत्य वही है, जिसे वह अपनी इन्द्रियों की सहायता से जान पाता है।...यथार्थवाद किसी लक्ष्य विशेष को महत्व न देकर, जो कुछ अनुभव में आता है और वुद्धि से सिद्ध होता है, उसी का हामी है।

—नन्द दुलारे वाजपेयी : 'आधुनिक साहित्य' पृ० ४२०.

## साहित्य में यथार्थवाद :

साहित्य, जीवन प्रवाह की महत्त्वपूर्ण वीचियों की गाथा है। प्रवाह के साथ साथ साहित्य की गाथा भी निरंतर चलती रहती है। जीवन सत्य अपनी सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ उद्घाटित होता रहता है। कभी कभी उस प्रवाह में मोड़ लाने का काम भी साहित्य करता है और इस दृष्टि से जीवन में क्रान्ति व नयी दिशाओं की ओर प्रेरित होने की स्फूर्ति आ जाती है।

साहित्य का मूल लक्ष्य श्रेष्ठतर मानव का निर्माण माना गया है। किन्तु वास्तव में सांसारिक जीवन उतना सरल नहीं होता जितना अनुमान लगाया जाता है। सागर निज़ामी ने एक वार कहा था—

"आसान नहीं, इस दुनिया में ख्वाबों के सहारे टिक रहना
संगीन हकीकत है दुनिया, यह कोई सुनहरा ख्वाब नहीं।"

इस हकीकत (यथार्थ) का चित्रण जब साहित्य में होता है, वह यथार्थवादी-साहित्य कहलाता है। मानवजीवन की आशा-निराशा, उत्थान-पतन, सुखदुख सभी तो इस यथार्थवादी साहित्य के अंग बने हुए हैं। साहित्यकार इन सब की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति कर मानवमन को आकर्षित करता है। इसी यथार्थ अभिव्यक्ति में जहाँ साहित्यकार की श्रेष्ठता सिद्ध होती है, वहाँ मानवमन को आगे के लिए प्रकाश-रेखा भी मिल जाती है।

जीवन और साहित्य के यथार्थ में अंतर इसी कारण होता है। जीवन की असंगतियाँ, कुण्ठाएँ, अनास्थाएँ साहित्य में यथातथ्य रूप पाकर भी विकृतियों का जन्म नहीं करतीं, कचोटती हैं, सचेत करती हैं। निष्क्रियता के स्थान पर सक्रियता, अनास्था के स्थान पर आस्था, निराशा के स्थान पर आशा केवल साहित्यिक यथार्थ के माध्यम से प्राप्त होता है। महादेवी वर्मा के शब्दों में—"यथार्थ की कविता को जीवन के उस स्तर पर रहना पड़ता है, जहां से वह हमें जीवन के भिन्न वर्णी चित्र ही नहीं देती, प्रत्युत उनमें व्यक्त जीवन के प्रति प्रतिक्रियात्मक संवेदन भी होता है।" (आधुनिक कवि भाग २, पृ० १८)

जीवन की विराटता और अनंतता साहित्य में भी अभिव्यक्ति पाती है। साहित्यकार की दृष्टि पैनी और लेखनी कल्पनाशील होनी चाहिए, तब छोटी से छोटी वस्तु भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है और जीवन की अनंतता के महत्वपूर्ण अंग की भांति यथार्थवादी साहित्य से उद्भूत होती है। 'लघुता के प्रति साहित्यिक दृष्टिपात' इस साहित्य की अपनी विशेषता है।

दार्शनिक यथार्थवाद में वाह्य संसार का अस्तित्व स्वीकारा जाता है और कोरे विचारों को व्यर्थ बताया जाता है। साहित्य में भी यही प्रवृत्ति है। कोरे विचार या आदर्शवादिता का विरोध करते हुए यथार्थवादी साहित्यकार वाह्य या यथार्थ जगत् का ही समर्थन करता है और मानता है कि जीवन की यथातथ्य अनुकृति व अभिव्यक्ति साहित्य में होनी चाहिए। इसीलिए शायद यथार्थवादी लेखक उसे भी कहा जाता

है जो जानबूझ कर सुन्दर व संतुलित विषयों को ग्रहण नहीं करता और कुरूप व असंगत विषयों के वर्णन में अपनी रुचि प्रदर्शित करता है। इसके अतिरिक्त वह व्यक्ति का नहीं जातियों का वर्णन करता है और यथासंभव तथ्यों को वैसा ही प्रस्तुत करता है जैसे वे होते हैं। इस बात को सराहा जाता है कि लेखक ईमानदारी के साथ, बिना किसी भय व प्रलोभन के, समस्त तथ्यों का संकलन प्रस्तुत करें।

## यथार्थवाद और प्रकृतवाद :

हम पीछे देख चुके हैं कि डार्विन, स्पेंसर आदि वैज्ञानिकों ने प्रतिपादित किया था कि मनुष्य अन्य जीवधारियों से अधिक श्रेष्ठ नहीं, अपितु उन्हीं का विकसित रूप है, वह भी प्रकृति का ही एक अंग है, व उसी से परिचालित है।

प्रकृतवाद उन्नीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक आन्दोलनों के समय प्रस्फुटित हुआ। इस वाद ने मानव को प्रकृति की ओर पुनः प्रवृत्त होने के लिए बाध्य किया। 'फलतः प्रकृतवाद को विकासवादी-विचारधारा और जीव वैज्ञानिक उद्भव और सृष्टि के सिद्धान्तों और मानव-अनुभव के विभिन्न पहलुओं के साथ जोड़ा गया।' बिजली का चमकना, आँधी का चलना जैसे प्राकृतिक कार्य हैं, वैसे ही मनुष्य की अपनी मान्यताओं द्वारा परिपुष्ट कार्यपद्धति भी प्राकृतिक कार्य है।

इस प्रकार 'प्रकृतवाद' का प्रयोग विविध अर्थों में हुआ[1]—

(१) जिन कृतियों में प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति अभिरुचि व्यक्त की जाती है।

(२) जिन रचनाओं में जीवन के समस्त कार्य व्यापारों का यथावत् चित्रण हो।

(३) मानव को प्रकृत जगत् का अभिन्न अंग माना जाता है। धर्म व नीति में इसकी आस्था का प्रश्न ही नहीं उठता। फलस्वरूप वे मानव के आध्यात्मिक पक्ष के स्थान पर उसके शारीरिक पक्ष को महत्त्व व उसके आदर्शों की सारहीनता व व्यर्थता का विवेचन किया जाता है। जहाँ आदर्शवादी लेखक मानव का अतिभव्य चित्रण करते हैं,

---

[1] मानविकी पारिभाषिक कोश—'साहित्य खण्ड' पृ० १७८

वहां ज़ोला व ड्रेज़र जैसे प्रकृतवादी लेखक मानव के हीनतर पक्ष तथा उसकी पाशविक वृत्तियों का अंकन करते हैं। इनकी आस्था मानव सुधार में कतई नहीं है। सभी मानव 'जीवन-संघर्ष' में उलझे हुए हैं और निर्बल को हटाकर सबल विजयी होते जाते हैं, अतः करुण, सहानुभूति, त्याग, सहयोग की चर्चा इस प्रकृत जगत् में व्यर्थ है।

तीसरे रूप में ही 'प्रकृतवाद' का प्रचलन ही सर्वाधिक है।

यथार्थवाद और प्रकृतवाद के प्रेरणास्रोत एक होने के कारण दोनों को एक ही समझने की भूल कर दी जाती है। डॉ० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा वर्णित यथार्थवादी विशेषताएँ प्रकृतवाद की विशेषताएँ मानी गई हैं। द्विवेदीजी के अनुसार—यथार्थवादी (वस्तुतः प्रकृतवादी), वस्तु के इर्दगिर्द की प्रत्येक बात का ब्यौरेवार विवरण उपस्थित करता है और गंदी तथा घिनौनी समझी जाने वाली चीजों का विशेष रूप से उल्लेख करता है; वस्तु के साथ अत्यंत क्षीण रूप से सम्बद्ध व्यक्तियों की चर्चा करता है, समसामयिक घटनाओं व रीतियों का उल्लेख करता है, विभिन्न पात्रों की बोलियों का लेखन करता है, चाहे उनमें अश्लील गालियां भी क्यों न हों; विभिन्न व्यवसाय के लोगों की पारिभाषिक शब्दावली का व्यवहार व घटनाओं की सच्चाई उपस्थित करने के लिये पत्रों सनदों आदि का भी व्यवहार करता है।[1]

कतिपय समीक्षक प्रकृतवाद को निम्नकोटि का यथार्थवाद ठहराते हुए कहते हैं कि 'यथार्थवाद और प्रकृतवाद में सैद्धान्तिक स्थूल भेद यही है कि साहित्य में यथार्थवाद मुख्यतः भावुकता, रोमानवाद और आदर्शवाद का तिरस्कार है। प्रकृतवाद न केवल इनको तिलाँजलि देता है, अपितु और आगे बढ़कर भौतिक और याँत्रिक अनुमानों पर आवृत एक नए जीवन दर्शन का निरूपण करने लगता है।'[2] प्रकृतिवादी लेखक अपने पात्रों को परिस्थितियों के अनुरूप चित्रण करते हैं, इसके अतिरिक्त उनका ध्यान सामाजिक या नैतिक दायित्व की ओर नहीं जाता। ज़ोला स्वयं स्वीकारते थे कि प्रकृति की ओर लौटना ही मनुष्य के विकास का सूचक है।

---

[1] हिन्दी साहित्य—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २८.

[2] पाश्चात्य काव्य शास्त्र : सिद्धांत और वाद, सं. डॉ० राजकुमार, पृ० १४२.

## यथार्थवाद : उपलब्धियां :

'जीवनप्रवाह का प्रतिनिधित्व करने वाले सत्य को ग्रहण करके यथार्थवाद अत्यन्त शक्तिशाली बनता है और वह उस आदर्शवाद को सहज ही धराशायी कर देता है जो जीवन सम्पर्क के अभाव में ओजहीन, सामर्थ्यहीन हो जाता है। यह यथार्थवाद समाज के कल्याण का विधायक है, उसके लिये आशीर्वाद स्वरूप है।' शुक्लजी के यथार्थवादी विचारों पर टिप्पणी करते हुए श्री गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने ये शब्द कहे हैं।[1]

रचनात्मक यथार्थवाद समाज के लिए उपयोगी है। विगत युगों के थोथे आदर्शों व मूल्यों को छाती से लगाये रख कर हम स्वयं को विराट् जगत की गतिविधियों से दूर कर लेते हैं और निर्जीव आदर्शों व मान्यताओं से जीवन में गतिरोध उत्पन्न कर लेते हैं। यहां यथार्थवादी साहित्य हमारा सहायक होता है। 'जीवन से सम्पर्क त्याग करके ही आदर्शवाद दुर्बल बना है और यथार्थवाद उसके द्वारा रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए कार्यक्षेत्र में आया है। अब कहीं ऐसा न हो कि अपने लक्ष्य से भ्रष्ट होकर असफल यथार्थवाद भी भटकता रहकर समाज के सामने एक नयी समस्या खड़ी कर दे।'

प्रसादजी ने इस वाद की विशेषताएँ जो बतायी थीं, उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। 'व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख' निश्चित रूप से साहित्य के बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करता है। साहित्य जहाँ कोरा सामंती या आभिजात्य वर्ग की जीवनचर्या तक सीमित रह जाता है तो निश्चित रूप से समाज के लिये अहितकर होता है, क्योंकि वह जनसाधारण का प्रतिनिधित्व नहीं करता एकांगी रह जाता है।

महादेवी वर्मा स्वीकार करती है कि यथार्थवाद ने लघुता और कुत्सित क्रूरता के प्रति हमारी संवेदनीय करुणा और कोलमता को जाग्रत किया है।

निस्संदेह समाज की अंध मान्यताओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने का प्रयास यथार्थवाद ने किया है और उसे सफलता भी

[1] समीक्षक प्रवर श्री रामचन्द्र शुक्ल–गिरीश, पृ० २६६

मिली है। इमर्सन ने कहा भी था कि "मुझे महान, दूरस्थ और काल्पनिक नहीं चाहिये, मैं साधारण का आलिंगन करता हूँ, मैं सुपरिचित और निम्न के चरण में बैठता हूँ।" परिवर्तनशील जगत् को पहचान कर उसी के अनुरूप प्रभाविष्णु चित्रण करना कलाकार का काम होता है। श्री शिवदानसिंह चौहान ने कहा था—'जो अपनी उपयोगिता समाप्त करके मिट रहा है, वह असत्य है और जो उभर रहा है, वही सत्य है।' यथार्थवादी साहित्य उभरते सत्य को वाणी देता है, वह 'किसी पिटी-पिटाई सड़क पर चलकर, अपनी नियामक शक्ति का जलवा नहीं दिखाना चाहता। वह बहुत ही स्थूल, एक दम एकांगी और असंवेद्य होगा। उसके लिये बंधन इतना ही लगाया जा सकता है, कि वह सामाजिक हो और सामान्य अनुभूतियों के मेल में यथार्थ का अंकन करे।'[1]

(प्रो० विजयशंकर मल्ल)

आज का बुद्धिजीवी वर्ग स्वीकारने लगा है कि दर्शन, धर्मशास्त्र की अपेक्षा विज्ञान की ओर अधिक झुक गया है। सत्यं शिवं सुन्दरम् के सम्बन्ध में भी यथार्थवादी दर्शन अधिक वैज्ञानिक हो गया है। सत्य वह है जो मानव मस्तिष्क द्वारा परिपुष्ट हो, यानी 'बाह्य वास्तविकता जब मस्तिष्क से परिज्ञात हो जाती है तो वह सत्य बन जाती है।' इसी प्रकार शिवत्व की परीक्षा भी परिस्थिति व काल के अनुरूप होनी चाहिये। समय ही सबसे उत्तम कसौटी है। भलाई-बुराई समय सापेक्ष है। यही बात 'सुन्दर' के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। बिहारी ने भी कहा था—'समय समय सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय'। यथार्थवाद के अनुसार प्रकृति के तत्त्वों में स्वाभाविक रूप और सौंदर्य होता है, अतः सौंदर्य सृष्टि के नाम पर पदार्थों का कल्पित-रूप-विन्यास उसके स्वाभाविक रूप को विकृत बना देता है। इस प्रकार यथार्थवाद ने निर्णय दिया कि सत्य, शिव, सुन्दर व्यक्तिगत मूल्य नहीं है, वे विषयिगत स्तरों पर ही नहीं विषयगत स्तरों पर ही अवस्थित होते हैं।[2] 'कितनी चिड़िया उड़े आकाश, दाना है धरती के पास'।

### यथार्थवाद : सीमाएँ :

आचार्य शुक्ल मानते हैं कि कभी कभी यथार्थवाद जीवन-प्रवाह

---

[1] दे० हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, डॉ० त्रिभुवनसिंह, पृ० २६

[2] आधुनिक हिन्दी-काव्य में यथार्थवाद—डॉ० परशुराम शुक्ल, पृ० ३६५

का आभास मात्र का चित्रण करता है। अव्यवहार्य, संकीर्ण आदर्शों की दुहाई देकर वह एक ओर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहता है और दूसरी तरफ जीवन प्रवाह के स्वस्थस्वरूप से पलायन कर जाता है, वह स्वस्थस्वरूप के प्रतिकूल जाकर पग पग पर उसके विरोधी आवरण की ओर चलता है।

हितकर यथार्थवाद की चर्चा करते हुए उन्होंने स्वीकारा था कि जीवन की प्रगति तथा उसके प्रसार के लिए अर्थ–काम का जितना उपयोग व उपभोग जरूरी है उससे कोई भी वंचित न रह जाय। यथार्थवाद यदि इनसे सम्बन्ध विषमताओं को लक्ष्य बनाकर मानवीय गुणों का प्रचार व प्रसार करता है तो समाज के हितकर है।[1] किंतु आज ऐसे मार्गदर्शन की प्रवृत्ति यथार्थवाद में नहीं है, वह व्यक्ति को और भी मोहग्रस्त बनाकर उसे विनाश के कगारे पर खड़ा करती है। उस साहित्य से क्या लाभ होगा जिसके कारण व्यक्ति प्रगति की अपेक्षा नियति की ओर जाय व औरों को भी अपने साथ पतित करता चले। ऐसे साहित्य को कदापि प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि यथार्थवादी साहित्य में कल्पना के द्वारा जब वस्तु को विचित्र रंगों से अनुरंजित किया जाता है या किसी धर्म या नीति के लिए उसमें कांट-छाट की जाती है तो उसमें जीवन के स्वस्थ उपकरणों का अभाव दिखाई पड़ने लगता है।[2]

यथार्थवादी टाल्स्टाय भी यथार्थवाद की मात्रा और विवरणों की सच्चाई के आधार पर कलाकृति का मूल्यांकन करना उचित नहीं समझते, वह उतना ही विचित्र है "जैसे शक्ल के आधार पर भोजन की पौष्टिकता आँकना।' यथार्थवादिता के आधार पर आँकने का अर्थ है, उसके अनुकरण की चर्चा करना। वस्तुतः अनुकरण की अत्यधिक प्रवृत्ति के कारण भी साहित्य की श्रेष्ठता कम हो जाती है।

इतना सब होते हुए भी इस प्रवृत्ति ने साहित्य के विविध क्षेत्रों को अत्यधिक प्रभावित किया है और इसकी गति क्षीण होने पर भी कभी रुकी नहीं है। □

---

१ समीक्षक प्रवर श्री रामचन्द्र शुक्ल–'गिरीश'–पृ० २६७

२ हिन्दी साहित्य–डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २७

८ | अस्तित्ववाद

"मेरा चुनाव और निर्णय बिल्कुल व्यक्तिगत हैं। कोई ईश्वर अथवा सम्पूर्ण सत्ता निर्णय नहीं करती, अपितु मैं अपने-आप निर्णय करता हूँ।" —किर्केगार्द

"ऐसा कोई मनुष्य नहीं हो सकता, जो केवल अपने लिए ही मनुष्य हो।" —कार्ल यास्पर्स

"मनुष्य अपने आप को जो बनाता है, उसके अतिरिक्त वह कुछ भी नहीं है। यह अस्तित्ववाद का प्रथम सिद्धान्त है।" —सार्त्र

* * *

'प्रजातन्त्र और तकनीकी ज्ञान—जो दोनों ही मानवीय आविष्कार हैं—मनुष्य को जड़हीन प्राणी, मशीनों के बीच मशीन और आत्माहीन शिल्पों का दास बनाते जा रहे हैं।'[1] मतपत्र की समानता ने जहाँ एक ओर, व्यक्ति-वैशिष्ट्य को समाप्त किया है, वहाँ दूसरी ओर नौकरियों के समान-अवसर प्रदान कर, पारिवारिक-संगठनों को बिखेरा है। प्लेटो ने कहा था कि प्रजातांत्रिक व्यक्ति के जीवन में कोई कानून, कोई संतुलन नहीं होता। उसके जीवन की दिशा भी अनदिष्ट होती है। इसी प्रकार मशीनों ने मानवीय शक्ति और क्षमता को भी तोड़ा है, उसे बेकार बनाया है। इधर मनोविश्लेषणात्मक-ज्ञान के प्रचार ने व्यक्ति की कुण्ठाओं का प्रदर्शन शुरू किया। जहाँ मानवीय-सांस्कृतिक तत्त्वों का विकास हुआ, वहाँ सभ्यता की प्रगति पर अविश्वास प्रकट किया जाने लगा। दो महायुद्धों की विभीषिकाओं ने मानव-सुरक्षा पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया। ईलियट ने लिखा—

---

[1] The Adventures of Criticism, ('Existentialism & After'), Dr. Iyengar, p. 669

"इस प्रकार विश्व का अंत होता है, धमाके के साथ नहीं हल्की चीख़ के साथ।"

महायुद्धों से पूर्व ही अस्तित्ववादी विचारधारा सामने आ चुकी थी। दर्शन के क्षेत्र में इसने प्रकृतवाद और आदर्शवाद का विरोध किया। प्रकृतवाद के अनुसार विश्व भौतिक नियमों से परिचालित होता है और मनुष्य की स्थिति यंत्र से अधिक नहीं है, उसकी अपनी सत्ता का कोई महत्त्व नहीं है। आदर्शवाद के अनुसार मनुष्य विवेक की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है, वह स्वतन्त्र नहीं है। अस्तित्ववाद, मानव-अस्तित्व को नकारने वाली स्थितियों का विरोधी है।[1]

आज का मानव संकट में है। राज्य, प्रशासनिक सेवा, दल, फेक्टरी आदि सभी मानवीय संस्थाएँ निर्वैयक्तिक और शक्तिशाली हो चुकी हैं। प्रकृति तो मनुष्य से कोसों दूर जा चुकि है; ईश्वर उनके लिए लुप्तप्राय: है; इन सब का परिणाम है हताशा, चिंता और निराशा।[2]

## अस्तित्ववाद : परिभाषा :

देकार्त ने कहा था—'मैं विचार करता हूँ, इसलिए मैं हूँ, किन्तु किर्केगार्द का कथन है कि 'मैं हूँ, इसलिए विचार करता हूँ।' अस्तित्ववादी शब्दकोष में 'अस्तित्व' और 'अस्तित्वमय होना' (to exist) व्यक्ति (being) और 'होना' (to be) के पर्यायवाची नहीं हैं। एक पत्थर या कुर्सी 'है', किन्तु उनका 'अस्तित्व' नहीं है। यहीं तक कि सभी व्यक्तियों का 'अस्तित्व' भी नहीं है। जो लोग दूसरों से प्रभावित होकर या सामूहिक रूप से रहते हैं और अपने 'स्व' को नहीं पहचानते, उनका 'अस्तित्व' नहीं है, वे बस 'जीते' हैं। व्यष्टि-अस्तित्व की जागृति ('Existenzerhellung'—Jaspers) से ही वे अस्तित्व को जानने लगते हैं।

अस्तित्ववादी दर्शन, मानवों के बड़े अंश की हीन भावना क्रूरता व दुष्टता आदि के ज्ञान से प्रारम्भ होता है। दो महायुद्धों ने मनुष्य की चिंतनशक्ति को बदल दिया है। यदि भौतिक सम्पति एकदम

---

1 History of Philosophy: Eastern & Western. Vol II—S. Radhakrishnan, p. 423–4

2 Existentialism & the Modern Predicament—F. H. Heinemann, p. 168

नष्ट कर दी जाये, यदि मित्र और सम्बन्धी नित्य प्रति मारे जायें, तो केवल एक वस्तु ध्यान में आती है, वह है अपना 'अस्तित्व'।

अस्तित्ववाद की निश्चित परिभाषा नहीं हुई है। इसमें अनेक विचारधाराओं का संगम हुआ। सारे अस्तित्ववादी भी एकमत नहीं है। मार्सल, सार्त्र की अपेक्षा यास्पर्स के अधिक निकट है और सार्त्र, मार्सल की अपेक्षा हाइडेगर के, किन्तु एक ही युग और आयु के होने के कारण उनके सन्मुख एकसी चुनौतियाँ हैं। इस प्रकार अस्तित्ववाद एक निश्चित अवस्था, आध्यात्मिक आन्दोलन और विशिष्ट विचार प्रणाली की ओर संकेत करता है, जो जीवंत है और जो जीवंत है, उसकी निश्चित परिभाषा हो ही नहीं सकती। फिर भी उनके कार्यों, परिस्थितियों के प्रति उत्तरदायित्व आदि से अनुमान लगाया जा सकता है। अस्तित्ववादी दर्शन, स्वतंत्रता (Freedom) की अपेक्षा, मुक्ति (liberation) का ही दर्शन है। वे वाह्य-शक्तियों–समाज, राज्य, निरंकुश आदि की-निरंकुशता से मानव की मुक्ति का प्रयास करती हैं। वे अनधिकारी 'आत्म' के बन्धनों से मनुष्य के अधिकारी आत्म की मुक्ति का प्रयास करती है। इस प्रकार अस्तित्ववाद संकट का दर्शन है। यह मानव-संकट को स्पष्ट व प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त करता है।[1]

अस्तित्व मनुष्य के लिए संभावना मात्र है, यह प्रकृति द्वारा दी गई सम्पति नहीं है। स्वयं को समझने की सम्भावना इसमें निहित है। इस प्रकार अस्तित्व, अभूतपूर्व, ऐतिहासिक व निराला है। इस का एक कार्य विवेक (Reason) है। यास्पर्स के अनुसार विवेक ही संयुक्त करता है। इसीलिए अस्तित्वमय जगत् का ही महत्त्व है।[2]

इस विचारधारा की मान्यता है कि हमारी आध्यात्मिक स्थिति के मूल में संकट विद्यमान है। अनुभवों द्वारा उपलब्ध सत्य को ठीक तरीके से न देख पाने के कारण हम आधार रहित होकर समाज के प्रति समर्पित हो जाते हैं, जिसके कारण हमारा आन्तरिक ज्ञान अंधकारमय

---

1 'Existentialism is in all its form, a philosophy of Crisis:—Existentialism & the Modern Predicament —F. H. Heineman p. 167

2 Reason and Existenz—Karl Jaspers, p. 11–12

होता जाता है और अंधश्रद्धा को कार्य का आधार मान लिया जाता है। अस्तित्ववाद ऐसे आध्यात्मिक-संकट की बड़ी मौलिक और सटीक व्याख्या करता है और इस संकट के अन्धकार को पूर्ण प्रतिभा से दूर करने का प्रयत्न करता है। संकट का समय वह होता है, जब 'प्राचीन पर से आस्था हट चुकी होती है तथा नवीन मान्यताओं के ऊपर बौद्धिक व भावात्मक विश्वास पूर्णरूप से नहीं बन पाया होता है।'[1]

अस्तित्ववाद मनुष्य को उसके अस्तित्व का भान कराता है। जर्मन में एक कहावत है—'यह मेरे आन्तरिक अस्तित्व को छूता है।' किर्केगार्द ने इसलिए 'अनिवार्य ज्ञान' की संज्ञा दी। हाइडेगार के शब्दों में 'मनुष्य का सार उसके अस्तित्व में निहित है।' मार्सेल के अनुसार मानव-शरीर विषय और विषायि से परे है। मैं नहीं कह सकता हूँ मैं (विषय रूप) शरीर 'रखता' हूँ और न हीं कहता हूँ कि 'मैं' ही शरीर हूँ (विषयी रूप)। मैं शरीर में भी हूँ और दूसरों में भागीदार भी। अस्तित्व का अर्थ भी संलग्नता और साझीदारी है।[2]

मौनियर के अनुसार अस्तित्ववाद, विचारों के दर्शन एवं वस्तु के दर्शन के विरुद्ध मनुष्य के दर्शन की प्रतिक्रिया है।

## अस्तित्ववाद : सिद्धान्त :

सभी अस्तित्ववादियों ने सिद्धान्तों का निरूपण अपने-अपने ढंग से किया है। फिर भी वे कतिपय सिद्धान्तों पर लगभग एकमत हैं। जैसे वे सभी व्यष्टि-मानव, उसकी स्वतन्त्रता और चुनाव पर बल देते हैं।

## सारतत्व :

अस्तित्ववाद, अस्तित्व को सत्व से प्रधानता देता है। (Existence preceedes essence) सारतत्व या सत्व ही व्यक्ति या वस्तु के निर्माणकारी गुण है, जैसे मैं मनुष्य हूँ तो मनुष्यता मेरा सार तत्व है।

---

[1] पाश्चात्य समीक्षा की रूपरेखा—डॉ० प्रताप नारायण, पृ० १६८

[2] 'Existence means such incarnation and participation'.—(Existentialism, R. V. Das)—History of Philosophy : Eastern & Western, p. 437.

सार-तत्त्व दो प्रकार का हो सकता है—'समष्टिगत (Universal) तथा व्यष्टिगत (individual)। समष्टि तत्व एक जाति के सभी पदार्थों में पाये जाते हैं, इस समष्टि-तत्व के अतिरिक्त जो तत्व किसी एक विशिष्ट पदार्थ में पाये जाय, वे उसके व्यष्टि-तत्व होंगे।' उदाहरणार्थ, चिन्तन शक्ति या विवेक, मनुष्य के समष्टितत्त्व हैं, जिनके अभाव में वह मानव नहीं रहता, देवता या जानवर भले ही बन जाये। व्यष्टि-तत्त्व मनुष्य के निजी गुण हैं जिनके कारण मनुष्य कायर, वीर, ईमानदार या बेईमान कहलाता है। पर व्यक्ति और सत्त्व का अन्तर तो बराबर रहता है।[1] देव शास्त्र के अनुसार यह जगत् दो प्रकार का है—ऐंद्रिय जगत् (Sensible world) और बुद्धि-जगत् (intelligible world)। प्रथम का सम्बन्ध अस्तित्वशील पदार्थों से है तो दूसरे का सम्बन्ध विचारों या सारतत्वों से है। पहले विचार या आदर्श जन्म लेता है और फिर व्यक्ति या पदार्थ।

देवशास्त्रियों व प्लेटो आदि का भी यही विचार था कि किसी भी वस्तु का आदर्श रूप पहले से ही सोच लिया जाता है—वस्तु का अस्तित्व बाद में सामने आता है। आदर्श रूप तो ईश्वर के पास है, उसका अनुकरण मात्र होता है, यानी आदर्श-विचार के बाद ही वस्तु का जन्म होता है। जैसे मेज़ का मौलिक विचार पहले बना फिर मेज़ का अस्तित्व सामने आया। इसी प्रकार व्यष्टि-मानव भी ईश्वरीय मेधा में किसी विशेष अवधारणा की मूर्त सिद्धि है।

हाइडेगर ने सार और अस्तित्व का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि जब हम किसी चीज़ के बारे में पूछते हैं कि यह क्या है, तो हम 'सार' की बात पूछते हैं, और उसे जानने के बाद हम पूछ सकते हैं कि क्या उसका अस्तित्व है? इसका अर्थ यह है कि सार में अस्तित्व शामिल नहीं है। सांसारिक वस्तुओं के लिए कहा जा सकता है कि उन का सार प्रमुख है, जैसे वृक्ष पर पक्षी के आकार के पत्तों से पक्षी का

---

1 "Man may be good, but he is not goodness; however beautiful he may be, he is not Beauty itself"
—पाश्चात्य काव्य शास्त्र के सिद्धान्त : डॉ० शान्तिस्वरूप गुप्त पृ० २४४

सार ज्ञात हो जाता है पर व्यक्ति के लिए ऐसा सोचना असत्य है। मानवीय सत्य का अस्तित्व सार से पूर्ववर्ती है। जैसे यह पूछना उचित है कि 'मैं क्या हूँ।' वजाय इसके कि 'क्या मैं हूँ ?', यहाँ भी अस्तित्व की प्रमुखता है। 'स्व' के गुण ही अस्तित्व के विभिन्न तरीके हैं।[1]

सार्त्र के शब्दों में 'इसका अर्थ यह है कि सर्वप्रथम मनुष्य का अस्तित्व होता है, उसका आगमन होता है, मंच पर अवतरण होता है और इसके बाद ही वह अपनी परिभाषा करता है।'[2] इससे पूर्व वह कुछ था ही नहीं। बाद में ही वह कुछ होता है वह स्वयं अपना ही बनाया हुआ होता है। अतः 'मानवीय स्वभाव की सत्ता नहीं होती, क्योंकि उसकी अवधारणा करने वाला ईश्वर ही नहीं होता।'

इस विवेचन से तीन बातें सामने आती हैं—(क) 'मनुष्य के निर्माण के मूल में कोई सजग प्रयोजन नहीं है; (ख) मनुष्य को उसकी इच्छा के बिना ही इस संसार में धकेल दिया गया है, और (ग) इस संसार में आने के बाद यह मनुष्य का ही कार्य है कि वह अपने जीवन के अर्थ एवं प्रयोजन का निर्णय करे।'[3]

**व्यक्ति की महत्ता** :—१८वीं-१९वीं शती की धार्मिक-सामाजिक मान्यताओं ने व्यक्ति के मूल्य और महत्व पर भारी प्रहार किया था। ईसाइ धर्म में 'पाप बोध' सिद्धान्त ने व्यक्ति को अनिवार्यतः समाज सेवा की ओर प्रवृत्त किया था, उसे समाज के सामने महत्त्वहीन करार दिया था।

हीगेल ने विचार-मात्र को सत्य बतलाते हुए कहा था कि विचार के सम्मुख व्यक्ति नगण्य है। किर्केगार्ड ने सर्वप्रथम व्यक्ति की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा—'वैयक्तिक निश्चय ही घटनाक्रम एवं सारे विकास के तथ्यों को निश्चित करते हैं।' इस प्रकार उसने सामाजिक

---

1 History of Philosophy : Eastern and Western, p. 427–8

2 "First of all, man exists, turns up, appears on the scene, and only afterwards defines himself,"
—Existentialism & Human Emotion–Sartre, p. 15.

3 मानविकी पारिभाषिक कोश—साहित्य खण्ड—पृ० ११५

ऊहापोह में खोये व्यक्ति को उभारने का प्रयास किया।[1] यास्पर्स ने कहा कि इस युग की तकनीकी सभ्यता एक सामाजिक रोग है, जो कि वस्तुगत मूल्यों पर अपनी आस्था रखे हुए है तथा मनुष्य के वास्तविक अस्तित्व की अवहेलना कर रही है। उन्होंने मनुष्य का विश्लेषण तीन स्तरों पर किया है—प्रथम, उसका अनुभववादी अस्तित्व है (Dasein), दूसरा, वह चेतना-स्वरूप है और सत्यों को परखता है, तीसरा, वह आत्मा-स्वरूप (Geist) है और इस स्तर पर वह जीवनानुभूति, संस्कृति, आदर्श आदि सभी को पहचानता है।[2] यही इसका अस्तित्व-वादी रूप है।

सार्त्र अस्तित्ववाद को मानवतावाद कहते हैं, क्योंकि मनुष्य ही सभी मूल्यों का निर्माता है। किसी भी उद्देश्य को मेरे सम्मुख प्रस्तुत नहीं किया जाय, अपितु मैं स्वयं उसकी रचना करूँ, तभी सच्चे मानव की भाँति मेरा अस्तित्व रह सकता है। सार्त्र ने मनुष्य के दो रूप स्वीकार किये हैं—प्रथम (en-soi) वह जो स्वयं ही अपना आदर्श है, जो भौतिक स्वरूप है, दूसरा (pour-soi) जो चेतन-स्वरूप है। चेतन होना स्वयं से परे होना है। पहले स्वरूप (en-soi) को शतरंज के खानों में भरे मोहरे के रूप में मान सकते हैं, एक को हटाने पर 'रिक्तता' (Void) आती है और सभी गतिशील हो जाते हैं। इसी तरह सभी की स्थिति है अच्छाई, बुराई के बिना अस्तित्वमय नहीं होती। दूसरे चेतना सदा रूपयुक्त होती है, जिसकी चेतना नहीं, उसका अस्तित्व नहीं।[3] अतः दोनों स्वरूपों का मिला-जुला रूप (pour-soi-en-soi) ही धारण किया जाता है। इसमें विरोधाभास है, जो स्वयं में है वह उससे परे नहीं हो सकता।

सार्त्र का कथन है कि यदि अस्तित्व सचमुच सार से पूर्ववर्ती है, तो मनुष्य जो कुछ वह है उसके लिए उत्तरदायी है। अतः अस्तित्ववाद

---

[1] प्रतीक, जनवरी १९५२ 'अस्तित्ववाद की परम्परा'—हरिनारायण, पृ० ७४

[2] Reason and Existenz–Karl Jaspers, p. 10–11

[3] Literature considered as Philosophy–E. W. Knight, p. 200

का पहला प्रयास है कि प्रत्येक मनुष्य को, अपने स्व के प्रति सजग किया जाय किंतु जब यह कहा जाता है कि 'मनुष्य अपने लिए उत्तरदायी है' तो इसका यह अभिप्राय नहीं लेना चाहिये कि वह केवल अपने लिये ही उत्तरदायी होता है वह सब मनुष्यों के लिये भी उतरदायी है।[1] इस दायित्व में मानव मात्र का प्रश्न निहित है।

सार्त्र मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों में मानवता को अन्तर्भूत किया जा सकता है। उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि यदि मैं विवाह करना चाहता हूँ तो मेरा व्यक्तिगत मामला नहीं होगा "मैं केवल अपने को ही नहीं वरन् अपने एक विवाह में समूची मानवता को अर्न्तभूत कर रहा हूँ इस लिए मैं अपने लिए उत्तरदायी हूँ और अन्य प्रत्येक व्यक्ति के लिये भी।"

'व्यक्तिनिष्ठावाद' (Subjectivism) के दो अर्थ होते हैं' — एक तो यह कि व्यक्ति निर्णय करता है और अपना निर्माण करता है और दूसरा यह कि 'मनुष्य के लिए मानवीय व्यक्तिनिष्ठावाद का अतिक्रम करना असम्भव है।' इनमें से दूसरा अर्थ ही अस्तित्ववादियो के लिए है।

सार्त्र मनुष्य की महत्वपूर्ण सत्ता को स्वीकारते हैं। उनके शब्दों में – "अस्तित्ववादी मनुष्य के जिस स्वरूप की अवधारणा करता है वह यदि परिभाषा में नहीं बंध सकता तो इसका कारण यह है कि पहले पहल वह कुछ भी नहीं होता। बाद में ही वह कुछ होता है और जो कुछ वह होगा, वह स्वयं अपना ही बनाया हुआ होगा।"

सार्त्र मानते हैं कि 'मनुष्य अपने आपको जो बनाता है उसके अतिरिक्त वह कुछ भी नहीं है।[2]' मनुष्य काई की एक पर्त, गंदगी का

[1] "And when we say that a man is responsible for himself, we donot only mean that he is responsible for his own individuality, but that he is responsible for all men."—Existentialism & Human Emotion—Sartre, p. 16

[2] 'Man is nothing else but what he make of himself. Such is the first principle of existentiliasm.
—Ibid, Sartre p. 15

ढेर या बन्द गोभी नहीं है वरन् आरम्भ से ही वह एक योजना है जिसे अपना बोध होता है। इस योजना से पूर्व कुछ भी विद्यमान नहीं होता। मनुष्य वही होगा जो बनने की योजना उसने बनाई है। मनुष्य वह भी नहीं होगा जो वह बनना चाहेगा, क्योंकि इच्छा (Will) शब्द से हमें साधारणतः एक सचेत निर्णय का भान होता है। सार्त्र के शब्दों में 'एक बार संसार में जन्म ले लेने के बाद तो वह उस सबके लिए उत्तरदायी होता है, जो वह करता है।'

सार्त्र के अनुसार चुनाव (Choice) के लिये मनुष्य स्वतंत्र है, किंतु उसका चयन एकांकी नहीं होता जैसा कि कतिपय आलोचक समझते हैं। वह मानव जाति के प्रतिनिधि के रूप में चयन करता है। 'उस चयन में वह भी सब मनुष्यों का चयन करता है।' सार्त्र मानते हैं कि किसी भी वस्तु का चयन करते हुए उस वस्तु के मूल्य की प्रतिष्ठा भी हम करते हैं। 'हम सदैव 'शिव' का ही चयन करते हैं और जो वस्तु सबके लिए शिव नहीं होती, वह हमारे लिए भी शिव नहीं हो सकती।'

सार्त्र बताते हैं कि यदि आपके प्रतिमान अनिश्चित हैं और वे किसी वस्तुनिष्ठ प्रकरण का निर्णय करने के लिए अत्याधिक भावात्मक हैं, तो उस समय अपनी प्रवृत्तियों पर ही विश्वास रखना चाहिए। मनुष्य की निरपेक्ष भावनाओं की शक्ति ही निर्णय कर सकती है, ऊपर से थोपे हुए जीवन के प्रतिमान नहीं। सार्त्र ने अपने एक शिष्य का उदाहरण दिया, जो अपनी मां का सहारा था और फ्रांस की सेना में भर्ती होने का इच्छुक भी। उसने दोनों में से मां के पास रहना ही चुना, क्योंकि वास्तविक और कटु लक्ष्य को ही व्यापक और संदिग्ध लक्ष्य से अधिक श्रेयस्कर मानना चाहिए।[1]

**स्वतंत्रता की समस्या :**–ग्रीक नाटकों में नायक के पतन का कारण उसकी गलती के साथ साथ नियति का हाथ भी बताया जाता था, पर आज का नायक अपनी ही गलतियों से अपनी स्वतंत्रता खो बैठा है। किर्केगार्ड ने इसके लिए कई समाधान प्रस्तुत किये हैं– उनका विचार है कि व्यक्ति की निराशा का मूल कारण बाह्य (भाग्य) नहीं अपितु आन्तरिक है – इच्छा का पंगु होना। स्वतंत्रता का अर्थ है –

[1] हिन्दी नव्य-समीक्षा—डा० कृष्णवल्लभ जोशी, २५१-५२

आन्तरिक ईमानदारी और अपने आपको बनाने की अभिलाषा। नष्ट करने या जोड़ने की शक्ति और शून्य और ईश्वर के साथ सम्बन्ध रखने की स्वतंत्रता।[1]

हैडेगर के अनुसार इच्छानुसार करने या सोचने का अर्थ स्वतंत्रता नहीं है, इसका अर्थ है यथातथ्य घटनाओं में भाग लेने की आत्म-स्वीकृति।

सार्त्र के अनुसार मनुष्य स्वतंत्र होने के अभिशाप से ग्रस्त है क्योंकि उसने स्वयं अपना निर्माण नहीं किया, फिर भी वह अन्य दृष्टियों से स्वतंत्र है। स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि मुझे चाहे अपने परिवेश को कितना ही क्यों न बदलना पड़े, मैं अपने 'स्व' का हनन नहीं होने दूँगा, अन्यथा मैं 'वस्तु' से अधिक नहीं रहूँगा। मेरी स्वतंत्रता पूर्ण है किन्तु मैं उत्तरदायित्व और पीड़ा से नहीं बच सकता। मेरा उत्तरदायित्व महान् है कि मैं सारे विश्व को चुनता हूँ। यह भारी उत्तरदायित्व मुझे उदास बनाता है।

सम्बन्ध:—सार्त्र ने 'बीइंग और नथिंगनैस' में लिखा—

'दूसरों के साथ मेरा मूल सपंर्क उस क्षण होता है जब मुझे पहली बार यह बोध होता है कि वह मेरी ओर देख रहा है। उसका देखना मुझे बताता है कि इस दुनिया में अन्य 'विषयिताएँ' (सब्जेक्टिविटीज़) भी हैं, यह बात मुझे मेरे विषय होने की संभावना को महसूस करने को बाध्य करती है, जब कि मैंने स्वयं को पूरी तरह विषयी समझ रखा था। इसी समय मुझे पता चलता है कि मेरा विषय होना न होना मुझ पर नहीं अन्य पर निर्भर है। मैं उसकी दया पर रहता हूँ।"[2]

सार्त्र का कथन है कि दूसरों की कृपा पर निर्भर न रहने का एक ही उपाय है कि मैं संघर्ष पूर्ण तरीके से उसे अपनी निगाह से पूर्णतः विषम बनाने की चेष्टा करूँ, जिससे वह बदले में मेरी ओर न देखे। दूसरा व्यक्ति मेरे लिए प्रतिद्वंद्वी ही है। उसकी वैयक्तिकता मेरी वैयक्तिकता के लिए धमकी है।

---

1 Existentialism & Religious Belief
—David Roberts, p. 73-74

२ माध्यम-अप्रेल ६५ —'सार्त्र: अस्तित्ववादी मानववाद', पृ० ११

ईश्वर —अस्तित्ववादी चिंतन के रूप हैं – (१) धार्मिक-धर्म-तांत्रिक (जिसका प्रतिनिधित्व पास्काल, किर्केगार्ड और मार्सल करते हैं), और (२) दार्शनिक-लौकिक (जिसका प्रतिनिधित्व हाइडेगर और सार्त्र करते हैं)। पहली चिंतन-धारा ईश्वरीय-सत्ता को स्वीकार तो करती है किंतु व्यक्ति के अस्तित्व के लिए उसे किसी भी प्रकार उत्तरदायी नहीं ठहराता। दूसरी विचार धारा ईश्वर की सता की समस्या को ही व्यर्थ मानती है।

पास्काल कहते हैं कि मनुष्य की महानता इसी में है कि उसका निर्माण ईश्वर की प्रतिमावत् हुआ है। वे यह भी मानते हैं कि ईश्वर से दूरी ही मनुष्य का बंधन है। किर्केगार्ड ने गिर्जे के धर्म-दर्शन और व्यवहार की निंदा करते हुए इस बात पर बल दिया कि श्रद्धा एक ऐसी चीज़ है जो भीतर से सक्रियरूप में होती है, दिखावे के लिए करने पर वह किसी काम की नहीं रहती। यास्पर्स की दृष्टि में विश्व से हटकर ईश्वर नहीं है और विश्व, ईश्वर है। ईश्वर इस जगत् में व्यक्त और प्रच्छन्न दोनों है।

ईश्वर संम्बधी समस्या पर सार्त्र ने लिखा है — "अस्तित्ववाद में इतनी अधिक नास्तिकता नहीं कि वह यह सिद्ध करने में ही अपने को खपा दे कि ईश्वर की सत्ता नहीं है। वह तो बल्कि यह घोषणा करता है कि यदि ईश्वर की सत्ता है भी तो भी उससे कुछ अंतर नहीं होता।" उनका कथन है कि ईश्वर की सत्ता का प्रश्न हमारी समस्या है ही नहीं और इस अर्थ में अस्तित्ववाद आशावादी है; कर्म का सिद्धांत है और ईसाई धर्मावलम्बियों के लिए 'अपनी और हमारी निराशा में अंतर न करना और हमें निराशवादी कहना साफ़ बेईमानी है।'

सार्त्र मानते हैं कि अस्तित्ववादी एक विशेष प्रकार के लौकिक नीति शास्त्र का घोर विरोधी है जो कम से कम व्यय करके ईश्वर का निराकरण करना चाहता है। सार्त्र का संकेत १८८० के लगभग कतिपय फ्रेंच अध्यापकों द्वारा बनाये गये उन नियमों की ओर है जिन्होंने ईश्वर को व्यर्थ और महंगी प्राक् कल्पना बताते हुए उसका निराकरण करने का प्रयास किया था।

दोस्ताएवस्की के इस कथन को कि 'यदि ईश्वर विद्यमान नहीं; तो सब कुछ सम्भव होगा' स्वीकारते हुए सार्त्र कहते हैं कि 'सचमुच यदि

ईश्वर नहीं है तो सब कुछ किया जा सकता है।' ईश्वर का विचार ही विरोधाभास युक्त है और हम व्यर्थ में ही उसमें स्वयं को खो देते हैं। मनुष्य एक व्यर्थ उत्तेजना है (Man is a useless passion)

'Being & nothingness' में सार्त्र लिखते हैं कि मनुष्य वह चेतना है जो ईश्वर की ओर उन्मुख है। ('Man is the being whose project is to be God') मनुष्य मूलतः ईश्वर बनने की दूसरी इच्छा का नाम है।

मृत्युबोध—अस्तित्ववाद के अनुसार मृत्यु, मानवीय स्थिति की अनिवार्य सीमा है। हम जबतक इसे अपना अभिन्न अंग नहीं बना लेते, तब तक यह केवल 'संयोगात्मक तथ्य' के रूप में ही सामने रहती है। यह हमारे जीवन की दुर्घटना नहीं है, अपितु सार्वभौमिक सम्भावना के रूप में सामने आती है।

हाइडेगर के अनुसार मृत्यु व्यक्ति की सत्ता में समाहित है, उसे हटाया नहीं जा सकता। वह प्रामाणिक है। उनके शब्दों में 'मृत्यु मनुष्य को प्रामाणिक जीवन-यापन का परिचय ही नहीं करवाती, उसे उस जीवन में सक्रिय भी करती है। मौत का स्वीकारना भी एक बड़ी बात है, इससे वस्तुओं का सही रूप स्पष्ट होता है, सामान्यतः व्यक्ति मृत्यु को भुलाना चाहता है, किन्तु इसे स्वीकारना ही पड़ता है, जिसका यह अर्थ नहीं कि दुनिया को भुला बैठे। मृत्यु की यही उपयोगिता है कि इसके कारण व्यक्ति में निरासक्ति व उसे अपने अस्तित्व का ज्ञान होता है। अतः मृत्यु, जीवन की पूर्ति है।

रिल्के भी मृत्यु की पीड़ा चारों ओर देखते हैं। जब पेड़ पूरी तरह से फलने लगता है तो मृत्यु भी जीवन की भांति उसमें प्रकट होने लगती है। मृत्यु महान् है। जब हम स्वयं को जीवन के बीच में सोचते हैं तो मृत्यु ठीक हम बीच आकर रोने लगती है।[1]

मार्सेल की धारणा है कि मृत्यु के कारण सब प्रकार के बोझ हल्के हो जाते हैं और व्यक्ति दिव्य-जीवन में प्रवेश करता है। मृत्यु का अर्थ शून्य में डूबना नहीं अपितु अनंतता की ओर अग्रसर होना है।

---

[1] Beyond Existentialism—J. von Rintelen, p. 49

सार्त्र मानते हैं कि मृत्यु आकस्मिक होती है, इसलिए वह निंदनीय है, किन्तु इससे आगे की संभावनाएँ बिल्कुल नष्ट नहीं होती। वे कहते हैं कि मृत्यु मुझे नष्ट वेशक कर दे, पर 'मुझे' छू नहीं सकेगी, अर्थात् बाधा नहीं बन सकेगी। मृत्यु नहीं आती है, जब तक 'मैं' हूँ, मृत्यु के आने के बाद 'मैं' हूं ही नही, इसलिए बाधा कैसी? जन्म की भांति मृत्यु भी एक शुद्ध तथ्य है।[1] मरने के बाद भी हम पीछे कुछ ऐसे मूल्य छोड़ जाते हैं, जिन्हें दूसरे बदल लेते हैं। मृत्यु की बाधा हमारी स्वतन्त्रता को मिटा नहीं सकती।

शून्यत्व—अस्तित्ववादी शून्य को अपने दर्शन में प्रमुख स्थान देते हैं। किर्केगार्द का दर्शन ही इसी से प्रारम्भ होता है। उसका विचार था कि जीवन, भाव, निर्वाचन आत्मसंलग्नता, निराशा, भय, शून्य एवं पतन द्वारा व्यक्ति ईश्वर के समक्ष खड़े होकर धार्मिक जीवन में, अपने शून्यत्व का कटु अनुभव करता है। वह कहता है—हम जमीन में उंगली गाड़कर उसकी गंध से जमीन को परखते हैं, मैं अपनी उँगली अस्तित्व में डालता हूँ, उससे शून्य की गन्ध आती है।

सार्त्र का कथन है कि मानसिक विम्ब, व्यक्त और अव्यक्त दोनों होते हैं। मैं कुछ देखता हूँ पर वस्तुतः कुछ भी नहीं देखता। मानसिक विम्ब ही सम्पूर्ण चेतनता है, जो इस दृष्टि से 'शून्य' है, क्योंकि इसका अस्तित्व छायापूर्ण है।

हाइडेगर, मानव जीवन में भय की भावना का प्राचुर्य देखते हैं। व्यक्ति इसी भावना से शून्य का साक्षात्कार करता है। शून्य के साक्षात्कार से वह भयभीत नहीं होता, अपितु भय से वह शून्य तक पहुँचता है, शून्य का भाव स्वयं की घृणा तक पहुंचता है। अतः बिना शून्य के समझे न तो स्वतंत्रता ही संभव है और न अस्तित्व ही।

सत्य—किर्केगार्द का मत है कि व्यक्ति में सत्य की प्रविष्टि बाहर से नहीं हुई, अपितु वह तो प्रत्येक काल में उसके भीतर विद्यमान था। उनकी दृष्टि में अमूर्त विचारों नहीं अपितु वास्तविक व मूर्त मनुष्य के माध्यम से सत्य का परिचय मिलता है। सत्य और आस्था में साम्य है। यास्पर्स ने सत्य को प्रेषणीयता के रूप में ग्रहण किया है। इसकी

[1] Six Existentialist Thinkers—Blackham, p. 135-6

प्रेषणीयता न हो तो यह अवास्तविक हो जाता है।[1] सार्त्र की दृष्टि में सत्य का स्रोत वस्तुपरकता की अपेक्षा वैयक्तिकता है। सेंत एक्सूपेरी ने कहा था—'हम सत्य की खोज नहीं करते, हम उसकी रचना करते हैं।'

पीड़ा और चिन्ता—अस्तिवादियों के लिए मनुष्य ही पीड़ा का दूसरा नाम है। जो व्यक्ति उत्तरदायित्व का वहन करता है वह अपना ही नहीं; मानवमात्र का निर्णय लेता है, फिर उसे चिंता से छुटकारा नहीं मिल सकता चाहे वह कितना ही अपनी चिंता को क्यों न छिपाये? सार्त्र के अनुसार 'जव पीड़ा अपने-आपको प्रच्छन्न करती है, तब वह स्पष्ट हो जाती है।' प्रत्येक मनुष्य के लिए हर वात इस रूप में घटित होती है, जैसे सारी मानवता उस पर दृष्टि गड़ाए हुए है—और वह मनुष्य यदि ऐसा नहीं सोचता तो वह अपनी पीड़ा को दवाता है। इस पीड़ा से प्रत्येक उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति परिचित होता है। उदाहरणार्थ, जव सैनिक अधिकारी शत्रुओं को मारने का आदेश देता है, चाहें वे आदेश ऊपर से ही क्यों न आये हों, तो इस निर्णय व परिणाम की पीड़ा से स्वयं को वचा नहीं सकता। सभी नेता इस पीड़ा से परिचित होते हैं, क्योंकि यह सव के कर्म का ही महत्त्वपूर्ण अंग है। निस्संदेह मनुष्य का निश्चय संघर्षों, दु:खों, पीड़ाओं और समाज में व्याप्त चिन्ताओं, घृणाओं आदि द्वारा ही निश्चित होता है। ये प्रवृत्तियां उसकी आत्मा में अनवरत रूप से प्रवहमान रहती हैं।

किर्केगार्द का मत है कि स्वतन्त्रता का भाव चिन्ता उत्पन्न करता है कि कहीं हम अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग न करलें। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह पाप को जन्म देता है।

एकाकीपन—सार्त्र के अनुसार इसका अभिप्राय यही है कि 'ईश्वर का अस्तित्व नहीं है और इसके सारे परिणामों का सामना हमें करना है।' यदि ईश्वर नहीं हैं, तो हम किन्हीं मूल्यों या निर्देशों को आधार नहीं वना सकते। फिर न हम वहाने वना सकते हैं और न ही कोई संगति है—हम विल्कुल अकेले रह जाते हैं। 'एकाकीपन में यह निहित है कि अपने अस्तित्व का वरण हम स्वयं करते हैं। एकाकीपन और पीड़ा का संग होता है।'

---

1 Reason and Existenz—Jaspers, p. 79

निराशा—सार्त्र ने इस शब्द की व्याख्या की है कि 'जो कुछ हमारी इच्छा-शक्ति पर निर्भर है, वह हमारे कर्म को संभव बनाने वाली सम्भावनाओं पर निर्भर है।' हमें सदा संभावनाओं का हिसाब लगाना पड़ता है। जैसे मुझे अपने मित्र की प्रतीक्षा है, जो गाड़ी या कार से आ रहा है। इसका अर्थ है कि गाड़ी समय पर आएगी या कार गिरेगी नहीं, किन्तु जिस क्षण ये संभावनाएं "मेरे कर्म द्वारा पूर्णतः अन्तर्भूत नहीं होतीं, मुझे अपने आपको उनसे मुक्त कर लेना चाहिए, क्योंकि ईश्वर या कोई भी योजना संसार और उसकी संभावनाओं को मेरी इच्छा के अनुकूल नहीं ढाल सकती। जब देकार्त ने कहा था : 'संसार के बजाय अपने आप पर विजय पाओ' तो उसका मूलतः यही अभिप्राय था।" [1]

## अस्तित्ववादः सीमाएं :

१२ अगस्त १९५० में पोप के द्वारा पारित एक प्रस्ताव ('Humani Generis) में अस्तित्ववाद को उस हीन आन्दोलन की संज्ञा दी गई, जिसका कार्य मानवीय विवेक का अवमूल्यन करना और नग्नव्यक्तिवादिता को प्रश्रय देना है।

अस्तित्ववादी दर्शन, मानवता की सीमा संकुचित कर देता है। मानव-अनुभूतियों की गहराई और व्यापकता को न परखकर यह भाषा के जाल में उलझ जाता है। इसने ऐतिहासिक मानव-व्यक्तित्व के मूल-तत्वों की भी उपेक्षा की है। इसने मनुष्य को एक अभूतपूर्व (unique) व्यष्टि, मात्र ही समझा है, जब कि मनुष्य अभूतपूर्व भी है और सांस्कृतिक दृष्टि से वर्ग और आयु द्वारा संचालित भी होता है। उसे अलगाव की दृष्टि से नहीं समझा जा सकता। हैडेगर की 'दासें' (Desein) की धारणा से मनुष्य की 'स्थिति' का आभास तो होता है, किन्तु ठोस तरीके से इसका समाधान नहीं होता।[2]

---

[1] पाश्चात्य काव्य शास्त्र : सिद्धान्त और वाद

—सं० श्री कोहली पृ० ३७१

[2] Five Approaches to Philosophy

—Jamal Khwaja, p. 149

अस्तित्ववादियों के विचारों में ही विरोधाभास लक्षित होता है। सार्त्र एक ओर कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति मेरा प्रतिद्वन्द्वी है और दूसरी ओर कहते हैं कि मैं दूसरों के लिए चुनाव करता हूँ और फिर यदि मैं विल्कुल स्वतंत्र हूँ, कोई ईश्वर नहीं, कोई विषयगत मूल्य नहीं; तो मैं फिर किसका उत्तरदायी हूँ ?

अस्तित्व, अनुभूति की वस्तु है, जब कि हाइडेगर इसे अपने आप में सृष्टि व इच्छा की उपज बताते हैं। कोई भी दार्शनिक अपने दर्शन की खोज नहीं करता अपितु प्रमाणित करता है। अस्तित्ववादी, अस्तित्व की नाटकीय धारणा रखते हैं, जबकि इस सम्बन्ध में शास्त्रादि चर्चा कर चुके हैं।

कार्ल यास्पर्स ने माना है कि इसे 'पुराना आदर्शवाद' कहा गया जो वास्तविकता से परे और दुर्बल है। फिर यह दर्शन, विज्ञान का विरोधी भी है और शाश्वत सत्यों का निरूपण भी करता है, यहां विरोधाभास लक्षित होता है। यह बोधगम्य नहीं है, यह अपनी ही छाया पर कूदता है और बौद्धिक–कलाबाजी के अतिरिक्त कुछ नहीं।[1]

आत्मगत विवेक पर अत्यधिक बल देने के कारण यह सिद्धांत उच्छृंखलता को प्रश्रय देता है। 'स्वयं आरोपित निरपेक्ष दायित्व की बात मिथ्या बकवास है, क्योंकि अस्तित्व कभी निरपेक्ष नहीं होता, सदा सापेक्ष ही होता है।' इसके अतिरिक्त एकांतिकता, असामाजिकता आदि तत्त्वों का विरोध करके मनुष्य को निर्जीव यंत्र बना देता है और पलायनवादिता का पोषण करता है।[२]

हाइनमैन के अनुसार अस्तित्ववाद अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं को उठाता है, पर उनका समाधान नहीं करता। वह अलगाव (alienation) की समस्या उठाता है कि व्यक्ति एकाकी है। जैसे हम विदेश में रहकर सदा विदेशी बने रहते हैं, उसी प्रकार सैंकड़ों वर्ष दुनिया में रहकर भी मनुष्य विदेशी ही हैं—पर इसका कोई समाधान नहीं किया जाता। विज्ञान का विरोध करने पर भी उनकी बातों को गंभीरतापूर्वक नहीं लिया गया है।

---

1 Reason and Existenz —Jaspetrs, p. 146-46

२ पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धांत—डॉ॰ शांतिस्वरूप, पृ० ३७१

अस्तित्ववाद, नीतिशास्त्र और मूल्य-सिद्धांत को नवीन आधार प्रदान करने में भी असफल रहा है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने मूल्यों का निर्माता बनने की स्वतंत्रता पा ले और विषयगत मूल्यों को अस्वीकार करने लगे तो अनैतिकता और अराजकता फैलने की पूरी सम्भावना है। नवीन मानवता की बात सार्त्र करते हैं, पर वह है क्या ? ईश्वर रहित मानवता–जहां मनुष्य स्वयं अपना निर्माता है और अपनी ही दुनिया है।[1]

कतिपय विद्वानों की धारणा है कि अस्तित्ववाद समाप्त हो गया है, क्योंकि इसकी समस्याएं और व्याख्यान अर्थ हीन हैं। प्रो० अयेर ने हाइडेगर और सार्त्र के अनेक सूत्रों के सम्बन्ध में कहा है कि इनका प्रभावात्मक मूल्य चाहे कितना हो, किन्तु वे मूढ़ता के परिचायक हैं। अस्तित्ववादी दर्शन भी आज 'to be' क्रिया का गलत प्रयोग करने की कला बन गया है। क्या यह दर्शन विश्वजनीन समस्याओं का उत्तर दे पाया है ? शायद नहीं। इसके प्रमुख नेता अपने विचारों से भी हटने लगे हैं। एक स्थान पर सार्त्र ने लिखा है–'मार्क्सवाद, हमारे युग का सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब है और कोई भी उससे आगे नहीं जा सकता।'[2] विज्ञान का विरोध करने वाले यास्पर्स भी लिखते हैं कि सच्ची वैज्ञानिक दृष्टि के बिना मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

## अस्तित्ववाद : उपलब्धियाँ

सामान्यत: अस्तित्ववाद को हम, प्रजातंत्र की अंध-समानता की प्रवृत्ति और तकनीकी ज्ञान के कारण मानव के शरीर व मस्तिष्क की यांत्रिकता के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में समझ सकते हैं। कार्ल यास्पर्स के शब्दों में—अस्तित्ववादी दर्शन ऐसी चिंतन प्रणाली है जो समस्त भौतिक ज्ञान को इसलिये प्रयुक्त व विचारणीय बनाती है कि मनुष्य फिर मनुष्य बन सके।

अस्तित्ववाद ने परम्परागत दर्शन को नकारा, कि ये व्यष्टि की ठोस समस्याओं को कोई महत्त्व नहीं देते। वे केवल वास्तविकता, सत्यता

[1] Existentialism & the Modern Predicament, p 176–7

[2] Existentialism and the Modern Predicament —Heinemann, p. xv

प्रत्यक्ष ज्ञानादि अमूर्त विषयों में लगकर अस्तित्वमय व्यष्टि के संघष आशा-निराशा, प्रेम-चुनाव आदि समस्याओं को विस्मृत कर बैठे हैं। तत्त्वज्ञानी दार्शनिक तथ्यों की खोज में रहकर अपने व्यक्तित्व को भी भुला बैठते हैं। इसलिए अस्तित्ववादी दर्शन, उस व्यक्ति की प्रतिष्ठा को पुनःस्थापित करने का एक प्रयास है, जो एक ओर मशीनों की और दूसरी ओर भीड़ या समाज की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है। यह विचार-धारा, दर्शन को आत्मज्ञान का माध्यम बनाने और अमूर्त के पहले मूर्त या व्यावहारिक दृष्टि अपनाने की प्रेरणा देती है।[1]

इस प्रकार अस्तित्ववाद ने शुद्ध विचार के भोंडेपन के विरुद्ध आवाज उठाई, यह सिद्धांत चिंतन का तर्क स्वीकार नहीं करता, अपितु व्यक्तियों की गतिविधियों का तर्क प्रस्तुत करता है। शुद्ध विचार की ऊहापोह से व्यक्ति को निकालकर सरल जीवन जीने व अपनी समस्याओं पर ठीक ढंग से विचार करने को प्रेरित करता है।[2]

डेविड रोबर्टस् ने अस्तित्ववाद की अनेक उपलब्धियों पर प्रकाश डाला है।[3] अस्तित्ववाद ने ठीक समय पर विज्ञान की विकृतियों पर प्रकाश डाल कर मानव को सचेत किया है। चाहे यह वाद धर्म-प्रेरित हो या न हो, किंतु इसने मानव-स्वतंत्रता की रक्षा की घोषणा अवश्य की है। इसने मानव को यथार्थ-दृष्टि प्रदान की है। इसने अपराध, निराशा, दुश्चिंता और शून्य को नकारा है और ईसाई धर्मावलम्बियों को भी, विज्ञान और वस्तुपरक विवेक के साथ चलने को प्रेरित करते हुए धर्मनिरपेक्षता की जड़ें मजबूत की हैं। आस्था और विवेक के सम्बन्धों को समझने की चेष्टा इस दर्शन के माध्यम से हो सकती है। इस के अनुसार, मनुष्य के बारे में केवल अमूर्त विचारों और कल्पनाओं को ग्रहण करने से काम नहीं चलता, इसके लिए हमें तर्क-प्रणाली, विवेक शीलता और सार्वभौम-अर्थ को ही निरुकष बनाना पड़ेगा। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घोषणा है।

---

[1] Five Approaches to Philosophy
—A. Jamal Khwaja, p. 127

[2] Six Existentialist Thinkers—H. J. Blackham, p. 2

[3] Existentialism & Religions Belief, p. 333-37

अस्तित्ववाद और धार्मिक विश्वास में समझौता होने से मानव स्वतंत्रता की समस्या का भी समाधान हुआ है। नास्तिक अस्तित्ववादियों के अनुसार मनुष्य को ईश्वर या अन्य बाह्य–सहायता की अपेक्षा अपनी नियति का स्वयं ही निर्माता बनना चाहिए। सार्त्र ने कहा था 'अस्तित्ववाद, मानवतावाद है।' इसके अतिरिक्त धार्मिक अस्तित्ववादियों के अनुसार मानव-स्वतंत्रता, केवल आत्म-केन्द्रित नहीं है, अपितु ईश्वर के साथ मेल (Communion) में है। इसलिए हमें ईश्वर के इस रूप को अपनाना होगा कि 'उनकी अनुपस्थिति ही एक प्रकार की उपस्थिति है और उनका मौन ही बोलने की रहस्यमय विधि है।'[1]

अस्तित्ववाद कर्मशील-मानव का समर्थक है। यह मानता है कि बुराई या पाप का चक्कर तोड़ा जा सकता है और मानव स्वयं को 'प्रतिष्ठित' कर सकता है। यह दर्शन केवल कार्य-कारण-निर्देशन दर्शन नहीं है, वह व्यक्ति की स्वतंत्रता को सर्वप्रमुख समझता है। यह न हमें अतीत की ओर लौटने की सलाह देता है और न भविष्य की रंगीन कल्पनाओं में खो जाने की, अपितु मानव की वर्तमान स्थिति की वास्तविकता के परिज्ञान पर ही बल देता है। उसके अनुसार विश्वमानव और समाज के नियम-कानूनों के वैज्ञानिक बोध-मात्र में ही मुक्ति नहीं है, वह व्यक्ति की समग्र दायित्व की इस चेतना में है कि 'मैं अपना स्वयं साक्षी हूँ।'[2]

अस्तित्ववाद को घोर व्यक्तिवादी दर्शन कहा जाता है, वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। मानवतावाद की बात भी लगभग सभी अस्तित्ववादियों ने की है। सत्य को संप्रेषणीय बताते हुए यास्पर्स ने लिखा कि हम जो कुछ हैं, केवल परस्पर सजग अभिज्ञान के माध्यम से ही हैं। 'ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं हो सकता, जो केवल अपने लिए ही मनुष्य हो, मात्र व्यष्टि रूप।'[3] सार्त्र भी कहते हैं कि मनुष्य केवल अपने लिए

---

1 Existentialism & Religious Belief, p. 341

२ पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांत—डा० शान्तिस्वरूप, पृ० २५३

3 '...I cannot even become mysely alone without emerging out of my being with others,'—Reason and Existenz, p. 80.

उत्तरदायी नहीं; 'वह सब मनुष्यों के लिए उत्तरदायी है।' हाइडेगर भी मानते हैं कि संसारी आदमी अपने विचारों-भावों को मूर्तता यहीं पर देता है। अतः अस्तित्वरूप मेरी चेतनता, दूसरों की चेतनता से सम्बन्ध है। दूसरे लोग मेरी भांति अस्तित्व के अधिकारी हैं, प्रत्युत मेरे अस्तित्व की संभावना उन्हीं में निहित है।[1]

डॉ० राधाकृष्णन का विचार है कि अस्तित्ववाद मनुष्य की महत्ता को भली भांति उजागर करता है। हम अपने जीवन में सामंजस्य नहीं पा सकते, यदि हमें अस्तित्वमय बाह्य स्थितियों का ज्ञान नहीं है और आन्तरिक चेतना भी आहत है, यह दर्शन प्रकृति के साथ आन्तरिक तन्तुओं से आंगिक सामंजस्य स्थापित करता है।[2] इस दर्शन को अभावात्मक दर्शन कहा गया है, पर इसका भावात्मक अर्थ यह है कि 'मनुष्य अपने पूर्ण उत्तरदायित्व के ज्ञान के प्रकाश में अधिक सजग और सचेष्ट हो जाता है।'

किन्हीं औपचारिक सिद्धान्तों या मतवादों की अपेक्षा, अधिक स्थायी मूल्यों के विचार और धारणाएँ मिलती हैं, जो शुद्ध तरीकों से प्रतिपादित होती हैं। यदि यह व्यवस्था सही है तो अस्तित्ववाद हिंसा व विखराव से युक्त अविवेकवाद का सनकयुक्त लक्षण नहीं है (जैसा कि कुछ समझते हैं), अपितु आदर्शों के संघर्ष में रत मानव-अनुभूति की ऐसी पुनर्व्याख्या है, जिसे इतिहास ने अभी समझा नहीं। इसकी ओर गंभीरता से ध्यान देना चाहिए।'[3]

## अस्तित्ववाद और भारतीय-दर्शन :

डॉ० राधाकृष्णनन के अनुसार अस्तित्ववाद पुरातन प्रणाली का नवीन नाम है। उपनिषद् और बौद्ध धर्म भी आत्म-ज्ञान पर बल देते हैं—'आत्मानम् विधि'। वे कहते हैं कि मुख्य 'अविद्या' का शिकार है। जब तक हम कर्म प्रधान विश्व में रहते हैं, हम 'समय' की दया पर निर्भर रहते हैं। अतः रिक्तता, चिन्ता व अवसाद जीवन को निरर्थक

[1] History of Philosophy : Eastern and Western, Vol.II, p. 429.

[2] Ibid, p. 446.

[3] Six Existentialist Thinkers–H. J. Blackham (Preface)

कर देता है। अतः 'ज्ञान' या 'वोधि' के द्वारा वह इन दुःखों से छुटकारा पा सकता है। अस्तित्ववादी भी इन्हीं तत्वों पर वल देते हैं—ज्ञान, अच्छाई-बुराई की परख, असुरक्षा, भय, चिन्ता और इनके त्राण का उपाय। अस्तित्ववाद, व्यक्ति-चेतना के अस्तित्वपूर्ण व्यवहार का हामी है।[1]

वौद्ध दर्शन के अनुसार जगत की घटनाएँ अस्थिर और गतिशील हैं। हम कुछ भी पकड़ नहीं सकते। हाइडेगर की भी यही धारणा है कि मनुष्य जीवन की घोर वास्तविकताओं से और क्षण क्षण दौड़ते जीवन से परिचित है; वह ऐसी अनजान रहस्यमयी धरती पर खड़ा है, जो गणितशास्त्र के शून्य की भांति तो नहीं किन्तु व्यक्ति में रिक्तता और शून्यता अवश्य है तो उसे अपनी असुरक्षा का भान होता है। हाइडेगर व्यक्ति और अस्तित्व में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि मनुष्य अपनी अस्तित्वमयी सीमाओं को उन्नत करने में असफल रहता है तो वह मृत्यु का वरण करता है, अतः पहले वह रिक्तता या शून्यता (वौद्धधर्म) को समझे। इसलिए हमारे यहां कहा गया है—'तमसोमाज्योतिर्गमये'।

अस्तित्ववाद व्यक्ति को शक्तिशाली व स्वतंत्र सिद्ध करता है; वही समस्त गतिविधियों का कर्त्ताधर्त्ता है। भारतीय दर्शन में 'शक्ति' की कल्पना इसी प्रकार से की गई थी। हाइडेगर के अनुसार व्यक्ति का सार स्वयं को उन्नत करने में है। प्रतिक्षण वह स्वयं को महत्तर वनाता जाता है, अन्यथा शून्य में डूवने का भय है। उपनिषद् में भी व्यक्ति का यही रूप मिलता है—'यद् वाचानाभ्युदितम्, येन वागाभ्द्युयेत'। जिसे वचन स्पष्ट नहीं करते, पर जहाँ से वचन का अभ्युदय होता है। व्यक्ति भी विरोधी भावनाओं—आन्तरिक (निवृत्ति) और वाह्य (प्रवृत्ति) का मुकावला करता रहता है। सार्त्र इस प्रवृत्ति के सम्वन्ध में लिखते हैं कि 'किसी से आसक्ति न हो, शून्य के प्रति भक्ति और आनंद से मृत्यु या भदेस का आंलिगन करते हुए' रहना चाहिए।[2]

---

[1] History of Philosophy : Eastern and Western, Vol. II, p. 443

[2] Immediancy, Reason & Existence—R. N. Kaul, p. 233–4

जैसा कि लिखा जा चुका है, अस्तित्ववादी-मृत्यु अनुभववादी अस्तित्व को ललकारती है। उन्नतशील अस्तित्व को नहीं छू सकती। भगवान शंकर जो जीवन में मृत्यु की उपस्थिति के प्रतीक हैं, साधना के लिए श्मशान को ही पसन्द करते हैं। सेक्स-धारणा भी हमारे यहां रासलीलाओं में अभिव्यंजित होती है।

'चुनाव' की धारणा भारतीय दर्शन में पहले से रही है। ज्ञान और क्रिया शक्ति की अपेक्षा इच्छा-शक्ति पर यहां वल दिया गया है। यही क्रिया-शक्ति की जड़ भी है। इच्छा-शक्ति स्वतन्त्र है। अस्तित्ववाद भी चुनाव की स्वतन्त्रता पर वल देता है। जीवन में द्वंदों का अभाव नहीं है, किन्तु उनकी शांति ही जीवन का परम लक्ष्य है। मार्टन वूवर ने 'मैं–तुम' के सम्वन्धों की चर्चा की, जो हमारे यहां की परमानुभूति है—'तत् त्वम असि।'[1]

अस्तित्ववाद आज के टूटे मानव की विडम्बना पर, एकांगी भाव से सही सोचने को वाध्य अवश्य करता है। □

---

[1]. Ibid, p. 237.

# १ | प्लेटो के साहित्य-सिद्धांत

"यद्यपि प्लतोन (प्लेटो) की वाणी प्रशांत धारा की भांति वहती रहती है तथापि उसमें उर्जा विद्यमान है।"

—लोंजाइनस

* * *

पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के 'आदिस्रोत' प्लेटो मूलतः एक दार्शनिक हैं। वे आदर्शवादी सुधारक हैं। राज्य के लिये व्यक्ति के त्याग को अनिवार्य समझते हैं। आदर्श राज्य निर्माता के रूप में तो कवि उन्हें मान्य है, अन्यथा एक आदर्श राज्य में उनकी आवश्यकता नहीं। उन का मत है कि राज्य के कार्यों में काव्य द्वारा किसी हेतु की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि चरम सत्य की पहचान व ज्ञान की स्थिति तक, मनुष्य की आत्मा को पहुँचाने में, काव्य असमर्थ है; साथ ही विवेक की अपेक्षा पाशववृतियों को उद्वेलित करने में भी यह प्रवृत्त है। अतः वे कहते हैं—'विधि व न्याय के विचारों को घात पहुँचाने वाली कविताओं की रचना किसी कवि को नहीं करनी चाहिए······अथवा ऐसी रचना प्रकाशित भी नहीं करनी चाहिए, जब तक कि इसे कानून के न्यायाधीश व संरक्षक देखें या सहमति न दे दें।'

(क) काव्य की परिभाषा प्लेटो ने नहीं दी, उसे कला के अन्तर्गत माना है। कलाएं तीन प्रकार की होती हैं—

(१) उपयोगी कलाएं (२) निर्माण सम्बन्धी कलाएं और (३) प्रतिरूपण सम्बन्धी कलाएं। चित्रकला व काव्य-कला तीसरी निम्नतम कोटि में आती हैं। प्लेटो का विचार है कि कविता वासनाओं का सिंचन व पोषण करती है और उन्हें अत्यंत स्वच्छंद वनाकर मानवीय गुणों का हनन करती है। कलाकार सत्य का अनुकर्त्ता मात्र है और उसकी रचनाएं आत्मा के असाधु अंश का पोषण मात्र करती हैं, जिनका प्रभाव उत्तेजनात्मक, अतः हानिकारक होता है। प्लेटो ने काव्य के तीन

भेद किये हैं—(१) अनुकरणात्मक-त्रासदी, कामदी-आदि (२) प्रकथनात्मक—जिसका वक्ता कवि होता है और (३) मिश्र—जिसमें दोनों शैलियां रहती हैं, जैसे महाकाव्य। इन्हीं के अनुरूप नाट्य, वर्णनात्मक व मिश्र शैलिया होती है। भारतीय काव्य शास्त्र में भी दृश्य, श्रव्य व मिश्र-काव्य के तीन भेद माने गये थे। कविता के सम्बन्ध में प्लेटो की स्थापनायें इस प्रकार हैं—

(१) कविता प्रकृति का अनुकरण है; प्रकृति सत्य का अनुकरण है, अतः अनुकरण का अनुकरण होने के कारण वह सत्य से दुगुनी दूर है।

(२) कविता मनोभावों को उत्तेजित करती हुई आत्मा को उद्वेलित कर देती है, अतः पाशव वृतियों का उद्वोध और दिव्य गुणों का शमन करने के कारण कवि की रचना त्याज्य है।

(ख) अनुकरण सिद्धांत ने कालांतर में शास्त्रीय सिद्धांतों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया। इसके स्वरूप की चर्चा प्लेटो से भी पहले मिलती है, पर प्लेटो ने उसे व्यवस्थित रूप दिया। वह अपने राज्य एथेन्स के अध:पतन का जिम्मेदार अंशतः काव्य को भी ठहराता है। इसलिये नैतिकता के आधार पर काव्य की परीक्षा करता है। 'उच्च कोटि का गणितज्ञ होने के कारण प्लेटो 'विचार' का महत्त्व 'वस्तु' से अधिक मानता हैं। ईश्वर जनित मूल आदर्श ही महत्त्वपूर्ण होने के कारण जगत उसका अपूर्ण अनुकरण सिद्ध होता है। प्लेटो मानते हैं कि कवि नैतिक गुणों आदि की नकल प्रस्तुत करते हैं, किंतु सत्य तक कभी नहीं पहुँचते। साथ ही अनुकर्ता को अनुकार्य वस्तु का बिल्कुल ज्ञान नहीं होता। अनुकरण केवल एक खिलवाड़ ही है और कवि चाहे जिस छंद में रचना करें, अनुकर्त्ता मात्र हैं। इस प्रकार प्लेटो का 'सत्य' अमूर्त, अपरिवर्तनशील 'विचार' है। मनुष्य भी इसी प्रकार के एक 'विचार' अथवा अमूर्त कल्पना का द्योतक है। 'भौतिक जगत के सभी जीव एवं वस्तु व्यापार 'विचारों' की छायामात्र हैं, अतएव असत्य हैं। काव्यकार अपने काव्य में इसी भौतिक जगत का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से काव्य 'सत्य' की छाया की छाया, 'विचार' के अनुकरण का अनुकरण है।'[1]

---

[1] मानविकी पारिभाषिक कोश, सं० डा० नगेन्द्र, पृ० १४१

आचार्य प्लेटो कला के तीन रूप मानते हैं—(१) उपयोगीकला (२) निर्माण की कला व (३) प्रतिरूपण की कला। जैसा कि कहा जा चुका है, काव्य को वे प्रतिरूपण की कला मानते हैं। उन का विचार है कि कतिपय कविताएँ, घटनाओं की सूचना मात्र देती हैं, शेष घटित घटनाओं का सच्चा अनुकरण प्रस्तुत करती हैं और यही उन का ध्वंस-कारी रूप है। त्रासदी व कामदी, वास्तविक प्रकृति को न समझने के कारण प्रेक्षकों को पथभ्रष्ट करती है। अपने 'रिपब्लिक' ग्रंथ में उन्होंने अनुकरण की सीमाओं का सविस्तर वर्णन किया है। अनुकरण सिद्धांत की चर्चा भी इसमें संवादो के माध्यम से हुई है। कतिपय अंश प्रस्तुत हैं। सुकरात और ग्लाउकोन परस्पर वार्तालाप करते हैं :—

"अच्छा तब तीन प्रकार की चारपाइयां हैं: एक आदर्शरूप है. जिस के कर्त्ता स्वयं ईश्वर हैं, हम लोग ऐसा कह सकते हैं, क्योंकि उसका निर्माता कोई अन्य नहीं हो सकता ?"

"नहीं"।

"एक दूसरी चारपाई होती है न, जिसका बनाने वाला बढ़ई होता है।"

"हां"।

"इस प्रकार, चारपाइयाँ तीन प्रकार की होती हैं और तीन विभिन्न कलाकार होते हैं, जो उनके निर्माण की व्यवस्था करते हैं : ईश्वर, चारपाई बनाने वाला बढ़ई तथा चित्रकार ?"

इस प्रकार प्लेटो मानते हैं कि चित्रकार स्रष्टा या निर्माता नहीं है, वह केवल उस पदार्थ का अनुकर्त्ता है, जिनका निर्माण दूसरे करते हैं। वह तो प्रकृति से नीचे तीसरी श्रेणी में हैं। त्रासदी का रचयिता कवि भी अनुकरण करने वाला है, अतः सभी अन्य अनुकरण करने वालों के समान है। वह सत्य से दुगुना परे है। अतः प्लेटो के अनुसार वही व्यक्ति, अनुकरण को अपने जीवन का प्रेरक सिद्धांत बनायेगा, जिसे मानो कोई महानतर कार्य करना ही न हो। 'रिपब्लिक' के दशम भाग में उन्होंने कवि-अनुकर्त्ता पर प्रहार करते हुए लिखा है—"तब अनु-कर्त्ता...सत्य से बहुत दूर है।...उदाहरण के लिये, एक चित्रकार, किसी सपेरे या बढ़ई या किसी अन्य चित्रकार का चित्र अंकित करता है, यद्यपि वह उनकी कला के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता और यदि

वह एक अच्छा चित्रकार है, तो वह बच्चों या सीधे लोगों को धोखा देगा; जब वह उनको बढ़ई का चित्र दूर से दिखायेगा, तो वे समझ बैठेंगे कि वे असली बढ़ई को देख रहे हैं।" इस प्रकार, प्लेटो का विचार है कि होमर से लेकर अब तक के सारे कवि सत्य और अपने अन्य लेखन—विषयों की छाया के अनुकर्त्ता मात्र हैं, और वे सत्य को ग्रहण नहीं करते। कवि केवल अनुकरण में समर्थ बुद्धि से मानो कई कलाओं के रंगों का ही पदों और वाक्यों द्वारा पुनःसृजन करता है, जिन्हें प्रेक्षक (श्रोता) अच्छा समझ बैठते हैं। कवि शाब्दिक-संगीत द्वारा पाठकों को विभ्रम में डालने में समर्थ हो जाता है।

काव्यात्मक अनुकरण के प्रभाव की चर्चा करते हुए प्लेटो ने कहा है कि मैथुनेच्छा, क्रोध, व अन्य भावनाओं-अभिलाषाओं को यह (अनुकरण) सींच कर पनपने-बढ़ने का अवसर देता है। वह उन्हें हमारे ऊपर शासन करने का अवसर देता है, जबकि—यदि हमें दुखी व निकृष्टतर होने की अपेक्षा सुखी व श्रेष्ठतर होना है—तो ऐसी-प्रवृत्तियाँ हमारे आधीन होनी चाहिएं। इसलिये कवि-धर्म मृग-मरीचिका मात्र बन कर रह जाता है। प्लेटो का विचार है कि जिस प्रकार चित्रकार केवल छायाओं का अनुकरण मात्र करता है, उनका उपयोग नहीं कर पाता, जैसे वह बिस्तर अंकित कर सकता है, बना नहीं सकता, उसी प्रकार कवि, सत्य को समझे बिना ही उसका अनुकरण करता है। इसलिये कलाएं, 'अनुकरण का अनुकरण' ही नहीं, अपितु सत्य से तिगुनी दूर भी हो जाती हैं और जो अज्ञानता की उपज भी है, क्योंकि यदि अनुकर्त्ता सत्य का अनुकरण, बिना उसे समझे करता है तो मानो अपनी अज्ञानता व उद्देश्यहीनता ही प्रदर्शित करता है। होमर, सद्व्यवहार करते मनुष्यों का वर्णन करने की अपेक्षा, यदि उन्हें सत्पुरुष बनाने के कारणों पर प्रकाश डालता तो वह आदर्श सत्य से तिगुने की अपेक्षा दुगना ही दूर रहता और अधिक उपयोगी नागरिक होता। मूल रूपों का अनुकरण जब पार्थिव जगत् में होने लगता है तो वह सत्याभास मात्र होता है और प्रेक्षकों या पाठकों को सही सत्यानुभूति कभी नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त, प्लेटो की स्थापना है कि काव्यात्मक अनुकरण, केवल सत्य से हटा हुआ ही नहीं होता, अपितु इस का प्रभाव भी हानिकारक होता है। इससे पाशव-वृत्तियों की उद्बोध और दिव्य गुणों का शमन होता

है। प्लेटो का तर्क है कि जैसे कोई अपना नगर दुष्टों को सौंप दे और श्रेष्ठतर नागरिकों का संहार कर दे, ठीक उसी प्रकार अनुकर्त्ता कवि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में असाधु प्रकृति की प्रतिष्ठा करता है, वह आत्मा के अज्ञानतत्व का परितोष करता है, जो महान और क्षुद्र में भेद नहीं कर पाता।

अनुकरण के विरुद्ध प्लेटो का प्रबलतम अभियोग यही है कि वह साधु को भी—कुछेक के अतिरिक्त—पथभ्रष्ट करने की उसकी शक्ति सब से भयंकर होती है। कवि, सरलता, सहजता या चतुराई से वस्तुओं के वास्तविक सत्य को अंकन न करके उनकी अभिव्यंजना उद्वेग व आवेश के साथ करता है, जो उसकी आत्मा के निकृष्टतर अंश की उपज होती हैं। जिसके कारण उद्दाम वासना शांत होने की अपेक्षा अधिक उद्वेलित होती है।

अतः अनुकरण-सिद्धांत के आधार पर यह सिद्ध है कि कविता महान् आदर्शों से रहित है।

प्लेटो के अनुसार अनुकर्त्ता विषय के अन्तरंग से सर्वथा अपरिचित रहता है, अनुकरण कोई गम्भीर कार्य नहीं है। वह जैसे प्रकृति के आगे दर्पण रख देता है, जिसमें बाह्य रूप-रेखा के अतिरिक्त और क्या प्रतिबिम्बित हो सकता है? अनुकर्त्ता अच्छे बुरे की पहचान करने में अनभिज्ञ होने के कारण ही ऐसा करता है। इसीलिये तो उसका अनुकरण एक कौतुक क्रीड़ा मात्र रह जाता है।[१] एक चित्रकार बढ़ई का चित्र बनाता है और उसे दूर से दिखा कर लोगों को भुलावे में डाल देता है, जैसे वे सचमुच बढ़ाई को देख रहे हों, इस प्रकार अनुकत्ता, सत्य से परे हटे हुए होता है।

प्लेटो ने 'सोफ़िस्ट' में अनुकरण शब्द के दो अर्थ लिये, एक तो सामान्य अर्थ में, जब कलाकार, विद्यमान सांसारिक वस्तुओं का अनुकरण करता है। दूसरा, विशिष्ट अर्थ में जिसका अर्थ पर रूप धारण'

---

[१] 'Imitation is only a kind of play or sport...And still he will go on imitating without knowing what makes a thing good or bad.' (Nettleship)

—प्लेटो के काव्य-सिद्धांत, पृ० ३११

से है, अर्थात् कवि, वर्णित वस्तु की अभिव्यंजना अपनी प्रतिभा से करता है। इस दृष्टि से प्लेटो का 'मीमेसिस' यथार्थ के प्रत्यकंन की ओर अधिक संकेत करता है, अरस्तू के पुनर्निमाण की ओर नहीं।

वर्जिल ने प्लेटो की बात स्वीकारते हुए ही—जैसे कहा हो — 'कलाओं में प्रकृति का अनुकरण होता है और प्रकृति ईश्वर जन्य है, अतः परम सत्ता की सन्तान है।' किंतु प्लेटो ने कवियों के साथ अन्याय किया है। कवि के निर्माता, सृष्टा व नियामक रूप को उन्होंने भुला ही दिया और नीति के पूर्वाग्रहों से ग्रसित उनके मन ने इस प्रत्यक्ष सत्य को विस्मृत कर दिया कि 'अनुकरण द्वारा कवि साधारण तथ्यों को सार्वभौम और सार्थक रूप देकर उनका उन्नयन करता है। अतः काव्यकृतियाँ सामान्य पदार्थों से अधिक मूल्यवान् होती हैं।'[1]

प्लेटो ने इस बात पर बल दिया कि मूलवस्तु की उत्कृष्टता — निकृष्टता व उसके अनुकरण की सीमा के अनुरूप ही कला की उत्कृष्टता निकृष्टता की भी परख होनी चाहिये। यदि अनुकरण सत्य के निकट है तो वह उतना बुरा नहीं है। अधूरे अनुकरण वाली कला ज्ञान देने की अपेक्षा, हमारे भावों को उद्वेलित करती है व आत्मा के निकृष्टम अंश को उत्तेजित व सबल बनाती है।

## सिद्धांत की आलोचना :—

प्लेटो ने इस सिद्धांत का पोषण करते हुए 'कवि को नक्काल घोषित किया, एवं उससे सृजन, निर्माण, बल्कि पुनर्निर्माण का गौरव भी छीन लिया। अनुकरण के लिए विषय के भाव कल्पनात्मक बोध का निषेधकर उन्होंने काव्य-सृजन से कवि के आत्मतत्त्व को सर्वथा बहिष्कृत कर दिया। कवि के कृतित्व का इससे बड़ा अवमूल्यन क्या हो सकता था?'[2] काव्य के रागात्मक तत्त्व को नकारते हुए उन्होंने उसे केवल रूप-विधान या रचना-कौशल में कुशल व्यक्ति 'प्ले' मात्र समझा। वर्ड्स्वर्थ ने कविता को घनीभूत भावनाओं का सहज उद्रेक कहा है, किंतु प्लेटो इसे 'अनुकरण का अनुकरण' कह कर उसके सहज रूप को सर्वथा विस्मृत कर देते हैं।

[1] साहित्य-सिद्धांत—डॉ० राम अवध द्विवेदी, पृ० १६

[2] प्लेटो के काव्य-सिद्धांत—डॉ० निर्मला जैन, पृ० १०९

(ग) **काव्य-सत्य** के सम्बन्ध में प्लेटो के विचार हैं कि कवि सत्य का छायानुकरण करता है, मूल सत्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। काव्य-सत्य यह है कि वह समाज और व्यक्ति को नैतिक व आध्यात्मिक बल प्रदान कर सके। सत्य या आदर्श की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं – 'जब कभी कई प्राणियों या वस्तुओं की एक सामान्य संज्ञा होती है, तो हम कल्पना कर लेते हैं, कि उनका एक सामान्य आदर्श या रूप होगा।' प्लेटो ने उद्देश्य की अन्विति व एकता पर बल देते हुए कल्पना (eikasia) का तिरस्कार किया, क्योंकि इसके माध्यम से कवि झूठे चित्र व बिम्ब प्रस्तुत करता है, जिनसे आत्मा उदात्त व महान् नहीं बन पाती। सच्चा साहित्य ही वही है जो मानवात्मा के सम्मुख उदात्त व सुन्दर के बिम्ब प्रस्तुत करे। प्लेटो का एक आक्षेप यह भी है कि काव्य में आवेश की प्रधानता होती है। इस दुर्बलता को काव्य में अत्यंत भव्य तरीके से प्रस्तुत किया जाता है, इसलिये काव्य आवेश के प्रति आकर्षण को जन्म देता है और आत्मा की दुर्बलताओं की अभिवृद्धि करता है। सत्य के मूल्य पर व्यक्ति की महत्ता नहीं स्वीकारनी चाहिये।

(घ) **काव्य-सृजन** तो दैवी प्रेरणाओं का परिणाम है। जिस प्रकार चुम्बक, लौह-शृंखलाओं को आकर्षित ही नहीं करता, अपितु उन्हें अन्य कड़ियों को खींचने की शक्ति भी प्रदान करता है, उसी प्रकार काव्य-देवियों की प्रेरणा से कवि से श्रोता तक सभी, काव्य-शृंखला में आबद्ध हो जाते हैं। कवि जब तक पूर्णतः प्रेरित होकर बोधशून्य नहीं होता, तब तक वह मौलिक सृजन करने में असमर्थ रहता है। बोध शून्यता का अर्थ किसी मानसिक विकृति से नहीं, अपितु 'सहज' आत्म-विस्मृति से ही है। प्लेटो ने स्वयं कहा है—'कोई भी कवि जब तक बोध रूपी मन-शक्ति को धारण करता है, काव्य के देव-वाणी तुल्य उपहार का अधिकारी नहीं होता।' उनके अनुसार सारी सुन्दर, रचनाएँ ईश्वरीय प्रेरित होती हैं, कवि तो उस दिव्य-शक्ति द्वारा अधिकृत रूपांतरकार मात्र होता है।[१] 'दिव्य आक्षेप' (Divine madness) के कारण

---

[१] "...These beutiful poems are not human, nor the work of man, but divine and the work of God ; and that the poets are only the interpreters..." दे० प्लेटो के काव्य-सिद्धांत, पृ० १२१

ही कवि ऐसा कर पाता है। पर जब उन्हें दैवीप्रेरणा न मिलकर वाह्य प्रेरणा मिलती है तो उनका व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाता है और वे तर्क व ज्ञान से परे हटकर, अक्षय देवलोक के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करते हुए मानवी प्रवृत्तियों को विकृत करते हैं।

(ङ) **अभिव्यंजना** के सम्वन्ध में प्लेटो के विचार स्पष्ट हैं। वे काव्य के आकर्षण का प्रमुख कारण उसके शिल्पगत सौंदर्य में ही मानते हैं। 'शब्द-माधुरी, ललित-पदावली, नियत-लयता एवं छन्दोबद्धता का सम्मोहन आचार्य प्लेटो, इतना प्रवल मानते हैं कि उसके अभाव में विषय चाहे कितना विराट एवं समर्थ हो या साधारण तथा मधुर–सर्वथा अनाकर्षक, रूप-निर्धन तथा अप्रभावशाली होगा'।[१] यहां प्लेटो रूप-विधान को वस्तु-विधान से अधिक महत्त्व देते हैं। यह विचार, कालांतर में शास्त्रीयवादी विचारधारा का एक प्रमुख अंग वन गया।

(च) **काव्य-प्रयोजन** के सम्वन्व में ऊपर संकेत किया जा चुका है। वे लोकमंगल और लोक-कल्याण को ही काव्य का प्रमुख उद्देश्य मानते हैं। काव्य मात्र आह्लादकारी ही न हो, अपितु राष्ट्र व मानव जाति के लिये उपयोगी भी हो।[2] आनन्द का उद्देश्य तो गौण है। कलाकार समाज-कल्याण के लिये प्रतिवद्ध है। प्लेटो के अनुसार 'कला लौकिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में मानव का, आचरण सम्वंधी मार्गदर्शन करती है।' त्रासदी का काम तो प्रेक्षकों को 'मिथ्या परितोष' देना है। प्लेटो ने प्रेमी का उदाहरण देकर कहा है कि यदि प्रेमिका की इच्छाएँ आत्महित नहीं करतीं, तो वह (प्रेमी) स्वयं को वलपूर्वक रोक लेता है, उसी प्रकार यदि कविता उच्चादर्श प्रस्तुत नहीं करती तो हमें वलपूर्वक उसका विरोध करना चाहिये। इस प्रकार उन्होंने आनन्द और लोक-कल्याण – इन दो उद्देश्यों में से दूसरे को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया। नैतिक शिक्षा पर अधिक वल देने के कारण काव्यानन्द का समर्थन वे न कर सके। अनैतिक मनोरंजन कभी काम्य नहीं हो सकता।

---

१ प्लेटो के काव्य-सिद्धांत, डॉ० निर्मला जैन, पृ० १७

२ 'Let them show, not only that she (Poetry) is pleasant, but also useful to states and to human life'. Ibid p. 124.

वे निष्कर्ष रूप में मानते हैं कि काव्य का मुख्य प्रयोजन, मनुष्य को सदाचरण व धर्माचरण में लगाना है। 'निरानंद लोक शिक्षा प्लेटो को मान्य हो सकती थी, परन्तु काव्य का सर्वश्रेष्ठ या आदर्श रूप प्लेटो वही मानते थे, जिसमें नैतिक उद्देश्य की साधना, आनन्द के माध्यम से हो।'[1] कविता सत्य की प्रवंचना करती है और यह पाप है।

भारतीय-साहित्य-शास्त्र में भी अनैतिक आनंद की भर्त्सना की गई है। भरत मुनि ने 'काव्य को धर्म की ओर प्रवृत्त करने वाला और लोकोपदेशक' कहा है। चतुष्टय पुरुषार्थों में से धर्म और मोक्ष नीति व सदाचार से ही सम्वद्ध हैं। गोस्वामी तुलसीदास रसानुभूति और मंगल–यही काव्य के प्रयोजन मानते हैं। प्लेटो की भांति वे भी लोक मंगल-भावना का समर्थन करते हैं :—

"कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥"

—रामचरितमानस १।१४।५

प्लेटो । मूल्यांकन :—

प्लेटो के सिद्धान्त, पूर्वग्रही दृष्टि से ग्रसित हैं। उन्होंने कवि व उसके कर्म के प्रति घोर अन्याय किया है और उसके गौरव पर कठोर प्रहार किया है। वस्तु-परक दृष्टि के कारण वे अभिव्यंजना-पक्ष को ही अधिक महत्त्व दे पाये और आत्मतत्त्व को बिल्कुल विस्मृत कर दिया। रमणीयता एवं रसाभाव में केवल शब्द क्रीड़ा, मात्र छंदोवद्धता, वाणी-विलास, काव्य नहीं कहला सकते। केवल वाक्य-वक्रता, काव्य तब तक नहीं हो सकती, जब तक उसमें वाच्यवक्रता न हो।" अपनी उपयोगितावादी दृष्टि से उन्होंने काव्य का बड़ा अहित किया। काव्य के प्रभाव के सम्बन्ध में उनका विचार है, कि अनुकर्त्ता कवि, जिसका लक्ष्य ही लोकप्रियता होता है, अपनी कला का संप्रेषण रोदनात्मक और उत्तेजनात्मक मनोवेगों के लिये करता है और ऐसी मनःस्थितियों का अनुकरण सरलता से हो जाता है, जो समाज के लिये अहितकर होती हैं। वस्तुतः अपनी एकांगी दृष्टि के कारण प्लेटो काव्य के महत्त्व को नहीं समझ पाये। उन्होंने 'न काव्य के विभिन्न भेदों, शैली के तत्त्वों, अंग-उपांगो का व्यवस्थित व तात्त्विक विवेचन किया और न ही काव्यगत मौलिक प्रश्नों पर

---

1 प्लेटो के काव्य-सिद्धांत, डा० निर्मला जैन, पृ० ६६.

वैज्ञानिक और सन्तुलित दृष्टि से विचार किया, उन्होंने काव्य का दोष-दर्शन किया है।'[1]

अनुकरण दो प्रकार का होता है—हूबहू नकल (mimicry) और समान-अनुकरण में मौलिकता। प्लेटो ने अनुकरण का पहला अर्थ ग्रहण करके काव्य के महत्त्व को नकारा। मर्फी ने इस सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए कहा कि वास्तविक शैया और चित्रांकित शैया का अन्तर समझने के लिये, आपको रंग और फलक पर सोने का प्रयास करना पड़ेगा। इस प्रकार प्लेटो ने काव्य-माध्यमों पर सही विचार नहीं किया। इस दृष्टि से ललितकलाएँ वाह्य उपकरणों की मात्र प्रतिलिपि ठहरतीं हैं।[2] प्लेटो ने यह विचार क्यों नहीं किया कि कलाकार कला-कृति का निर्माण करते समय आदर्श कलाकृति का निर्माणकर, सत्य के अधिक निकट पहुँच सकता है। किन्तु प्लेटो इस वात को स्वीकारते हो नहीं थे कि इन्द्रियों के माध्यम से भी वास्तविकता तक पहुँचा जा सकता है।[3]

प्लेटो ने काव्य-प्रयोजन को भी नहीं समझा। उनके अनुसार ईश-स्तुति व प्रसिद्ध व्यक्तियों की प्रशस्तियाँ ही काव्य-क्षेत्र के भीतर आ सकती हैं। नैतिकता पर अत्यधिक वल देने के कारण प्लेटो काव्य के सौंदर्य-तत्त्व को विल्कुल भुला वैठे।

काव्य-सत्य और तर्क-सत्य का अंतर प्लेटो ने नहीं समझा। कवि अपने व्यक्तित्व की अभिव्यंजना अवश्य करता है। मानसिक विम्वों और प्रतीकों के माध्यम से वह स्थूल वस्तुओं को भी आदर्श रूप देता है और आदर्श व सूक्ष्म भावों को भी मूर्त रूप प्रदान करता है। प्लेटो ने कवि की अपेक्षा वढ़ई को अधिक उपयोगी समझा, किन्तु ऐन्द्रिय सत्य व विचार सत्य में क्या अन्तर होता है, यह उसकी चिन्तन शक्ति न समझ सकी। 'इसीलिये उसने उन मानसिक चित्रों की भर्त्सना की, जो

---

[1] वही, पृ० ११०.

[2] '...it was all a form of mimicry, and was in effect a foolish and time-wasting attempt to 'rival reality.'

—Aristotle's Poetics, Humphry House, p. 124

[3] Critical Approaches to Literature.

—David Daiches, p. 20

सृजनात्मक साहित्य में उपलब्ध हैं और उन्हें अवास्तविक व व्यर्थ सिद्ध किया।[1] काव्य-पद्धति की अज्ञानता के कारण प्लेटो ने कवियों का तिरस्कार किया। जीवन के प्रभविष्णु-चित्र प्रस्तुत करने के लिये कवियों को कई बार वासनामय पात्र व उनके बुरे कार्यों को भी अभिव्यक्त करना पड़ता है, अतः यह कहना अनुचित होगा कि काव्य असाधुता को प्रश्रय देता है। प्लेटो ने काव्यात्मक प्रतिनिधान व प्रकृति को भली भांति समझा ही नहीं।

**प्लेटो का महत्त्व** :—अनेक दोषों के होते हुए भी प्लेटो के ऐतिहासिक महत्त्व को विस्मृत नहीं किया जा सकता। इन्होंने पाश्चात्य-काव्यशास्त्र के विस्तृत कांतार में सर्वप्रथम पगडण्डी का निर्माण किया। नकारात्मक रूप से ही सही, साहित्यलोचन के लिये चिंतन, अध्ययन व विवेचन की पृष्ठभूमि प्लेटो ने तैयार की। अरस्तू ने मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आद्याचार्य होने का श्रेय भी उन्हें मिला, किंतु उन्हें यह रूप प्रदान करने का श्रेय प्लेटो को ही है। 'काव्य के मौलिक सत्यों के तात्विक विवेचन में यूरोप के मनःशास्त्रविद आचार्यों एवं दार्शनिकों का योगदान अधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया जाता है, और प्लेटो इन दार्शनिकों में प्रथम थे।' अपने तलस्पर्शी गहन प्रतिभा के बल पर आचार्य प्लेटो परवर्ती आचार्यों के लिये प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करते रहे।

प्लेटो की अनेक बातें अमान्य होते हुए भी उनकी मौलिक उद्-भावनाओं को विस्मृत नहीं किया जा सकता। काव्य में सत्य का आधार लोक-मंगल की स्थापना व काव्य-सृजन में कवि का मनःविक्षेप, जो दैवी प्रेरणा का ही परिणाम है—'इन तीनों तत्त्वों की व्याख्या चाहें कोई किसी रूप में करे, पर इन के महत्त्व में प्लेटो के समय से आज तक अणु मात्र भी अंतर नहीं पड़ा।'[2]

राष्ट्र के उत्थान में भी काव्य का महत्त्वपूर्ण सहयोग रहता है। पराधीनता की बेड़ियां काटने के लिये काव्य-साहित्य का कितना क्रांति-कारी योगदान रहा है, यह किसी से प्रच्छन्न नहीं है। प्लेटो ने कवि और

---

[1] Judgment in Literature—W. Basil Worsfold, p. 20

[2] पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा —सं०, डॉ० सवित्री सिंहा, पृ० २

काव्य का मूल्यांकन भी इसी संदर्भ में किया है, अतः उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता। प्लेटो का मूलतः विरोध तत्कालीन हीन साहित्य से ही था। वे श्रेष्ठ कवि व उनके कर्म के विरोधी नहीं हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम कला का वर्गीकरण, उसके मूल तत्त्व, काव्य का वर्गीकरण उस के मूल तत्त्व, त्रासदी व कम्मदी के तत्त्व, भाषण-कला व गद्यशैली का विश्लेषण करते हुए आगे का मार्ग प्रशस्त किया।

प्लेटो पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के प्रथम आलोचक हैं, जिन्होंने तर्क और कल्पना, सयंम और आवेश, ज्ञान और विज्ञान का सामंजस्य स्थापित करते हुए, साहित्य के मूल तत्त्वों को समझने के लिये मनोविज्ञान का सहारा लिया। उन्होंने मानव जीवन के सम्पूर्ण ज्ञान को कलाकारों के लिये अपेक्षित ठहराया। इस प्रकार आलोचना के इतिहास में प्लेटो का स्थान महत्त्वपूर्ण है कि 'उन्हीं के सिद्धांतों ने मनुष्य की आंखे आत्मा और वास्तविकता की ओर फेरीं और तत्कालीन साहित्यकारों के नियमों का खोखलापन प्रमाणित किया। उन्हीं के द्वारा पहले पहल काव्य में आध्यात्मिक तत्त्वों का समावेश हुआ, जिनका प्रभाव आज तक विदित है।'[1]

काव्य-हेतु के अन्तर्गत दैवी-प्रेरणा को निश्चित रूप से महत्त्व प्राप्त है। इसी को भारतीय काव्यशास्त्र में 'नैसर्गिकी प्रतिभा' भी कहते हैं, जिस के अभाव में कोई कवि, कवि नहीं बन पाता अनेक ऐसे कवियों के उदाहरण मिलते हैं, जो बिना 'मसि-कागद' छुए रससिद्ध कवि बने और इसके अभाव में शास्त्र-निष्णात् कवि भी 'हृदयहीन' घोषित किये गये। कबीर और केशव, क्रमशः प्रथम व द्वितीय वर्ग में आते हैं।[2]

प्लेटो ने सभी ग्रंथों में काव्य की भर्त्सना नहीं की है। यहां तक कि 'रिपब्लिक' (६०७) में काव्य के पक्षधर लोगों की बात सुनने को तैयार हैं, क्योंकि यदि उसे आनन्द-लाभ के उत्स के रूप में देखा जाय तो हम लाभान्वित ही होंगे। 'द लॉज' में वे महाकाव्य व नाटक की अनुकरणात्मक कला को भी स्वीकारने को तैयार हैं, यदि उनके रचयिता काव्य वस्तुओं का अनुकरण करें। 'फ्यूडरस' (२४५,२६५) में वे काव्य

---

[1] आलोचना : इतिहास और सिद्धान्त—डॉ० एस०पी० खत्री, पृ० ३६
[2] प्लेटो के काव्य-सिद्धांत—डॉ० निर्मला जैन, पृ० ४८

प्रेरणा का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए यह भी कहते हैं कि इस से आत्मा को शुद्ध नियमों व अंव परम्पराओं से मुक्ति मिलती है। इसी ग्रंथ में वे आंगिक-अन्विति के सिद्धांत की विवेचना भी करते हैं, जो समस्त कलाओं का मूलभूत तत्त्व है। उन्होंने 'रिपब्लिक' में महाकाव्य, गीत व नाटक का अंतर बताया, 'द लॉज' में सच्ची त्रासदी उसे माना, जो जीवन के महानतम व उच्चतम अंश की अभिव्यक्ति करती है; 'फ्यूडरस' व 'रिपब्लिक (३८७, ६०५) में त्रासदी के प्रभाव पर विचार किया है; फिर 'फ्यूडरस' (४७-८) में 'करुण के आस्वादन' पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया है। इसके अतिरिक्त कामदी और भाषण कला पर उन्होंने ही सर्वप्रथम विचार किया है।[1]

सत्य, शिव और सुन्दर की जिस झाँकी की कल्पना हम अपने साहित्य में करते हैं—उस ओर प्लेटो ने भी इंगित किया है।

निष्कर्ष :—प्लेटो ने काव्य और दर्शन का पुराना विवाद खड़ा कर, व काव्य को अनुकरण का अनुकरण करने वाला व पाशव-वृत्तियों का उद्बोधन करने वाला कहकर साहित्य-जगत् में भारी हलचल मचा दी। इन सब सिद्धांतों का वैज्ञानिक व युक्तियुक्त उत्तर उनके शिष्य अरस्तू ने दिया। □

[1] Classical Literary Criticism—T.S. Dorsch, p. 13–14

# १० | अरस्तू के साहित्य सिद्धांत

"उसने (अरस्तू) काव्य को दार्शनिक, राजनीतिक तथा नीति-के अत्याचारों से मुक्त किया। —स्कॉट जेम्स

"काव्यशास्त्र, साहित्य का प्रथम पूर्ण दार्शनिक विवेचन ही नहीं है, अपितु कालांतर के सभी विवेचनों का आधार भी है।" —एबरक्राम्बी

"वह केवल महत्त्वपूर्ण व्यक्ति ही नहीं था, अपितु विश्वजनीन बुद्धिमत्ता से सम्पन्न था।" —इलियट

*    *    *

अरस्तू ने प्लेटो द्वारा स्थापित अनेक भ्रांतियों का युक्तियुक्त निवारण किया। उनके सिद्धान्त, संक्षेप में यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

काव्य-विवेचन—अरस्तू ने काव्य को कला कहा है, व कवि को अनुकर्त्ता। चूंकि वह कथानक की सृष्टि करता है, इसलिये वह रचयिता है। काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में अरस्तू का क्या दृष्टिकोण था—उस पर भारतीय सिद्धान्तों के भिन्न भिन्न मत हैं।[1] किन्तु पाश्चात्य जगत् में त्रासदी को ही अनुकरण का दूसरा नाम कहा जाता है। अरस्तू के शब्दों में—"त्रासदी किसी गंभीर, स्वतः पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य अनुकृति का नाम है।" अतः समस्त काव्यों की आत्मा अनुकृति ही है, कथानक नहीं।

काव्य-सम्बन्धी अरस्तू की धारणा इस प्रकार है—

'काव्य-भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है।' प्रकृति,

---

[1] क. '...कथावस्तु को अरस्तू काव्य की आत्मा मानता था'—डा० प्रतापनारायण टंडन-समीक्षा के मान और हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियां—प्रथम खंड–पृ० १३१

ख. '...अन्य कलारूपों की भांति काव्य की आत्मा है–अनुकरण।' डॉ० नगेन्द्र–अरस्तू का काव्य शास्त्र—पृ० ५.

जीवन का पर्याय है, और अनुकरण का अर्थ है : 'अनुभूति तथा कल्पना के द्वारा जीवन का पुनस्सृजन'। अत: इसका अर्थ हुआ—'काव्य भाषा के माध्यम में अनुभूति और कल्पना के द्वारा जीवन का पुनः सृजन है।'

अरस्तू से पूर्व यह मिथ्या धारणा थी कि छंदबद्ध रचना ही काव्य है, पर अरस्तू ने बताया कि वे सारी रचनाएं कविता हैं जिनमें अनुकरण की प्रक्रिया सम्पन्न होती है—चाहे वे गद्य में हो या पद्य में। उनके अनुसार एपिक कविता, ट्रेजडी कामेडी, डियीरोम्बिक और अधिकतर मुरली और लायर का संगीत भी, ये सभी सर्वाधिक सामान्य दृष्टिकोण से अनुकरण हैं। केवल साधनों व रीतियों में ही अन्तर है।

कवि और काव्य के सम्बन्ध में अरस्तू का अभिमत है कि 'सत्काव्य की रचना के लिये प्रतिभा आवश्यक है, क्योंकि उसी के द्वारा कवि अन्य चरित्रों के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है।'

काव्य-सत्य की चर्चा करते हुए अरस्तू ने लिखा—'कवि का कर्त्तव्य कर्म जो कुछ हो चुका है उसका वर्णन करना नहीं है वरन जो हो सकता है, जो सम्भाव्यता या आवश्यकता के नियम के आधीन सम्भव है, उसका वर्णन करना है। काव्य का सत्य मानव का सत्य का पर्याय है, वस्तु सत्य का नहीं। वह मानव भावना और कल्पना का सत्य है, जो विज्ञान के सत्य से—अधिक मानवीय होने के कारण-भव्यतर है।'[1]

काव्य हेतुओं में अरस्तू दैवी-प्रेरणा को न मानकर अनुकरण व सामंजस्य को ही स्वीकार करते हैं इस प्रकार वे अनेकता में एकता पर बल देते हैं। काव्य-प्रयोजन के सम्बन्ध में अरस्तु की धारणा है—'वह (मनुष्य) सब कुछ अनुकरण के द्वारा ही सीखता है। अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौम नहीं। अनुभव इसका प्रमाण है—जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें क्लेश होता है, उन्हीं की यथावत प्रतिकृति का भावन आह्लादकारी बन जाता है।'

यहां काव्य-प्रयोजन में शिक्षा व आनन्द को ग्रहण किया गया है। ये प्रयोजन परवर्ती कवियों के प्रेरणा-स्रोत बने। परिभाषा के दूसरे खंड में जो बात उठायी गई है, उसका भारतीय सिद्धांत 'करुण में रस' से स्पष्टत: मेल बैठ जाता है।

---

1. अरस्तू का काव्य शास्त्र—पृ० २६.

## अनुकरण-सिद्धान्त

'अरस्तू ने अपने युग में प्रचलित 'कला अनुकरण है, इस सूत्र को तो स्वीकार किया, किन्तु उसकी नवीन व्याख्या की।' —बुचर

'मीमेसिस' का अंग्रेजी अनुवाद 'इमीटेशन' किया गया है, जिसका अनुवाद 'अनुकरण' है। इस सिद्धान्त ने कालांतर में अनेक विवाद उठा दिये और इसका ठीक समाधान आज भी नहीं हो पाया है।[1] इस सम्बन्ध में अरस्तू की स्थापनाएँ जान लेने के बाद इस का स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया जायेगा।

(१) "कला प्रकृति की अनुकृति है।" (भौतिकी)

(२) "कवि अनुकर्त्ता है। अतएव उसका अनुकार्य अनिवार्यतः इन तीन प्रकार की वस्तुओं में से ही कोई एक हो सकती है, जैसी थीं या हैं, जैसी वे कही या समझी जाती हैं अथवा जैसी वे होनी चाहिये।"

(३) "अनुकरण का माध्यम, विषय और विधि प्रत्येक (विधा) में पृथक् होती है।"

(४) "अनुकरण हमारे स्वभाव की सहजवृत्ति है।...अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौम नहीं।"

(क) "कामदी में निम्नतर कोटि के पात्रों का अनुकरण रहता है।"

(ख) "महाकाव्य और त्रासदी में यह समानता है कि उसमें भी उच्चतर कोटि के पात्रों की पद्यबद्ध अनुकृति रहती है।"

(ग) "त्रासदी-किसी गंभीर, स्वतः पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति है।" (काव्य-शास्त्र)

ये कतिपय सूत्र 'पेरि पोइतिकेस' में यत्र तत्र बिखरे हुए हैं।

१. 'कला प्रकृति की अनुकृति है'—यहाँ 'प्रकृति' शब्द के अर्थ पर भी मतैक्य नहीं है। प्रकृति के दो रूप हैं—स्थूल प्रकृति व मानव-प्रकृति। प्लेटो ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए स्थूल प्रकृति के अनुकरण की बात करते हुए काव्य-कला को सत्य से दुगना दूर बताया था, किन्तु

1 That the Imitation doctrine of the Poetics is in some respects disputable, need not be denied...'—A History of Criticism—George Sainsbury, p. 54

भौतिकी (Meteorology) में अरस्तू ने लिखा कि कला-प्रयोजन की प्राप्ति में प्रकृति सहायता करती है। 'प्रत्येक कला और शिक्षा सम्बन्धी अनुशासन उस उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास करती है, जो प्रकृति अपूर्ण छोड़ देती है।' इस प्रकार एक तो कलाकृतियों के मूल में भी प्रकृति की ही भांति, एक प्रकार की सृजन-प्रक्रिया निहित है और दूसरा अपूर्ण कृतियों की पूर्ति कला-कृति में ही पूर्ण होती है।

इस अर्थ को यों समझाया जा सकता है कि मानो हिमाच्छादित पर्वतशृंग पर पड़ती रवि-किरनों को देखकर कोई चित्रकार या कवि आनंद-विभोर होकर कोई रचना करे, तो वह प्रकृति का अनुकरण हुआ, किन्तु वह उस दृश्य को और भी सौंदर्यपूर्ण बना देता है तो उसे अपूर्ण प्रकृति को पूर्ण करने का ही प्रयास कहा जायेगा। 'इस प्रकार अरस्तू की परिभाषा के अनुसार कला में प्रकृति की कृति की अनुकृति का अर्थ केवल इतना है कि कला, प्रकृति की सृजन-प्रक्रिया का 'अनुकरण' करती है। कला की मूल शक्ति यही अनुकरण-शक्ति या सृजन-शक्ति है'[1]

रेने वैलेक ने भी इसी तथ्य को स्वीकारते हुए कहा कि प्रकृति का अर्थ जड़ प्रकृति से नहीं है और न ही इसका सम्बन्ध निष्प्राण जीवन या बहिरंग दृश्यों से ही है, बल्कि इसका अर्थ तो सामान्य यथार्थ और विशेषकर मानव-प्रकृति से है। कवि अपने हृदय के अन्दर ही नहीं देखता, अपनी आत्मा की भावदशा को ही व्यक्त नहीं करता, अपनी जीवनी ही अंकित नहीं करता और न ही यथार्थ से ऊपर उठकर, कविता को प्रतीकवत् समझकर, लोकोत्तर परमतत्त्व तक पहुंचने की चेष्टा ही करता है, वह तो अपनी कला के माध्यम से यथार्थ का अंकन करता है।[2]

अरस्तू के बाद होरेस ने इसका अर्थ किया 'नीति-नियमों से परिबद्ध जीवन'। डॉ० नगेंद्र के शब्दों में—'प्रकृति को यहां समग्र रूप में ही ग्रहण करना उचित है—उसका बाह्य-गोचर रूप ही नहीं, वरन् आन्तरिक सृजन-प्रक्रिया भी इसमें अन्तर्भूत है।'[3] वे इस जीवन के अन्तर्बाह्य-दोनों रूपों की समष्टि का पर्याय मानते हैं।

[1] मानविकी पारिभाषिक कोश—(साहित्य–खण्ड), पृ० १४२

[2] A History of Modern Criticism, Vol. I–Rene Wellek

[3] अरस्तू का काव्य-शास्त्र—डॉ० नगेंद्र, पृ० ८.

होरेस ने कहा—'दर्शक के सामने मीडिया अपने बच्चों की हत्या न करे और न ही दुष्ट एट्रस, मानव-माँस को लोगों के सामने पकाये और न प्रोवने, पक्षी रूप में परिवर्तित किया जाय।' अतः सामान्य मानव-प्रकृति को ध्यान में रखा जाय।

लौंजाइनस का विचार था कि प्रकृति की प्रक्रिया नियमतः आवेग और औदार्य के विषय में मुक्त और स्वायत्त होते हुए भी सर्वथा अनियत एवं व्यवस्थाहीन नहीं हैं। वह तो सर्वत्र मौलिक और प्राणप्रद आधार-तत्त्व होती है। प्रकृति और कला का सम्बन्ध बताते हुए लौंजाइनस ने कहा—"मानव-जीवन के सम्बन्ध में डेमास्थिनीज़ का विचार है कि सौभाग्य सब से बड़ा वरदान है जबकि सन्मति भी, जिसका दूसरा स्थान है, महत्त्व में किसी प्रकार कम नहीं, क्योंकि उसके अभाव में अनिवार्यतः सौभाग्य का नाश निहित रहता है···प्रकृति को सौभाग्य के स्थान पर समझिए और कला को सन्मति के।" अभिव्यक्ति के कुछ तत्त्व ऐसे भी हैं जो एकान्ततः प्रकृति के अधीन हैं।

निष्कर्ष रूप में, अरस्तू की 'सार्वभौम प्रकृति'—प्रकृति सिद्धान्त का ही एक भाग थी, जिसके अन्तर्गत 'प्राकृतिक-विधि' 'प्राकृतिक अधिकार' 'प्राकृतिक अध्यात्म' और यहाँ तक कि मानव-मनोविज्ञान भी आ जाता है।[1] इस प्रकार अरस्तू के सिद्धान्त का व्यापक अर्थ लेते हुए प्रकृति के सुन्दर और आदर्श रूपों के चुनाव करने पर बल दिया गया। अरस्तू ने भी कहा था—"प्रत्येक वस्तु पूर्ण विकसित होने पर जो होती है, उसे ही हम उसकी प्रकृति कहते हैं।"

"अनुकरण शब्द का प्रयोग अरस्तू के अनुसार मानव कलाकृतियों तक सीमित कर दिया गया है। प्लेटो में, सादृश्य उपस्थित करते समय, इसके अर्थ का संकोच भी है और विस्तार भी। अतः उसका एक निश्चित प्रयोग नहीं मिलता, वरन कहीं उसका प्रयोग अधिक व्यापक और अन्यत्र अधिक सीमित हो गया है।" संसबरी का कथन है कि भाषा शास्त्रियों ने प्रारम्भ से ही इस शब्द का अन्य अर्थ लिया होगा। 'भाषण-शास्त्रों' में इस शब्द का अलग महत्त्व है। अरस्तू, इसोक्राट, सिसरो, क्विंटीलियन

[1] A History of Modern Criticism, Vol. I, Rene Wellek, p. 16

आदि ने इस शब्द को भाषण-शास्त्र की दृष्टि से भी परखने की कोशिश की। अरस्तू ने मनुष्य को सबसे अधिक अनुकरणशील प्राणी बताया, वह सब कलाएँ अनुकरण, अध्ययन व अभ्यास से ही सीखता है।

इसोक्राट ने बताया कि अध्यापकों के आदर्शों का अनुकरण शिष्यों को करना चाहिये। सिसरो ने भी अच्छे आदर्शों के अनुकरण का महत्त्व प्रतिपादित किया। उन्होंने सामान्य अनुकरण, अन्य कवियों, दार्शनिकों, वक्ताओं आदि का अनुकरण तथा अनुकरण की समुचित पद्धति पर ध्यान देने को कहा।

डियोनिसियस के अनुसार अनुकरण "कुछ सिद्धान्तों की सहायता से आदर्शों की प्रतिकृति करता है" किंतु उसमें एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक उन्नयन भी अपेक्षित है। 'यह आत्मा की क्रिया शीलता है, जो प्रत्यक्षतः सुन्दर दृश्य से प्रेरित होती है।'

क्विंटीलियन ने भी 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग वक्ता के अनुकरण के आधार पर किया। उसने बताया कि अनुकरण करने से पहले औचित्य (विषय व लेखक) का ध्यान रखना आवश्यक है। इन्होंने बताया कि अनुकरण मात्र ही पर्याप्त नहीं है। यांत्रिक अनुकरण की अपेक्षा नये तथ्यों की खोज और तदनुरूप शैली का विकास अनिवार्य कवि-कर्म है। पूर्ण कलात्मक नकल असम्भाव्य है। अनुकरण मौलिकता से हीन और तथ्य की छाया मात्र ही है। अतः अपने आपमें साध्य अनुकरण आदर्श नहीं है, यह तो कलात्मक प्रगति के लिये साधन है, पूर्व उपलब्धियों के सुधार हेतु एक प्रेरक तत्त्व है — अन्यथा मनुष्य पुराने साधनों पर ही संतोष कर लेता।

होरेस के अनुकरण का अर्थ ग्रीक लेखकों के आदर्शों पर लिखने की प्रक्रिया से लिया। उन्होंने प्रकृति का अर्थ भी उन्हीं आदर्शों से लिया और कहा—"होमर की रचनाएँ आपके अध्ययन और आह्लाद का कारण बने, उन्हें दिन में पढ़ो और रात में चिंतन करो।' किंतु दास-भाव से अनुकरण भी नहीं करना चाहिये।

लौंजाइनस ने और आगे बढ़कर प्राचीनों के आदर्शों ही नहीं, अपितु उनके संस्कारों को भी ग्रहण करने के लिये कहा। वे कहते हैं कि उनके संस्कारों व उन जीवंत शक्तियों का अध्ययन करना चाहिये, जिनके

कारण पहले के महान् ग्रंथों का प्रणयन हुआ और जिनका प्रभाव, विद्युत-प्रकाश की भांति रहस्यमय ढंग से उच्चादर्शों के लिये मानव-मन का पथ-प्रदर्शन करता रहा है।

इस प्रकार अनुकरण शब्द का दूसरा अर्थ 'शास्त्रीय रचनाओं का अनुकरण' करना ही मान लिया गया। मध्ययुगीन अलंकारशास्त्रियों व पुनर्जागरण काल से होते हुए इस विचार का विकास अठारवीं शती के नवशास्त्रवादियों तक इसी रूप में विकास पाता गया। इसके अनेक समानार्थक शब्द भी गड़े गये। अठारहवीं शती में कला को अनुकरणात्मक कलाओं से श्रेष्ठ सिद्ध करने की कोशिश की गई। 'शती के उतरार्द्ध में कला-सृजन में 'मौलिक प्रतिभा' का महत्व निरूपित करने वाले विचारकों ने भी किसी प्रतिभाजन्य कृति को मौलिकता के रहते भी अनुकरणात्मक माना और समालोचक वर्ग, सृष्टि के किसी न किसी रूप की ओर काव्य के अनिवार्य स्रोत और विषय के रूप में देखता रहा।"[1]

नवशास्त्रवादी युग में अनुकरण की परंपरागत व्याख्या के साथ नयी व्याख्याएँ भी जुड़ी। इनका विस्तृत ब्यौरा हम पिछले अध्याय में दे चुके हैं। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि व्यक्तिगत विशेषताओं को भी अनुकरण के प्रसंग में जोड़ दिया गया। रेनल्ड ने कहा कि कलाकार की अभिव्यक्ति, विशिष्टता के विना व्यर्थ है। 'सामान्य' नियमों का प्रतिपादन करते हुए रेनल्ड ने कहा कि अनुकरण, प्रस्तुत पदार्थों का प्रतिनिधान ही नहीं, अपितु कल्पना की आह्लादकारिणी शक्ति के लिये स्वभाविक भी है। डॉ० जॉनसन ने भी शेक्सपीयर के पात्रों की प्रशंसा उनकी विशिष्टता के कारण ही की।

स्विफ्ट ने बताया कि आदर्शों का अनुकरण मधुमक्खी के समान करना चाहिये। अतः इसका तात्पर्य 'मधुमक्खी के समान श्रेष्ठतम पुष्प रस का चयन ही नहीं' मधु ही हो गया। बेनजॉनसन ने भी कहा था कि दासभाव से अनुकरण नहीं करना चाहिए, जैसा कि होरेस ने कहा है; अपितु अनुकरण वैसा हो जैसा मधुमक्खी फूलों को लेकर उसे मधु में परिणत कर देती है। दोनों (मूल व अनुकृति) में ऐसा अभेद स्थापित हो कि अनुकृति मूल लगने लग जाय। यह बात चयन

---

[1] रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र—डॉ. निर्मला जैन, पृ० ३६६०

के ढंग और व्यवस्था पर निर्भर करती है। ऐसे जन्तु की भांति अनुकरण नहीं करना चाहिये जो किसी वस्तु को लेकर निगल जाता है, वरन् उस व्यक्ति की भांति होना चाहिए, जो भूख लगने पर खाता है और उसका आमाशय उसे आहार में परिणत कर देता है।

सिडनी ने लिखा— "अतः कविता अनुकरण की कला है और यही अरस्तू के 'मीमोसिस' शब्द का अभिप्राय है, अर्थात् प्रतिनिधान करना, नकल करना या प्रत्यक्षंकन करना···और इसी लक्ष्य को सम्मुख रखकर शिक्षा तथा आनन्द प्रदान करना।"

स्कॉट जेम्स के अनुसार— 'अरस्तू के काव्य-शास्त्र में अनुकरण से तात्पर्य है–साहित्य में जीवन का वस्तु परक अंकन, जिसे हम अपनी भाषा में जीवन का काल्पनिक पुनर्निर्माण कह सकते हैं।"[1]

विम्सॉट व ब्रुक्स कहते हैं :— 'काव्य-शास्त्र' में 'मीमेसिस' पद का अर्थ, प्रकृति के समानांतर या उसके सहायक के रूप में नहीं अपितु प्रकृति के तद्वत अंकन के रूप में लेना चाहिये।···संक्षेप में; अरस्तू का तात्पर्य है कि काव्यात्मक अनुकरण आन्तरिक मानवीय कार्यों का अनुकरण है।'[2] इन समीक्षकों की धारणा है कि अनुकरण-सिद्धांत, संदर्भ (reference) का सिद्धांत है और इस क्षेत्र में वह सार्वभौमिक व आदर्श है और नैतिक व्यक्ति के लिये आवश्यक भी है। किंतु अनुकरण का काव्यात्मक मूल्य व्यवहारिक आदर्श के संदर्भ में नहीं आंका जाना चाहिये, ऐसी बात यह सिद्धांत नहीं कहता।

एबरक्राम्बी ने अनुकरण का अर्थ 'शिल्प' से लिया है।[3] अनुकरण कला के उस कार्य-व्यापार से सम्बन्धित होता है, जो काव्यानुभूति व काव्य-भाषा के सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। उनके अनुसार अनुकरण वह तंत्र है, जिसके द्वारा कवि अपनी कल्पनात्मक अनुभूति की प्रेषणीय अभिव्यक्ति को अंतिम रूप प्रदान करता है।

---

[1] The Making of Literature–Scott–James, p. 53

[2] 'Aristotle...means that Poetic imitation is an imitation of inner human action'. —Literary Criticism: A Short History, Wimsatt & Brooks, p. 27

[3] '...imitation in Poetry is exactly, what we mean by technique...' Principles of Literary Criticism, Lascelles Abercrombie, p. 88

हम्फरी-हाउस :—इन्होंने 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है—[1] (१) अनुकरण-हूबहू नकल (mimicry) के रूप में व (२) अनुकरण—कला-ग्रंथों के रूप में प्रयुक्त शब्द। प्रथम अर्थ में अनुकरण माध्यम व विषय में नकल से पृथक तत्त्व नहीं होता। जैसे कोई व्यक्ति कोकिल की पुकार की अपनी ध्वनि के माध्यम से अनुकृति करता है, यहां पद्धति व माध्यम एक ही हैं, चाहे प्रयोजन धोखा देना ही हो। एक दूसरा उदाहरण है—मान लो एक बालक, किसी विचित्र व्यक्ति की चाल का अनुकरण, पीछे से करता हुआ जा रहा है, इस में पद्धति व माध्यम एक होते हुए भी इसका प्रयोजन शुद्ध मनोरंजन करना है। यह अनुकरण जन्य आनंद, समता और विषमता के मिश्रण में निहित है।

जॉन जोन्स—इनका मत है कि अरस्तू अनुकरण का अर्थ 'रूप-आकार का अनुकरण' करते हैं और वह रूप, जिसका अनुकरण दुखांतिकी-कला करती है, कार्य है।[2]

बुचर—इन के अनुसार अनुकरण का अर्थ यह है कि कलाकृति, मूलवस्तु का पुनरुत्पादन, जैसा वह होता है, वैसा नहीं, अपितु जैसा वह इन्द्रियों को प्रतीत होता है, वैसा करती है। कला का संवेदन, तत्त्व ग्रहिणी बुद्धि के प्रति नहीं, अपितु भावुकता व मन की मूर्ति-विधायनी शक्ति के प्रति होता है।[3]

गिल्वर्ट मरे मानते हैं कि अनुकरण में सर्जना का अभाव नहीं; पाट्स अनुकरण को 'आत्माभिव्यंजन से भिन्न, जीवन (की अनुभूति) का पुनःसृजन' मानते हैं। एटकिंश भी प्रायः सृजन के रूप में लेते हैं, स्कॉट जेम्स 'जीवन का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण' मान ही चुके हैं।

हिन्दी के विद्वानों ने प्रायः 'अनुकरण' की प्रचलित व्याख्या को ही प्रस्तुत किया है।

आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी ने इस सिद्धांत पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए कहा है कि अनुकृति केवल स्थूल या व्यक्त की ही नहीं

---

1 Aristotle's Poetics—Humphry House, p. 123

2 On Aristotle and Greek Tragedy–John Jones, p. 24

3 Aristotle's Theory of Poetry and Fine Arts–Bucher. p. 120

काल्पनिक भावात्मक तथ्य (जैसे संगीत) की भी हो सकती है, किंतु उसमें चरित्र की अपेक्षा वस्तु की प्रधानता ही मिलेगी। यह मानव की सहज स्वाभाविक प्रवृति है और इसके माध्यम से मानव-व्यापार का ज्यों का त्यों अनुकरण भी होता है और कहीं-कहीं कवि अपनी ओर से भी अपने उद्‌गार व्यक्त करता है। सौंदर्य मूलक होने के कारण कलाओं का अनुकरण आह्लादकारी होता है।[१]

डॉ० रामअवध द्विवेदी का कथन है—'अनुकरण का सब से सामान्य अर्थ यह है कि अभ्यास के लिए तथा अपनी लेखनशैली को परिष्कृत और सुन्दर बनाने के लिए लेखकों और कवियों को, उपलब्ध उत्कृष्ट रचनाओं का अध्ययन एवं अनुसरण करना चाहिये।'[२]

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने 'साहित्यि की आत्मा या शक्ति के अन्तर्गत अनुकृति की चर्चा की है, पर उसे काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं किया। उनके शब्दों में "अनुकृति को काव्य की आत्मा नहीं माना जा सकता। अनुकृति सिद्धांत मूलतः जगत के बाह्य-उपादानों के साथ काव्य सामग्री के सम्बन्ध की ही व्याख्या करता है, वह काव्य-सामग्री के उस विशिष्ट तत्त्व को स्पष्ट नहीं करता जो कि अनुकार्य से पृथक है...कुरूप पदार्थों की भी अनुकृति से काव्य में 'आह्लादकता' की क्षमता कैसे आजाती है, इसका उत्तर अनुकृति सिद्धांत नहीं दे पाता।'[3] अनुकरण का लक्ष्यार्थ 'अनुरूप वर्णन' है, क्योंकि कवि मूल पात्रों के क्रिया-कलापों की पुनरावृत्ति न करके उनके कल्पित या अनुभूत रूप मात्र को भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करता है।

✓(२) अरस्तू के अनुसार वस्तुओं को यथार्थ, सम्भाव्य व आदर्श इन तीनों में से किसी एक रूप का अनुकरण कवि करता है। यथार्थ अनुकरण के सम्बन्ध में अरस्तू का मत है कि 'यदि किसी वस्तु का चयन करके, क्षमता के अभाव में, कवि उसका यथावत् अनुकरण नहीं कर सका तो यह काव्य का तत्त्वगत दोष है।'

अरस्तू की धारणा है कि यदि कवि असम्भव का वर्णन करता

---

[१] आधुनिक साहित्य—आचार्य वाजपेयी पृ० ४०५

[२] साहित्य-सिद्धांत, पृ० १२

[3] साहित्य की आत्मा, पृ० ५८

है, तो यह उसका दोष है, किंतु यदि इससे महान लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता मिलती हो, तो कवि ऐसा कर सकता है। साथ ही इस बात का ध्यान रखा जाय कि काव्य-कला के नियमों का उल्लंघन न हो। सामान्यतः असम्भव का ग्रहण कलात्मक आवश्यकताओं के अथवा किसी भव्यतर सत्य या परम्परागत धारणा के आधार पर उचित ठहराया जा सकता है। अरस्तू का मत इस सम्बन्ध में स्पष्ट है कि कवि का अधिकार केवल यही नहीं है कि वह वास्तव में घटित होने वाली घटनाओं का ही वर्णन करे, अपितु सम्भाव्य घटनाओं का भी, जो सम्भाव्यता या आवश्यकता के नियमों के अनुसार सम्भव हों।

यहीं पर कवि और इतिहासकार के भेद पर भी विचार किया गया है। अरस्तू के शब्दों में—"वास्तविक अंतर यह है कि एक (इतिहासकार) सचमुच होने वाली घटनाओं का वर्णन करता है और दूसरा (कवि) ऐसी घटनाओं का, जिनके होने की सम्भावना है।" कवि-कर्त्तव्य की इतिश्री, घटनाओं के यथातथ्य रूप में वर्णन कर देने से नहीं होती, उसे सार्वभौम की अभिव्यक्ति करनी पड़ती है, जब कि इतिहासकार विशिष्ट की अभिव्यक्ति ही कर पाता है। इसीलिये काव्य, इतिहास की अपेक्षा उच्चतर व अधिक दार्शनिक वस्तु है।

(३) अरस्तू स्वीकार करते हैं कि विभिन्न क्षेत्रों में 'अनुकरण की प्रक्रिया लय, भाषा अथवा सामंजस्य में से किसी एक या एकाधिक द्वारा सम्पन्न होती है।' उदाहरणार्थ वंशी या वीणा के संगीत में केवल लय व सहस्वरता, नृत्य में केवल लय व काव्य-साहित्य में केवल भाषा का अनुकरण होता है। इस प्रकार प्रत्येक विधा में पृथक् माध्यम का अनुकरण किया जाता है।

अरस्तू के अनुसार अनुकरण के विषय क्रियाशील मनुष्य होते हैं और नैतिक आचरण के आधार पर इनकी उच्चतर या निम्नतर कोटियाँ होती हैं। क्रियाशील मनुष्यों का यथार्थ, यथार्थ से हीनतर या उच्चतर चित्रण करना पड़ता है। इसी प्रकार कामदी का लक्ष्य, यथार्थ जीवन की अपेक्षा मानव का हीनतर व त्रासदी का लक्ष्य भव्यतर चित्रण करना होता है।'

क्रियाशील मनुष्य के कर्त्ता व भोक्ता—दोनों रूपों की चर्चा की गई है। एबरक्राम्बी के अनुसार क्रियाशील मनुष्यों का अर्थ, अरस्तू के

लिये अनिवार्यतः, कुछ करते हुए मनुष्य नहीं है, अपितु मानव जीवन में निहित घटनाएं ही हैं। इस प्रकार 'क्रिया केवल बाह्य कर्त्तव्यों का ही नाम नहीं है, अपितु उसमें अन्तर्वृत्तियों का भी समावेश अनिवार्य रूप से होता है।'

अनुकरण की विधियां भी अलग अलग हैं। कवि चाहे तो होमेरस की तरह कोई अन्य व्यक्तित्व धारण कर सकता है या अपने निजी रूप में ही बोल सकता है, अथवा अपने सारे पात्रों को जीवित-जागृत और चलते-फिरते प्रस्तुत कर सकता है। महाकाव्य में कवि स्वयं भी बोलता है और पात्रों के मुख से भी कहलवाता है; वर्णनात्मक काव्य में वह स्वयं कथा-वर्णन में संलग्न रहता है और नाटकों में वह तटस्थ होकर क्रिया और कथन का सारा उत्तरदायित्व पात्रों पर ही छोड़ देता है।

(४) काव्य का उद्भव बताते हुए भी अरस्तू ने अनुकरण-सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। इसके उद्भव में (क) अनुकरण और (ख) सामंजस्य व लय की वृत्तियां ही प्रधान रही हैं। अनुकरण हमारे स्वभाव की एक सहजवृत्ति है यह मनुष्य में बचपन से ही विद्यमान रहती है और आरम्भ में वह इसी के माध्यम से सब कुछ सीखता है। अन्य जीवधारियों की अपेक्षा मनुष्य ही सब से अधिक अनुकरणशील प्राणी है।

यहां अरस्तू ने अनुकरण की सार्वभौमिकता की प्रशंसा भी की है। वे कहते हैं कि जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें क्लेश होता है, उन्हीं की यथावत प्रतिकृति का भावन आनन्दमय बन जाता है। जघन्य पशु व शव की रूप-आकृति का उदाहरण इस सम्बन्ध में स्पष्ट है।

कविता की मूल प्रेरणा, मानव की अनुकरण व संगीत प्रियता में ही निहित है। इसी प्रकार कविता वास्तविक जीवन में अच्छे या बुरे व्यक्ति का अनुकरण, मात्र यांत्रिक प्रतिलिपि करने से नहीं, अपितु कल्पना के सहारे से करती है। अरस्तू के शब्दों में—"काव्य-सृजन के लिये कवि में प्रकृति-दत्त प्रतिभा अथवा थोड़ा विक्षेप आवश्यक है। पहली स्थिति में कवि किसी भी चरित्र के साथ तादात्म्य कर सकता है और दूसरी में वह 'स्व' की भूमिका से ऊपर उठ जाता है।"

व्यक्तिगत प्रकृति के कारण काव्य में अनुकृति के दो रूप मिलते हैं। 'गम्भीरचेता लेखकों ने उदात्त व्यापारों और सज्जनों के क्रिया-

कलाप का अनुकरण किया।' क्षुद्र वृत्ति के लेखकों ने अधमजनों के कार्य व्यापारों का वर्णन किया। प्रथम कोटि के लेखक महाकाव्य व त्रासदी के रचयिता होते हैं और दूसरी कोटि के लेखक कामदी के। कामदी में निम्नतर या दुष्ट कोटि के पात्रों का चरित्र होता है और महाकाव्य व त्रासदी में उच्चतर कोटि के पात्रों का।

अनुकृति से आनन्द की उपलब्धि किस को होती है? 'यद्यपि यहाँ अरस्तू को सहृदय का ही आनन्द अभिप्रेत है, परन्तु सहृदय के आनन्द के पीछे अनुकर्त्ता के आनन्द की अवस्थिति भी निश्चय ही माननी पड़ेगी; क्योंकि आनन्द का संप्रेषण, अनुकर्त्ता आनन्द के स्वानुभूति के बिना नहीं कर सकता। अर्थात्, अरस्तू प्रकारांतर से अनुकरण की क्रिया और प्रतिक्रिया दोनों में आह्लाद की स्थिति मानते हैं।'[1] इस प्रकार आनन्द की उपलब्धि में 'आत्मतत्त्व' का प्रकाशन निहित रहता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अरस्तू ने अनुकरण-सिद्धांत के माध्यम से कला-सृजन की वस्तुनिष्ठ व्याख्या की है। इस की पृष्ठभूमि मानव की अनुकरण की प्राकृतिक वृत्ति व उससे आनन्दित होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति से जोड़ा जा सकता है। हम देख चुके हैं कि प्लेटो ने अनुकरण शब्द का व्यवहार केवल पुनरांकन के रूप में ही किया, किंतु इसी अर्थ के साथ साथ अरस्तू ने उसमें नया अर्थ भी भरा। "काव्य अब मानव-जीवन और मानव-विचार के सार्वत्रिक और स्थायी भावों का स्पष्टीकरण हो गया। काव्य न तो केवल यथार्थ का अनुकरण है और न भावों का इन्द्रजाल; वह है प्रतिदिन के जीवन से उठता हुआ सार्वत्रिक सत्य और मानव-जीवन को प्रकाशमान करता हुआ नव-आदर्श।"[2]

प्रश्न उठता है कि हूबहू नकल के रूप में अरस्तू ने भी इस का प्रयोग क्यों किया है? इसकी व्याख्या यही दी जा सकती है कि नाटकों में ऐसी नकल जरूरी है। अनुकर्त्ता और अनुकार्य दोनों ही क्रियाशील मानव हैं। अरस्तू ने बड़ी कुशलता से दोनों अतिवादों में संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया—(क) पात्र हमारी 'तरह' होने चाहिए और

---

[1] अरस्तू का काव्य-शास्त्र—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ६

[2] आलोचना: इतिहास और सिद्धांत--डॉ० एस. पी. खत्री, पृ० ३८

(ख) कवि उन व्यक्तियों का अनुकरण करता है जैसे कि होने चाहिये, न कि जैसे हैं।[1]

अनुकरण से उपलब्ध आनन्द सार्वभौमिक होने के कारण इस की परिसीमा व्यक्ति-वैचित्र्य तक ही सीमित नहीं है, अपितु जन-सामान्य की अभिरुचियों तक फैली हुई है। इस प्रकार यहां वस्तु परक दृष्टिकोण को अधिक महत्व दिया जाता है।

**अनुकरण-सिद्धांत की आलोचना** :—यह पूर्ण नहीं है। इसमें वाह्यपक्ष की ही प्रधानता है। "अनुकरण का अर्थ पुनः सृजन कर लेने पर भी वस्तु का महत्त्व वना रहता है, अतएव यह परिभाषा अनुकर्त्ता कवि के सामने जीवन और जगत् के रूप में वस्तुः की सत्ता अनिवार्यतः प्रतिष्ठित कर उसकी स्वानुभूति को गौण रूप दे देती है।"[2] इसी वस्तुपरकता को अधिक महत्त्व देते हुए कालांतर में नव्यशास्त्रवादियों ने काव्य की परिभाषाएं स्थिर कीं।

दूसरी शंका यह व्यक्त की गई है कि अनुकरण-सिद्धांत नाटक महाकाव्य आदि के लिये अधिक उपयुक्त है, मुक्तक की चर्चा उसमें नहीं की गई है, यद्यपि अरस्तू से पूर्व मुक्तक की रचना पर्याप्त मात्रा में हो चुकी थी। क्या अरस्तू मुक्तक के लिये, अनुकरण आवश्यक नहीं मानते ? कतिपय विद्वानों[3] का मत है कि "क्रियाशील शब्द अत्यंत व्यापक है और उसके अन्तर्गत वे सभी मानव मन की अन्तर्वृतियां सन्निविष्ट हो जाती हैं, जिनकी अभिव्यक्ति मुक्तक में होती हैं।"

अनुकरण सिद्धांत और क्रोचे के सहजानुभूति-सिद्धांत में स्पष्ट अंतर लक्षित होता है। क्रोचे के अनुसार कला सहजानुभूति है; कला कलाकार के अन्तर में जन्म लेती है। यह स्वतः मौलिक है, इसका अनुकरण नहीं हो सकता और उसका मूर्तरूप, जो अनुकरण का विषय है, क्रोचे के अनुसार आनुषंगिक हैं। अतः जिस अंश तक क्रोचे का 'सहजानुभूति सिद्धांत' मान्य है, उसी अंश तक अरस्तू का अनुकरण सिद्धांत अमान्य है।[4]

---

1 Aristotle's Poetics—Humphry House, p. 125.

२ अरस्तू का काव्य शास्त्र—डॉ० नगेन्द्र–पृ० २७

३ साहित्य सिद्धांत—डॉ० रामअवध द्विवेदी–पृ० २०

४ अरस्तू का काव्य-शास्त्र–डॉ० नगेन्द्र पृ० १३

इस सिद्धांत में वस्तुपरक दृष्टिकोण की अतिवादिता के कारण आत्मतत्त्व विस्मृत सा हो गया है अर्थात् 'जीवन के विभिन्न अनुभवों से निर्मित कवि की अपनी अंतश्चेतना को वांछित महत्त्व नहीं दिया।'

इसके अतिरिक्त अंधानुकरण की प्रवृत्ति दोषयुक्त है। बेन जॉनसन ने कहा था कि इससे अधिक हास्यास्पद स्थिति और क्या हो सकती है कि एक लेखक को तानाशाह बना दिया जाय, जैसा कि अरस्तू को बनाया गया।

## अनुकरण-सिद्धान्त का प्रभाव :

ऊपर हम देख चुके हैं कि अनुकरण को मात्र नकल या 'प्रकृति के सामने दर्पण रख देने' की प्लेटो की व्याख्या के उपरांत अरस्तू ने इसे जो रूप दिया, वह परवर्ती साहित्य में अपने नाना रूपों में स्थापित हुआ।

नवशास्त्रवादी-सिद्धांतों का जब तिरस्कार होकर स्वछंदतावादी-सिद्धांतों की प्रतिष्ठा हुई, तो प्रकृति के प्रति व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि का विकास होने लगा। यद्यपि यह दृष्टि 'अनुकरण' के विरुद्ध थी, तथापि 'इस दृष्टिकोण के मूल बीज अरस्तू के अनुकरण-सिद्धांत में ढूंढे जा सकते हैं, जहाँ प्रकृति के अनुकरण और ऐसे अनुकरण पर बल दिया गया था, जो संभाव्यता के नियमानुसार किया गया हो।' कालांतर में जब कथा-साहित्य को अनुकरणात्मक मानकर प्रकृति और यथार्थ के अनुकरण पर बल दिया गया तो जीवन का यथातथ्य अनुकरण करने वाले प्रकृतवाद, यथार्थ-वाद और अतियथार्थवाद, इसी सिद्धान्त के विकसित रूप ज्ञात पड़े। वे साहित्य को जीवन की हूबहू प्रतिलिपि मात्र मानकर चलते हैं। प्रकृत-वादियों ने साहित्य का विश्लेषण व कार्य फोटोग्राफिक कैमरे के अनुरूप बताया। इस प्रकार कथा-साहित्य के माध्यम से सामाजिक समस्याओं की प्रत्यक्षांकन होने लगा।

अनुकरण-सिद्धांत की नयी-परिभाषाओं के आधार पर 'कला को प्रकृति न मानकर कला को कला के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।' इसके अनुसार कला प्रकृति के उस नियम का अनुकरण करती है, जिसके अनुसार प्रकृति उत्पादन एवं सृष्टि करती है। हार्वे गोल्डस्टीन ने इसको समझाते हुए कहा कि इसके अनुसार प्रकृति के समान कला भी अपने आन्तरिक नियमों के अनुसार सृजन करती है और अपनी सृष्टि को एक प्रकार की सुसंगति प्रदान करती है। 'इस प्रकार किसी कलाकृति के संघ-टित रूप में वे समस्त तत्त्व पृथक-पृथक रूप में प्रकृतिगत वस्तुओं को

अनुकृति हो सकते हैं; किंतु अपने संघटित रूप में वे समस्त तत्त्व प्रकृति से भिन्न एक सर्वथा नई सृष्टि होते हैं।[1]

स्वच्छंदतावादी धारणा कि, कवि केवल यथार्थ की अनुकृति नहीं करता, उसे संशोधित रूप में भी प्रस्तुत करता है, ने स्वच्छंदतावादी-आदर्शवाद को जन्म दिया। फ्रेंच आलोचक चार्ल्स वेथ्यु ने, अरस्तू के अनुकरण-सिद्धान्त को 'आलोक का उत्स' कहा और यह भी स्पष्ट किया कि अनुकरण अनगढ़ दिन प्रतिदिन के यथार्थ का नहीं होता, अपितु अलग अलग वस्तुओं से विशिष्टताओं को एकत्र कर एक ऐसे आदर्श का निर्माण किया जाता है जो सभी संभव रूपों में पूर्ण है। टी. एस. इलियट ने कहा—'कवि अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं करता, बल्कि एक माध्यम का उपयोग करता है, जो उसके प्रभावों और अनुभवों को विशेष, अदृष्टपूर्व रीतियों से एकान्वित कर देता है।'

समस्त कलाओं को अनुकरणात्मक मानने की प्रवृत्ति आज भी पाश्चात्य चिंतन में विद्यमान है। उन्नीसवीं शती में नीत्शे व ऐडवर्ड यंग आदि विचारकों ने कहा कि उपलब्ध आदर्शों का अनुकरण नकल नहीं, कलाकार को इस के माध्यम से आदर्श कृतियों की आत्मा को ग्रहण करना चाहिये। अतः प्रकृति का अनुकरण व आदर्श का अनुकरण दोनों को किसी न किसी रूप में ग्रहण किया गया। दोनों का समन्वय करने की चेष्टा आधुनिक आलोचना जगत की महत्त्वपूर्ण विशिष्टता है।

'नयी आलोचना' के अधिकारी विद्वान रैंसम मानते हैं कि काव्य कला में भौतिक व अमूर्त—दोनों तत्त्व विद्यमान रहते हैं और दोनों के सम्मिलन से काव्य-कला का विकास होता है। फर्गुसन ने बताया कि 'घटना' नाटक की नहीं, प्रगीतादि साहित्य की अन्य विधाओं की भी विशेषता है। इलियट ने नाटकों का अध्ययन प्रगीतात्मक दृष्टि से किया। इस प्रकार संतुलन बनाया गया। 'जब जब साहित्य में अहं-केंद्रित व्यक्तिबद्ध दृष्टि का अतिचार हुआ, अनुकरण-सिद्धांत के माध्यम से उसके त्राण का प्रयास किया गया और इस प्रकार शब्द-भेद से यह सिद्धांत आज भी समीक्षाशास्त्र में किसी न किसी रूप में कला-सृजन की व्याख्या प्रस्तुत करता है।'[2]

---

[1] रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र—डॉ० निर्मला जैन, पृ० ३६७

[2] रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र—डॉ० निर्मला जैन, पृ० ३६९

सत्य और काव्य का जो अन्तर अरस्तू ने समझाया था, वही आज वैज्ञानिक सत्य व काव्य-सत्य का अंतर है। अरस्तू ने कहा था—'जो कुछ विवेक-संगत न हो, उससे यथाशक्ति बचना चाहिये।' विज्ञान और कविता के सम्बन्ध में अरस्तू की धारणा आज भी प्रेरणाप्रद है।

## अनुकरण-सिद्धान्त और भारतीय मत :

भारतीय नाट्य-सिद्धांतों में 'अनुकृति' का प्रयोग प्रकारांतर से हुआ है। कहीं वह शब्द 'अनुकरण' कहीं 'अनुवर्तन' व कहीं 'अनुव्यवसाय' के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

भरत मुनि–ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में लिखा है—"इस प्रकार मेरे द्वारा रचा हुआ यह नाट्य अनेक प्रकार के भावों से सम्पन्न है, इसके अन्तर्गत विविध प्रकार की अवस्थाएँ हैं और इसमें लोक के वृत्त का अनुकरण है।" (१।११२) उन्होंने नाट्य को सात द्वीप वाले लोक का अनुकरण–रूप माना है। भरत मुनि ने लोक प्रकृति व लोकवृत्त शब्दों का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। 'इसके अन्तर्गत समस्त अन्तर्बाह्य रूपों का वेश भूषा, कार्य-व्यापार, वाणी-व्यवहार, भावादि सभी का समावेश है। भरत ने विस्तार से रंगमंच पर इनके अनुकरण का विधान किया है। नाट्यशास्त्र में केवल वेशभूषा, क्रिया–कलाप आदि वाह्य-रूपों का ही नहीं—नाना अनुभावों के द्वारा स्थायी, संचारी आदि मानसिक विचारों के अभिनय का भी सूक्ष्म विधान है।'[1]

रस-विवेचन के अन्तर्गत भरत मुनि ने 'अनुकृति' शब्द का प्रयोग किया है। शृंगार और हास्य के कार्य-कारण सम्बन्ध पर उन्होंने टिप्पणी की है—'जो शृंगार की अनुकृति है, वह हास्य कहलाता है।' यहां अनुकरण का प्रयोग प्लेटो के नकल की तरह हुआ है। किसी सामान्यतः गंभीर विषय का जो अनुकरण हास्य उत्पन्न करे, वह 'नकल' के अतिरिक्त और क्या ऊंचा हो सकता है? भोज ने 'शृंगार प्रकाश' में इस सम्बन्ध में लिखा है—'हास्य की उत्पति के लिए अनुकरण के विषय को शृंगार तक परिसीमित नहीं करना चाहिये, क्योंकि अनुकरण-मात्र और किसी भी वस्तु एवं रस का अनुकरण हास्य उत्पन्न करता है।'

---

[1] अरस्तू का काव्य-शास्त्र—डॉ० नगेंद्र, पृ० १३

भरत मुनि ने नाटक का स्वरूप निर्धारित करने के लिये, 'अनुभावना' का निषेध कर उसे 'अनुकीर्तन-रूप' प्रतिपादित किया है। इन दोनों शब्दों की व्याख्या करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने कहा है कि 'अनुभावन' का अर्थ है 'पदार्थ के प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले विशेष स्वरूप का ग्रहण'।[1] राम-सीतादि वर्तमान नहीं हैं, अतः नाटक में उनका 'अनुभावन' सम्भव नहीं, केवल उनका 'अनुकीर्तन' या शब्द द्वारा कथन ही सम्भव है। नाटक 'अनुकीर्तन-रूप' है, क्योंकि उसमें रामादि के साधारण (साधारणीकृत) रूप का ही ग्रहण होता है।

अभिनवगुप्त—इन्होंने भरत मुनि के 'अनुकरण-सिद्धांत' की अत्यंत सारगर्भित व्याख्या की है।

'यह अनुव्यवसाय-विशेष रूप 'अनुकीर्तन' जिसको नाट्य-नाम से भी कहा जाता है, अनुकरण-रूप है।···क्योंकि इस (नाट्य को देखने पर) इस भाण्ड ने राजपुत्र की या अन्य किसी की नकल की है।'

यहाँ ध्यान देने योग्य वात यह है कि भरत मुनि ने 'अनुभावन' व 'अनुकीर्तन' शब्दों का ही प्रयोग किया था, किन्तु परवर्ती टीकाकारों ने 'अनुकरण' शब्द जोड़ दिया जिसका खण्डन अभिनवगुप्त ने किया। उनके अनुसार अनुकरण का अर्थ नकल है, यह भी अभिनय का एक प्रकार है, पर निकृष्ट कोटि का नाटक ऐसा निम्न कोटि का। हास प्रेक्षकों में उत्पन्न नहीं करता।

अभिनवगुप्त ने अनुकरण के नियतानुकार और अनियतानुकार रूपों का भी खण्डन किया है। पहले का अर्थ है, किसी व्यक्ति-विशेष का अनुकरण। जैसे सीतारामादि का नियतानुकरण सम्भव नहीं, क्योंकि अनुकरण शब्द का अर्थ है 'सदृश-क्रिया' और रामादि तो क्रिया-रूप नहीं द्रव्य-रूप हैं। अत. विभावों का अनुकरण सम्भव नहीं है। इसी प्रकार अनुभावों के अनुकरण-रूप की असम्भाव्यता का प्रकाशन किया है। रामादि के हर्ष-शोक को विल्कुल वास्तविकता से ले. तो 'अनुकरण' किस वात का? नट में तो हर्ष-शोक होते ही नहीं है। तो फिर नट द्वारा प्रदर्शित हर्षादि की प्रतीति हमें क्यों होती है? अभिनवगुप्त का उत्तर है कि नट राम के 'सदृश' हर्षादि को व्यक्त नहीं करता, उनके 'सजातीय' हर्षादि को व्यक्त करता है।

---

[1] हिन्दी अभिनवभारती—सं० आचार्य विश्वेश्वर, पृ० १६०

आचार्य विश्वेश्वर ने इन दोनों शब्दों की व्याख्या की है। जो नित्य होकर अनेक में समवेत हो उसे 'जाति' कहते हैं जैसे मनुष्यों की 'मनुष्यत्व' जाति। यह 'सामान्य नित्य धर्म' है, जो भिन्न-कालीन व्यक्तियों में भी 'साजात्य' रह सकता है। इसीलिये राम के जो हर्ष-शोकादि पूर्व-काल में हुए थे, उनमें भी हर्षत्व-शोकत्व आदि जाति रहती थी और यही-जाति नट के प्रदर्शन में है। इसलिए राम के और नट के हर्ष-शोक 'सजातीय' हैं।[1] इसी प्रकार 'सदृश' का अर्थ है समान-दर्शन, जो दो विद्यमान विशिष्ट पदार्थों का ही हो सकता है। राम के हर्ष-शोक आदि विद्यमान नहीं और वे भी साधारणीकृत रूप में हैं, अतः 'सजातीय' पदार्थ होते हुए भी 'सदृश' नहीं है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने अनुकरण-पक्ष का खण्डन कर 'अनुकीर्तन-पक्ष' का ही समर्थन किया।

इस प्रकार अनुकीर्तन का अर्थ हुआ—'नाटक के साधारणीकरण-रूप अलौकिक व्यापार द्वारा सीतारामादि के विशेष स्वरूप को हटाकर उनके साधारणीकृत रूप का ग्रहण'। अतः नाटक, 'अनुभावन' रूप न होकर 'अनुकीर्तन' रूप ही है।

'अभिनवभारती' के अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि अभिनवगुप्त से पूर्व 'अनुकरण' का प्रयोग एक तो 'नक़ल' या 'स्वांग' के अर्थ में होता था और दूसरा किसी-यथार्थ तथ्य की क़ाव्य-नाट्य के माध्यम से 'पुनर्रचना' के अर्थ में, जिस अर्थ में अरस्तू का 'मीमेसिस शब्द प्रयुक्त होता है। "पहले अर्थ में उसका विरोध कर अभिनवगुप्त ने उसे नाट्य-रचना के अधिक गंभीर और व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया। तदुपरांत अनुकरण का यही अर्थ सर्वस्वीकृत हो गया और इस सम्बन्ध में पुनः विवाद नहीं उठा।"[2]

भोज—इन्होंने 'अनुकरण' का विवेचन दोष-प्रसंग के अन्तर्गत किया है। दोषों की नित्यता-अनित्यता की समस्या लेकर इन्होंने कहा—'किसी दोष का अनित्य होना अनुकरण के विषय और संदर्भ पर निर्भर रहता है। वही प्रयोग जो संदर्भ-विशेष में दोष है, प्रसंग-परिवर्तन से गुण हो जाता है। यह इस बात पर निर्भर है कि अनुकरण किसका किया

[1] हिन्दी अभिनवभारती—आचार्य विश्वेश्वर, पृ० १९२

[2] रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र—डॉ० निर्मला जैन, पृ० ३७५

जा रहा है।' भोजराज भी नाटक को अनुकरण मानते हैं। अलंकार-विवेचन में इन्होंने कहा है—"जिस प्रकार नाट्य में अनुकरण करते हुए प्रत्येक व्यक्ति की भाषा का अनुकरण किया जाता है, उसी प्रकार भाषण में प्रत्येक व्यक्ति की भाषण-शैली या पद्धति का अनुकरण किया जाता है और इसी को 'छाया' कहते हैं।

निष्कर्ष—काव्य-सृजन के अन्तर्गत अनुकरण (मीमेसिस) व अनुकीर्तन में यही साम्य-दृष्टिगत होता है कि दोनों एक निश्चित सीमा तक स्थूल-अनुकरण को महत्त्व देते हैं। विश्वनाथ ने अभिनय को ही अवस्था का अनुकरण कहा है। इधर अरस्तू के व्याख्याकार हम्फ़री हाउस स्थूल-अनुकरण की चर्चा करते हुए कहते हैं—"उन्होंने (अरस्तू) देखा कि नाटक में, अभिनय में हूबहू नकल (mimicry) का तत्त्व रहता है। अनुकरण का विषय क्रियाशील व्यक्ति हैं और कला का माध्यम भी क्रियाशील व्यक्ति हैं। वे इस बात को नजर अन्दाज न कर पाये…"[1] किन्तु भारतीय और पाश्चात्य दृष्टियों में स्थूल-अनुकरण के अतिरिक्त भी विचार किया है, पर काव्य को वे वस्तु-परक अवश्य मानते थे। 'चाहे वह अरस्तू द्वारा निरूपित यथार्थ जगत् का संभाव्य अथवा आदर्श रूप हो या अभिनव गुप्त द्वारा स्थापित अलौकिक, विलक्षण और साधारणीकृत वस्तु; सृजन की दृष्टि से अन्ततः ये सभी कवि-निरपेक्ष और वस्तुनिष्ठ सत्ताएँ ही हैं, जिन्हें कवि अपने काव्य में निबद्ध करता है।'[2]

दोनों सिद्धांतों में मूल अन्तर यही है कि 'अनुकीर्तन' में लौकिक प्रतीतियों से भिन्न उनके अलौकिक रूप का निरूपण हो जाता है, वह 'अनुकरण' में नहीं है।

### अरस्तू और त्रासदी :

स्वरूप—"त्रासदी किसी गम्भीर, स्वतः पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति (या प्रतिनिधान) है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न भिन्न भागों में भिन्न भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान रूप में न होकर कार्य-व्यापार रूप में होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।" (काव्य-शास्त्र—६)

[1] Aristotle's Poetics—Humphry House, p. 123

[2] रस-सिद्धान्त और सौंदर्यशास्त्र—डॉ० निर्मला जैन, पृ० ३७५

उपर्युक्त परिभाषा में मुख्य वाक्य है—'त्रासदी किसी···कार्य की अनुकृति है।' डोर्श के अनुवाद में 'अनुकृति' (imitation) शब्द के स्थान पर 'प्रतिनिधान' (Representation) शब्द मिलता है।'[1] किन्तु अधिकांश अनुवादों में 'अनुकृति' शब्द ही है। जॉन जोन्स ने अपने ग्रंथ 'ऑन अरिस्टोटल एंड ग्रीक ट्रेजडी' में त्रासदी किसी-कार्य की अनुकृति है—इसी परिभाषा की व्याख्या की है। उनके अनुसार त्रासदी का मूल मंत्र यही है। प्लेटो ने अपने ग्रंथों में 'अनुकरण का जो अर्थ लिया था, वह अरस्तू ने नहीं लिया, यह बात हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं।

त्रासदी 'कार्य' का अनुकरण करती है। कार्य का अर्थ कथानक नहीं है, अपितु वह रूप (Form) है, जो रचना से पूर्व नाटककारों के मन में नियोजित होता है। कथानक तो उसी कार्य की ही अनुकृति है। कला रूप-आकार की अनुकृति है और रूप-आकार जिसका अनुकरण त्रासद-कला करती है, वही कार्य है। अतः कार्य ही वह रूप-आकार है, जो वस्तु के रूप में ढलने से पूर्व कलाकार के मस्तिष्क में रहता है। इस प्रकार त्रासद-कला व कार्य तथा कार्य व वस्तु—इन्हीं का क्रमशः अनुकरण त्रासदी का विषय है।[2] त्रासदी जीवन की अनुकृति हुई, क्योंकि जीवन, कार्य-व्यापार का ही दूसरा नाम है।

तत्त्व—अरस्तू ने त्रासदी के छः तत्त्व बताये हैं, जो उसके सौष्ठव का निर्धारण करते हैं—

(१) कथावस्तु (२) चरित्र-चित्रण (३) पद-रचना (४) विचार-तत्त्व (५) दृश्य-विधान (६) गीत। अरस्तू के अनुसार इनमें से दो अनुकरण के माध्यम, एक विधि और तीन विषय हैं।

(१) कथावस्तु :—वस्तु त्रासदी की आत्मा है, यही पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इससे तात्पर्य है, घटनाओं की व्यवस्था से। इसमें घटनायें समग्र रूप में ही उपस्थित होनी चाहिए। समग्र रूप उसे कहते हैं, जिसमें आदि, मध्य और अन्त स्पष्ट हों। आदि वह है, जो किसी हेतु का परिणाम न हो, किन्तु उसके बाद स्वभावतः कुछ घटित हो। मध्य वह है, जो या तो स्वयं किसी घटना का अनुगमन करे या

---

1 Classical Literary Criticism—T. S. Dorsch, p. 38

2 On Aristotle and Greek Tragedy—John Jones, p. 24

कोई घटना उसका। अन्त वह है, जो स्वयं तो अनिवार्यतः या नियमतः किसी घटना का अनुगमन करे पर जिसका अनुगमन कोई न करे।

इस प्रकार पूर्णता, कथावस्तु की पहली विशेषता है। इसमें निश्चित विस्तार होना आवश्यक है, क्योंकि अरस्तू के शब्दों में ऐसी पूर्णता भी हो सकती है, जिसमें विस्तार का अभाव हो। वस्तु में निश्चित विस्तार से ही सुन्दरता आ सकती है, क्योंकि किसी भी सुन्दर वस्तु में, चाहे वह जीवधारी हो या अन्य कोई पदार्थ अंगों का व्यवस्थित अनुक्रम मात्र पर्याप्त नहीं है, अपितु उसका एक निश्चित आयाम भी आवश्यक है।

वस्तु की दूसरी विशेषता है एकान्विति। वस्तु को एक तथा सर्वांगपूर्ण कार्य का अनुकरण करना चाहिए और उसमें अंगों का संगठन ऐसा होना चाहिये, कि यदि एक अवयव को भी अपनी जगह से हिलायें तो सर्वांग ही छिन्न-भिन्न हो जाय। अतः इसमें एक ही कार्य धुरी-रूप में विद्यमान होना चाहिए। होमर के 'इलियड' व 'ओडेसी' एक ही कार्य व्यापार पर निर्मित हैं।

यहीं पर अरस्तू ने सम्भाव्यता पर विचार करते हुए इतिहासकार और कवि का अन्तर बताया है जिसका विवेचन ऊपर हो चुका है। वस्तु के लिये आवश्यक है कि घटनायें असम्भाव्य न हों और केवल घटित वस्तुओं का उल्लेख मात्र भी पर्याप्त नहीं है। कवि को पद्य की अपेक्षा वस्तु का रचयिता होना चाहिये क्योंकि 'कवि वह इसलिए है कि अनुकरण करता है और जिसका अनुकरण करता है वह है कार्य।'

वस्तु के भेद :—सरल और जटिल, यही दो भेद, वस्तु के हैं। कार्य यदि सरल है तो वस्तु सरल होगी और यदि जटिल है तो वस्तु भी जटिल होगी।

'सरल कथानक वह है जिसका कार्य-व्यापार एक और अविच्छिन्न हो, जिसमें स्थिति-विपर्यय (reversal) और अभिज्ञान (discovery) के बिना ही भाग्य-परिवर्तन हो जाता है।'

'जटिल-व्यापार वह है, जहां पर परिवर्तन, स्थिति-विपर्यय या अभिज्ञान या दोनों के द्वारा घटित होता है।'

वस्तु के अंग :—

(क) स्थिति विपर्यय (पेरीपेतइआ)—इस शब्द के विभिन्न अर्थ लगाये जाते हैं—कभी 'संकल्प-वैषम्य' (एटकिस), कभी भाग्य-

विपर्यय' (बुचर), कभी 'भाग्य-वैपम्य' (ल्यूकस) कभी 'घटना-वैषम्य' (पाट्स), किन्तु 'अरस्तू का आशय वस्तुतः ऐसे प्रसंग से है, जिसमें सर्वथा अप्रत्याशित रूप से, कर्त्ता की इच्छा के विरुद्ध प्रायः अनजाने स्थिति उलट जाती है। कथा-काव्य में कुतूहल की सृष्टि के लिए यह अत्यन्त उपयोगी साधन हैं।' जैसे ओइदिपूस (ईडियस) के पिता को किसी ज्योतिपी ने वताया कि उसकी मृत्यु पुत्र के हाथों होगी उसने ईडियस की हत्या की आज्ञा दी पर किसी गड़रिये ने उसे बचा लिया, और वाद में उसने पिता की हत्या करके माता से विवाह किया। नाटक में दूत से जव ईडियस को इस वात का पता चलता है तो स्थिति में प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है—ईडियस अपनी आँख फोड़ लेता है। भारतीय साहित्य भारतीय साहित्य में 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' में दुर्वासा-शाप, मुद्रिका लोप, इसके उदाहरण हैं।'[1]

(ख) अभिज्ञान (अनग्नोरिसिस)—वाईवाटर ने इसका अर्थ 'रहस्योद्घाटन' भी किया है। अरस्तू के अनुसार 'उसमें अज्ञान की ज्ञान में परिणति का भाव निहित है। इसके कारण उन लोगों के मन में तो प्रेम-भाव जागृत हो जाता है, जिनके सौभाग्य का वर्णन कवि को अभीष्ट रहता है और ऐसे लोगों के मन में, जिनके दुर्भाग्य का वर्णन अपेक्षित हो, घृणा उत्पन्न हो जाती है।' इसका उत्कृष्टम रूप यह है, जब वह स्थिति-विपर्यय के साथ घटित होता है जैसे ईडियस में। इसके अतिरिक्त भी अनेक रूप हैं।

(ग) यातना—इसके दृश्य में घातक या कष्टप्रद-व्यापार आते हैं, जैसे रंगमंच पर मृत्यु शारीरिक पीड़ा, घाव आदि।

ध्यान देने की वात है कि भारतीय काव्यशास्त्र में भरतमुनि द्वारा ऐसे दृश्य सर्वथा वर्जित किये गये थे।

वस्तु के आधार—अरस्तू ने इस ओर संकेत-मात्र ही किया है। दन्त कथाओं को वे त्रासदी का प्रमुख आधार मानते हैं, क्योंकि वे विश्वसनीय होती हैं। फिर भी यह आवश्यक नहीं कि परम्परागत दंतकथाओं को ग्रहण किया ही जाय। अन्थेडस (अगथौन) जैसी त्रासदियाँ काल्पनिक होते हुए भी, कम आनन्ददायक नहीं हैं। ऐतिहासिक-विपय को

[1] अरस्तू का काव्य-शास्त्र—डॉ० नगेंद्र, पृ० ७६–७७

लेना भी अनुचित नहीं है। अतः दंतकथाएँ, काल्पनिक व इतिहास मूलक घटनाएँ ही इसके मुख्य आधार हैं।

भारतीय 'वस्तु' भी प्रख्यात और उत्पाद्य मानी गई हैं। प्रख्यात में दंत व इतिहास की घटनाएं रहती हैं। अरस्तू भी 'प्रख्यात' को महत्त्व देते हैं।

आधिकारिक कथा के अतिरिक्त गौण-कथा की चर्चा भी अरस्तू ने की है। वे कहते हैं—'जहाँ तक कथावस्तु का प्रश्न है—चाहे वह ख्यात हो या उत्पाद्य, कवि को सबसे पहले एक सामान्य रूप-रेखा तैयार कर लेनी चाहिए और फिर उसमें उपाख्यानों का समावेश तथा विवरण-विस्तार करना चाहिए।' उपख्यानों का कार्य से सम्बद्ध होना आवश्यक है। ये छोटे छोटे होने चाहिये।

वस्तु के भाग (कार्यावस्थाएँ) :—इन्हें 'संवृति' (उलझन) तथा 'विकृति' (खोलना) कहते हैं। संवृत्ति वस्तु के उस भाग को कहा गया है, जिसका विस्तार कार्य-व्यापार के आरम्भ से उस प्रसंग तक होता है, जहाँ कथा, नायक के उत्कर्ष या उपकर्द की ओर मोड़ लेती है। विवृति का विस्तार, इस परिवर्तन के शुरू से कथा के अवसान तक रहता है।

त्रासदी का संगठन—प्रस्तावना, उपाख्यान, उपसंहार, और वृंदगान (पूर्व व उत्तर) सभी त्रासदियों में पाये जाते हैं।

(क) प्रस्तावना—यह त्रासदी का वह सम्पूर्ण भाग है, जो गायक-वृंद के पूर्वगान से पूर्व रहता है।

(ख) उपाख्यान—यह वह समग्र अंश है जो पूर्ण वृंदगीतों के बीच विद्यमान रहता है।

(ग) उपसंहार—इसके बाद कोई वृंदगान नहीं होता।

(घ) वृंदगान—इस से तात्पर्य 'अनेक गायकों के उस नृत्ययुक्त सामूहिक गान से है, जिसमें त्रासदी की घटनावली की प्रायः भावात्मक समीक्षा रहती है।' ये अनभिनीत प्रसंगों की सूचना देने का कार्य भी करते हैं।

भारतीय नाटकों में 'सूच्य' वस्तु तो रहती है, पर उनमें संगीतादि का विधान नहीं होता।

वस्तु का प्रभाव (लक्ष्य) :—'वस्तु का संगठन ऐसा होना चाहिए कि प्रेक्षण के बिना भी, कथा के श्रवणमात्र से ही हृदय भय से काँप जाये

और करुणार्द्र हो उठे।' अरस्तू यह भी कह चुके हैं कि–'त्रासदी···कार्य की अनुकृति का नाम है···जिसमें करुणा तथा भय के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।'

यहाँ 'विरेचन' शब्द को लेकर अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से उसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। उसे देखने से पूर्व 'करुणा' और 'भय' शब्दों को समझ लिया जाये।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि अरस्तू ने प्लेटो के उस सिद्धांत को नकारा कि कविता भावों को उद्वेलित कर व्यक्ति के जीवन में अशांति उत्पन्न करती है। अरस्तू ने अपने 'भाषण-शास्त्र' भाग दो में इस विषय पर विस्तार से विचार किया है।

मनोवेग (Emotion) के सम्बन्ध में अरस्तू के विचार हैं कि इनमें मनुष्यों के निर्णयों को प्रभावित करने की क्षमता रहती है और इनके साथ सुख या दुःख की अनुभूति संलग्न रहती है। अरस्तू ने करुणा और भय को ही प्रमुख मनोवेगों में स्थान दिया है। कवि को चाहिए कि वह करुणा और भय का भाव जगाने वाले व्यापारों का अनुकरण करे।

'करुणा तो किसी निर्दोष व्यक्ति की विपत्ति से ही जागृत होती है और भय समान पात्र की विपत्ति से।' (काव्यशास्त्र)

'करुणा एक प्रकार की पीड़ा है जो उस व्यक्ति के विनाशकारी व दुखद पाप के रूप में उपस्थित होती है जो इसका भागी नहीं है। वह पाप, जिसकी हमें या हमारे मित्रों के सम्मुख घटित होने की सम्भावना हो···' 'भय किसी भावी विनाशकारी या दुखद पाप का मानसिक चित्र के कारण होने वाली पीड़ा या परेशानी है।' भय के कारण के लिये कष्ट-प्रद या घातक होना आवश्यक है, क्योंकि अनिष्ट के अन्य प्रकार जैसे दुष्टता या मूर्खता की संभावना से हमें भय नहीं होता। (भाषण-शास्त्र)

इस प्रकार दोनों मनोवेगों में निकटता है। अरस्तू का कथन है कि जब वस्तु हमसे अधिक सम्बद्ध होती है तो करुणा, भय में परिवर्तित हो जाती है और पीड़ा हमारी अपनी बन जाती है। अतः वह करुणा जागृत ही नहीं होती, जहाँ भय का अवकाश नहीं रहता। सम-सुख-दुख-भागी व्यक्तियों के पीछे यही मनोविज्ञान कार्य करता है। जब अच्छा व्यक्ति कष्ट पाता है तो हम उसके दुःख-भय में भाग लेते हैं और यही करुणा है।

इसी प्रकार यदि हम अपने लिये भयभीत नहीं होते तो हम दूसरों के भय में हिस्सा नहीं बंटा सकते। उग्र स्वभाव के लोगों में इसीलिये करुणा का भाव पहचानने की क्षमता नहीं होती। इसके विपरीत यदि हम स्वयं भीषण कष्ट की स्थिति में हैं, तब भी हम करुणा-भाव को नहीं पहचान पायेंगे, क्योंकि हम अपने ही भय से आक्रांत रहेंगे और दूसरों के साझीदार नहीं बन पायेंगे। अतः न्यायशास्त्र के अनुसार दोनों में समन्वय होना आवश्यक है, ताकि अच्छाई से आनन्द मिले और बुराई से पीड़ा और त्रासद-करुणा केवल अच्छाई के लिये अनुभूत की जाती है, पीड़ित व्यक्ति के प्रति घृणा नहीं आदर का भाव रखते हैं। अरस्तू का मत था कि करुणा और भय पीड़ा के ही अंग है, अतः पीड़ा से छुटकारा पाने के लिये मनोवेगों से ही छुटकारा पाना अत्यावश्यक है।[1]

विरेचन (केथारसिस) शब्द चिकित्सा-शास्त्र का है, जिसका अर्थ है : रेचक औषधि के द्वारा शारीरिक विकारों—प्रायः उदर के विकारों–की शुद्धि। किंतु यह अर्थ लाक्षणिक हो गया और विभिन्न विद्वानों ने अपने ढंग से इस शब्द की व्याख्या की।

प्रो० गिल्बर्ट मरे ने इस शब्द की धर्मपरक व्याख्या करते हुए त्रासदी का सम्बंध, शुद्धि के देवता दिओन्युसस से जोड़ा। त्रासदी का प्रवेश भी किसी महामारी के निवारणार्थ हुआ।

यह मत अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। टी० एस० इलियट ने लिखा है—

"अरस्तू नाटक और धर्म के सम्बन्ध में चिंतित नहीं थे...और न ही उन्होंने मिस हैरिसन या मि. कार्नफोर्ड के ग्रंथ...या प्रो० मरे के अनुवाद पढ़े थे।"[2]

दारनेज़ ने बताया कि मनोवेगों का शमन बहुत आवश्यक है और त्रासदी विकारों का शमन करके व्यक्ति को मानसिक शांति प्रदान करती है। मनोविज्ञान भी इस तथ्य की पुष्टि करता है कि उद्वेगों का समंजन नार्मल व्यक्ति के लिये अत्यावश्यक है। यह नीतिपरक अर्थ बहुत दिनों तक लोगों को मान्य रहा।

---

[1] Aristotle's Poetics—Humphry House, p. 101–2

[2] Selected Essays–T. S. Eliot, p. 32

प्रो० बुचर ने कहा कि 'त्रासदी-का कर्तव्य-कर्म केवल करुणा या त्रास के लिये अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नहीं है, अपितु इन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक-परितोष प्रदान करना है, इनको कला के माध्यम में ढाल कर परिष्कृत तथा स्पष्ट करना है।

तो यह कहना कठिन है कि 'विरेचन' शब्द चिकित्सा-विज्ञान का द्योतक है, नीतिशास्त्र का या साहित्यशास्त्र का ? हम्फरी हाउस का मत है कि इस के सामान्य-सिद्धांत, भौतिक दृष्टि से चिकित्सा-विज्ञान से मेल खाते हैं और भावात्मक दृष्टि से नीति व साहित्य से। त्रासदी में से निश्चित रूप से ये भावात्मक स्थितियों से सम्बद्ध हैं। अरस्तू ने 'राजनीति शास्त्र' में लिखा था—'धार्मिक रागों के प्रभाव से—ऐसे रागों के प्रभाव से, जो रहस्यात्मक आवेश को उद्बुद्ध करते हैं—वे (उत्तेजित व्यक्ति) शांत हो जाते हैं, मानो उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो। प्रत्येक भावुक व्यक्ति की इस विधि से आत्मा विशद और प्रसन्न हो जाती है।' उन्हें विरेचन राग से निर्दोष आनंद मिलता है। अतः करुणा और भय से विरेचन होने पर भी ऐसा आनंद मिलता है। त्रासदी का काम यही है कि वह मनोवेगों को उत्तेजित कर उन्हें सही मार्ग की ओर ले जाती है, नाटक के द्वारा उनका परिष्कार कर उनका शमन करती है और जब नाटक समाप्त हो जाता है तो व्यक्ति इस दृष्टि से अधिक 'प्रशिक्षित' व आनंददायक स्थिति में होता है। मिल्टन ने 'सैम्सन एगोनिस्टेस' नाटक में इस प्रक्रिया का विवेचन करते हुए लिखा है कि इन्हें उचित नियंत्रण में, ठीक पैमाने में रखने पर भावनाओं का सही अनुकरण आनंद प्रदान करता है। विरेचन का परिणाम भावात्मक संतुलन और समन्वय है और इसे भावात्मक स्वास्थ्य की स्थिति भी कहा जा सकता है।[1]

बुचर ने भी इस समस्या पर विचार किया है। उनके अनुसार करुणा और भय की अनुभूतियां त्रासदी में वैयक्तिकता से परे हटा कर उपस्थित होती है। इसके साथ ही कलात्मकता उसमें समंजन का भाव ला देती है जिससे आनन्द की प्राप्ति होती है।

रिचर्ड्स ने इसी धारणा को लेकर कहा कि मन में विरोधी-मनोविकारों का समंजन होता है, जिसके कारण मन उस निर्वैयक्तिकता को

[1] Aristotle's Poetics—Humphry House, p. 109–10

स्थिति में पहुंच जाता है, जिसमें केवल आनंद की उपलब्धि होती है। इसलिये करुणा व भय, लौकिक रूप में भयावह होते हुए भी त्रासदी में सुखद स्थितियाँ बन जाती हैं।

## विरेचन और भारतीयमत :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष दर्शन हमें पीड़ा पहुँचा सकता है, उन्हीं का अनुकरण हमें आनंद प्रदान कर सकता है। पाश्चात्य विद्वानों का यही मत है, भारतीय मत भी 'करुण के आस्वाद' को आनंदात्मक ही मानता है।

करुणा और भय दोनों ही पीड़ा जन्म अनुभूतियाँ हैं। भरतमुनि ने करुणा रस के स्थायी भाव शोक की परिभाषा इस प्रकार दी है— 'शोक नाम का भाव इष्ट-वियोग, विभव-नाश, वध, कैद तथा दुखानुभूति आदि विभावों (कारणों) से उत्पन्न होता है।' (नाट्य-शास्त्र)। विश्वनाथ के अनुसार 'इष्ट के नाशादि से उत्पन्न चित के क्लेश का नाम शोक है।'

इन लक्षणों में करुणा तो है ही, किन्तु वध, बंधन आदि के कारण भय का भी सद्भाव है, अतः करुणरस के परिपाक में शोक स्थायीभाव के अन्तर्गत भारतीय काव्य-शास्त्र भी-करुणा के साथ त्रास के अस्तित्व को स्वीकार करता है किन्तु अरस्तू का त्रासद प्रभाव करुण व भय दोनों को लेकर चलता है, जबकि भारतीय काव्य शास्त्र में करुणा और भयानक पृथक रस हैं और दोनों के संयोग से किसी मिश्र प्रभाव की उद्बुद्धि नहीं होती। हमारे यहाँ बिना भय के शोक भाव घटित हो सकता है किन्तु अरस्तू 'त्रासहीन करुण प्रसंग को आदर्श त्रासद स्थिति नहीं मानते।'[1]

करुण रस के सुखात्मक आस्वादन पर विरेचन की भाँति हमारे यहाँ भी विचार हुआ है। यहाँ केवल स्फुट विचार ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं। 'दुखवादी' आचार्यों की अपेक्षा करुण को सुखात्मक मानने वाले आचार्य अधिक हैं।

भरतमुनि ने कहा था कि भोज्य रस सभी प्रकार के होते हैं और भोक्ता को आनंद प्रदान करते है। 'रस' शब्द ही आनंदमय है। भट्टनायक के अनुसार काव्य में प्रत्येक भाव 'साधारणीकृत' होकर आनन्द प्रदान

---

[1] अरस्तू का काव्य-शास्त्र—डा० नगेंद्र, पृ० ६४

करता है, इससे व्यक्ति लौकिक सम्बन्धों से ऊपर उठ जाता है। अभिनव गुप्त ने रसों को उभयपक्षी माना है, किन्तु उनके सुखात्मक स्वरूप को ही परवर्ती आचार्यों ने ग्रहण किया। धनिक का मत है कि काव्य के करुण रस को लौकिक करुण के समान दुःखप्रधान नहीं मानना चाहिए। आँसू तो लौकिक वैकल्य के समान काव्य में भी वैकल्य उत्पन्न होने से गिरते हैं, इसमें कोई दोष नहीं। आचार्य विश्वनाथ ने भी स्पष्ट रूप से कहा—"करुणादि रसों में भी परम सुख की प्राप्ति होती है···और यदि उनमें दुःख का अनुभव हो तो कोई भी उसकी ओर प्रवृत्त नहीं होगा तथा रामायणादि महाकाव्य दुःख के कारण बन जावेंगे।"[1] रामचन्द्र गुणचन्द्र का कथन है कि दुखात्मक रसों में जो चमत्कार लक्षित होता है वह नट के अभिनय-कौशल के कारण। मम्मट का विचार है कि रंगमंच पर होने वाले अभिनय में अपने-पराये के भावों से हट कर प्रेक्षक आनंद पाता है। जगन्नाथ ने 'रसो वै. सः' कहकर काव्य के आनन्द रूप की ओर संकेत किया है।

साहित्य के अतिरिक्त भारतीय दर्शन भी करुण को आनन्दमय मानता है। शारदातनय ने शैव दर्शन के आधार पर बताया है कि यद्यपि यह संसार दुखमोहादि से पीड़ित है, तथापि जीवात्मा, राग, विद्या व कला द्वारा इसका भोगकरती है। ब्रैडले का विचार है कि काव्य की दुनिया भी अपने आप में स्वतन्त्र, स्वतः पूर्ण व स्वायत है।[2] इसके अतिरिक्त बौद्धदर्शन ने दुःख को प्रथम आर्य-सत्य घोषित किया है। 'सत्य की उपलब्धियों में जो आनंद निहित रहता है, वही आनंद जीवन में करुण का अंगित्व प्रतिपादन करने वाले काव्य से प्राप्त हो सकता है।'

इन तथ्यों के अतिरिक्त कलात्मक-आनन्द की ओर संकेत दोनों काव्य शास्त्रों में मिलता है। कलात्मक सृष्टि द्वारा अन्तर्वृत्तियों का समंजन होता है और साधारणीकरण की स्थिति में पहुँच कर सब 'समरस' हो जाते हैं। काव्य के समस्त अवयव मिलकर इस उपलब्धि में सहायक होते हैं।

**विरेचन सिद्धांत की सीमाएँ**—रेचन-सिद्धांत के अनुसार मनोवेगों का शमन होता है, किन्तु आधुनिक धारणा यह है कि त्रासदी द्वारा शमन नहीं, वर्द्धन होना चाहिए। वह शामक नहीं, अपितु उत्तेजक है। लूकस

---

[1] हिन्दी अभिनव भारती—आचार्य विश्वेश्वर, पृ० २२५

[2] अरस्तू का काव्य-शास्त्र—डा० नगेंद्र, पृ० ९८

ने अपने 'ट्रेजेड़ी' ग्रंथ में स्पष्ट किया है कि भूमध्यसागर के तट पर निवास करने वाले, भावप्रवण यूनानियों को मनोवेगों के शमन की जरूरत रही होगी किन्तु ठंडे भू भाग वाले अंग्रेजों को तो उत्तेजना की आवश्यकता पड़ती है। उन्होंने यह भी कहा कि त्रासदी, न तो मानसिक रोगों की कोई दवा है और रंगशाला कोई अस्पताल है। १८वीं शती के सैंत–एवरेमाण्ड ने इस सिद्धांत की इस आधार पर आलोचना की, कि त्रासदी शांति की अपेक्षा अशांति ही मिलती है क्योंकि प्रेक्षकों को पहले उत्तेजित कर फिर शांति प्रदान करने की प्रक्रिया बड़ी विचित्र है। एवरेमान्ड ने इस सिद्धांत की निस्सारता सिद्ध करते हुए कहा कि इसे न तो स्वयं अरस्तू ही समझ सके और न कोई और इसे आजतक समझ पाया।[1]

सिद्धांत का महत्त्व :—फ्रायड जुंग आदि मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि काव्य-कला, उद्दाम वासनाओं के रेचन का माध्यम हैं। 'विश्व-साहित्य में सौंदर्य-वर्णन और शृंगार की बहुलता इस बात का प्रमाण है कि कला और साहित्य के माध्यम से आपत्तिजनक रीति से हम काम-वासना का प्रकाशन कर सकते हैं' किन्तु रेचन सिद्धांत साक्षी है कि सौंदर्य-काव्य और शृंगार-काव्य के अध्ययन और रसास्वादन से मनुष्य की कामवासना परिष्कृत होती है और उसका वेग भी कम हो जाता है। कविता से रेचन होता है और जीवनी शक्ति की अबाध गति एक निश्चित मार्ग पर अग्रसर होती है।[2]

(२) चरित्र-चित्रण :—अरस्तू के शब्दों में, 'चारित्र्य वह है, जिसके बल पर हम अभिकर्ताओं में कतिपय गुणों का आरोप करते हैं' या उसे कहते हैं जो किसी व्यक्ति की रुचि-विरुचि का प्रदर्शन करता हुआ नैतिक प्रयोजन को व्यक्त करे। इसी बात को ध्यान में रख कर बुचर ने टिप्पणी की है कि इसका अर्थ व्यक्ति के गुण-दोष की अभिव्यक्ति के साथ-साथ व्यक्तित्व की सरल व सामान्य भेदक विशेषताएँ भी उसमें अवश्य हैं।[3]

---

1 English Literary Criticism : 17th & 18th Centuries–Atkins, p. 24

२ साहित्य-सिद्धांत—डा० राम अवध द्विवेदी, पृ० ३१

3 Aristotle's Theory of Poetry and Fine Arts—Bucher, p. 316

अरस्तू ने पात्रों की सामान्य विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। पहली बात यह है कि पात्र भद्र होना चाहिये। 'यदि उद्देश्य भद्र है तो पात्र भी भद्र होगा' ऐसी उनकी मान्यता है। 'दूसरी बात ध्यान रखने की है औचित्य। पुरुष में एक विशेष प्रकार का शौर्य होता है, परन्तु नारी-चरित्र में शौर्य या नैतिक-विवेक-शून्य चातुर्य का समावेश अनुचित होगा।' इस प्रकार अरस्तू स्त्री-पुरुष दोनों की प्रकृत्यानुसार चरित्र-चित्रण करना पसन्द करते थे। तीसरी मान्यता यह है कि चरित्र जीवन के अनुरूप हो। इसका अर्थ यही लिया गया कि पात्र वास्तविक जीवन के अनुकूल ही चित्रित किये जायें। चौथी बात यह है कि चरित्र में एकरूपता होनी चाहिये, हो सकता है कि मूल अनुकार्य के चरित्र में ही अनेक रूपता हो, पर फिर भी यह अनेक रूपता ही एक रूप होनी चाहिये। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार, अरस्तू यहाँ न चारित्रिक विचित्रता का तिरस्कार करते हैं और न परिवर्तन की सम्भावना का निषेध, बस कवि की दृष्टि विवेक सम्मत होनी चाहिये।[1]

इन चार विशेषताओं के अतिरिक्त अरस्तू ने विभिन्न स्थलों पर आदर्श चरित्रों की विशेषताएँ बतायी हैं। उन्होंने बताया कि चरित्र-चित्रण में एक तो संभाव्य को ही ध्यान में रखना चाहिये और दूसरा ऐसे आदर्श पात्रों का अंकन करना चाहिये 'जो जीवन के अनुरूप होने के साथ ही उससे कहीं अधिक सुन्दर' भी हों। इस प्रकार वे प्रकारांतर से पात्रों की वैयक्तिकता की ओर संकेत करते हैं।

त्रासदी के प्रधान पात्र-नायक की चर्चा करते हुए अरस्तू ने कहा कि वह व्यक्ति होता है, "जो अत्यन्त सच्चरित्र और न्याय परायण तो नहीं है, फिर भी जो अपने दुर्गुण या पाप के कारण नहीं, वरन् किसी कमजोरी या भूल के कारण दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है। यह व्यक्ति अत्यन्त विख्यात एवं समृद्ध होना चाहिए, जैसे—ओइदिपूस, थ्युएस्तेस अथवा ऐसा ही कोई अन्य यशस्वी कुलीन पुरुष।" इस प्रकार अरस्तू 'सहज मानव-भावनाओं से युक्त', कुलीन, वैभवशाली-व्यक्ति को ही नायकत्व के लिये उपयुक्त मानते हैं। आदर्श नायक वह है, जो किसी मानवोचित दुर्बलता, निर्णय सम्बन्धी भूल आदि के कारण दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है।

[1] अरस्तू का काव्य-शास्त्र—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १११

(३) विचार-तत्त्व :—यह तत्त्व वहाँ विद्यमान होता है, जहाँ 'किसी सामान्य सत्य की व्यंजक सूक्ति का वर्णन होता है।' अरस्तू ने इसके उप-विभागों में करुणा, त्रास, प्रमाण, प्रतिवादादि को लिया है। इस प्रकार तत्त्व में बुद्धि-पक्ष के साथ भाव-पक्ष को भी स्थान मिल जाता है।

भरत मुनि ने नाटकों के क्षेत्र व प्रयोजन के अन्तर्गत, जिस ज्ञान, बुद्धि-विवर्धन व लोकोपदेश की चर्चा की है, वे बुद्धि-तत्त्व के अन्तर्गत ही आते हैं। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—'विधान-रूप में हमारे यहाँ बुद्धितत्त्व को साध्य न मानकर रस-परिपाक का साधन-मात्र माना गया है और उसी के अविकृत रखा गया है।'

(४) पद-रचना :—इसका अर्थ है 'शब्दों द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति।' अरस्तू ने लिखा है कि त्रासदी का माध्यम अलंकृत भाषा (जिसमें लय, सामंजस्य और गीत हों) होती है। त्रासदी की भाषा समृद्ध और उदात्त हो व वागाडम्बर से मुक्त हो।

(५) गीत :—इसे भी अभिन्न अङ्ग माना गया है।

(६) दृश्य-विधान :—इसे त्रासदी के मूल प्रभाव के लिए आवश्यक नहीं माना गया, क्योंकि इसका आधार रंगमंच के साधन हैं, जो कवि की अपेक्षा मंच-शिल्पी की कला से अधिक सम्बद्ध है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में त्रासदी का अभाव मिलता है, यद्यपि त्रासद-स्थितियों का अभाव नहीं है। भास के नाटक, 'मृच्छकटिकं' 'शाकुन्तलम्' आदि इसके उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त भरत मुनि ने 'करुण' के जो तत्त्व बताये हैं, उनमें त्रासदी के सभी उपकरण हैं। भारतीय रंगमंच का सम्बन्ध शैव मत के 'आनन्दवाद' से रहा है, अतः 'नाटक का प्राण-तत्त्व रस माना गया है, जिसमें दुःख का एकान्त अभाव है···भारतीय काव्य में त्रास और करुणा की न्यूनता नहीं है—रामायण से अधिक करुणा और महाभारत से अधिक त्रास अन्यत्र दुर्लभ है, परन्तु नाटक में इनको प्रोत्साहन नहीं मिला।'[१]

साथ ही हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में तो नाटक का सांगोपांग विवेचन है, अरस्तू के

[१] अरस्तू का काव्य शास्त्र, पृ० १२३

'काव्य शास्त्र' में उसके एक ही प्रकार–त्रासदी का विस्तृत विवेचन है कामदी पर तो बहुत कम लिखा गया है। अरस्तू की अधूरी पुस्तक ही यूरोप के आलोचकों का कण्ठहार बनी हुई है, जबकि नाटक सम्बन्धी विश्वकोष 'नाट्यशास्त्र', जिसमें रंगमंच, अभिनय, रस, छंद, अलंकार, वेश-भूषा, संगीत, नृत्य, भाषा आदि सभी कुछ उपलब्ध है, फिर भी उसको यथेष्ट महत्त्व नहीं मिला है।[1]

उपसंहार :—पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अरस्तू का वही स्थान है, जो भारतीय-काव्यशास्त्र में भरत मुनि का है। इस प्रकार अरस्तू ने सर्वप्रथम सृजनात्मक साहित्य के रूप में काव्य का विवेचन कर उसे ललित कलाओं के समकक्ष रखा है और उनकी सृजनात्मक शक्ति को मानव की सहज वृति-अनुकरण के साथ जोड़ा। उन्होंने सृजनात्मक साहित्य की विशिष्टताओं पर प्रकाश डालते हुए उसकी सार्वभौमिकता व आदर्शीकरण की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। सामान्य साहित्य व सृजनात्मक साहित्य में अन्तर करते हुए दोनों का क्रमशः वैज्ञानिक व कलात्मक पद्धतियों से मूल्यांकन किया।[2] साहित्य की अनु-पातिकता, संतुलन, आंगिक अन्विति आदि पर प्रकाश डालकर उन्होंने काव्यात्मक प्रतिभा का उचित स्थान प्रदान किया और 'विरेचन' के माध्यम से उन्होंने स्पष्ट किया कि सृजनात्मक साहित्य आत्मा का उन्नयन ही करता है।

'विरेचन' सिद्धान्त के अन्तर्गत अरस्तू ने मन के विकारों के उचित समंजन की ओर संकेत किया है। रिचर्डस ने 'अन्तर्वृत्तियों के समंजन' का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, वह अरस्तू के सिद्धान्त पर आधृत है।

अरस्तू का 'काव्य-शास्त्र' पाश्चात्य साहित्य-विज्ञान में प्रवेश पाने का प्रथम महत्त्वपूर्ण द्वार है। अनुगमनात्मक प्रणाली पर आधारित अरस्तू का अध्ययन-मनन, ऐतिहासिक घटना होने के साथ-साथ तत्कालीन

---

1 'The Natya Sastra, in 36 Chapters is more complete than the work of Aristotle'—Dr. Raghvan. उद्धृत 'नाट्यशास्त्र'—प्रो० भोलानाथ शर्मा, पृ० ३

2 Judgment in Literature—Basil Worsfold, p. 28

और परवर्ती साहित्यकारों की रचना-प्रक्रिया समझने का प्रेरणा-स्रोत भी है। हम्फरी हाउस ने बताया है कि मध्ययुगीन और आधुनिक साहित्य-सिद्धान्त व विधाएँ 'काव्य-शास्त्र' पर आधारित हैं। अरस्तू ने घोषणा की कि कला, जीवन की कल्याण-साधना में बाधक न होकर भी मूलतः सौंदर्य-साधना में ही अनुरत रहती है—उसकी सिद्धि ही आनन्द है। काव्य-शास्त्र के इतिहास में उनकी यह स्थापना काव्य और कला की स्वतन्त्रता का घोषणा-पत्र था।[१] □

[१] पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा—सं० डॉ० सिन्हा, पृ० २६३

# संदर्भ-ग्रन्थ

## ( क ) हिन्दी-ग्रन्थ


१. अरस्तू का काव्यशास्त्र —डॉ० नगेंद्र

२. आधुनिक साहित्य —आचार्य नंददुलारे वाजपेयी

३. आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छंद-धारा —डॉ० त्रिभुवन सिंह

४. आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद —डॉ० चंद्रकला

५. आधुनिक हिन्दी काव्य में यथार्थवाद —डॉ० परशुराम शुक्ल

६. आलोचना : इतिहास तथा सिद्धांत डॉ० एस. पी. खत्री

७. काव्य में अभिव्यंजनावाद —श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

८. काव्य-शास्त्र —सं० डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

९. घनानंद और स्वच्छंद काव्य-धारा —डॉ मनोहरलाल गौड़

१०. चिंतन के क्षण— —डॉ० विजयेंद्र स्नातक

११. चिंतामणि भाग २ —आचार्य रामचंद्र शुक्ल

१२. छायावाद : विश्लेषण और मूल्यांकन —प्रो० दीनानाथ 'शरण'

१३. जायसी की विम्ब-योजना —डॉ० सुधा सक्सेना

१४. नाट्यशास्त्र —प्रो० भोलानाथ शर्मा

१५. प्लेटो के काव्य-सिद्धांत —डॉ० निर्मला जैन

१६. पश्चिमी आलोचना-शास्त्र —डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

१७. पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा —सं. डॉ. सावित्री सिन्हा

१८. पाश्चात्य काव्य शास्त्र के सिद्धांत —डॉ० शांतिस्वरूप

१९. पाश्चात्य काव्य शास्त्र:सिद्धांत और वाद—सं. प्रो. राजकुमार कोहली

२०. पाश्चात्य समीक्षा की रूप-रेखा —डॉ० प्रतापनारायण टंडन

२१. पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत —श्री लीलाधर गुप्त

२२. फ्रेंच साहित्य का इतिहास —श्री भूपेंद्रनाथ सान्याल

२३. रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र —डॉ० निर्मला जैन

२४. रोमांटिक साहित्य-शास्त्र —डॉ० देवराज उपाध्याय

२५. वक्रोक्ति और अभिव्यंजना —श्री रामनरेश वर्मा
२६. बृहत् साहित्यिक निबंध —डॉ० त्रिपाठी एवं डॉ० गुप्त
२७. हिन्दी अभिनव भारती —सं० आचार्य विश्वेश्वर
२८. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद —डॉ० त्रिभुवन सिंह
२९. हिन्दी काव्यालंकार सूत्र —भूमिका, डॉ० नगेंद्र
३०. हिन्दी का समसामायिक साहित्य —आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
३१. हिन्दी के स्वच्छंदतावादी उपन्यास —डॉ० कमल जौहरी
३२. हिन्दी नव्य समीक्षा —डॉ० कृष्ण वल्लभ जोशी
३३. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित —आचार्य विश्वेश्वर
३४. हिन्दी साहित्य —डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी
३५. हिन्दी साहित्य और विभिन्नवाद —श्री रामजीलाल वर्धौतिया
३६. हिन्दी साहित्य का इतिहास —आचार्य शुक्ल
३७. हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों के प्रयोग —डॉ० शंकरदेव अवतरे
३८. हिन्दी साहित्य में विविधवाद —डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल
३९. श्रीधर पाठक और हिन्दी का पूर्व-स्वच्छंदतावादी काव्य —डॉ० रामचन्द्र मिश्र
४०. समीक्षक प्रवर श्रीरामचन्द्र शुक्ल —श्री गिरिजाशंकर 'गिरीश'
४१. समीक्षा के मान, प्रथम खण्ड —डॉ० प्रतापनारायण
४२. समीक्षा दर्शन, भाग २ —प्रो० रामलाल सिंह
४३. समीक्षाशास्त्र —पं० सीताराम चतुर्वेदी
४४. साहित्य की आत्मा —डॉ० गणपतिचंद्र गुप्त
४५. साहित्य सिद्धांत —डॉ० रामअवध द्विवेदी
४६. सौंदर्य शास्त्र के तत्व —डॉ० कुमार विमल

कोश

१. हिन्दी साहित्य कोष —सं० डॉ० धीरेंद्र वर्मा
२. मानविकी पारिभाषिक कोश—साहित्य खंड —सं० डॉ० नगेंद्र

पत्र-पत्रिकाएँ

१. प्रतीक—जनवरी' ५२
२. आलोचना अक्टूबर' ५३
३. आलोचना, अप्रेल' ५६